बौद्धधर्म

उत्पत्ति और विकास

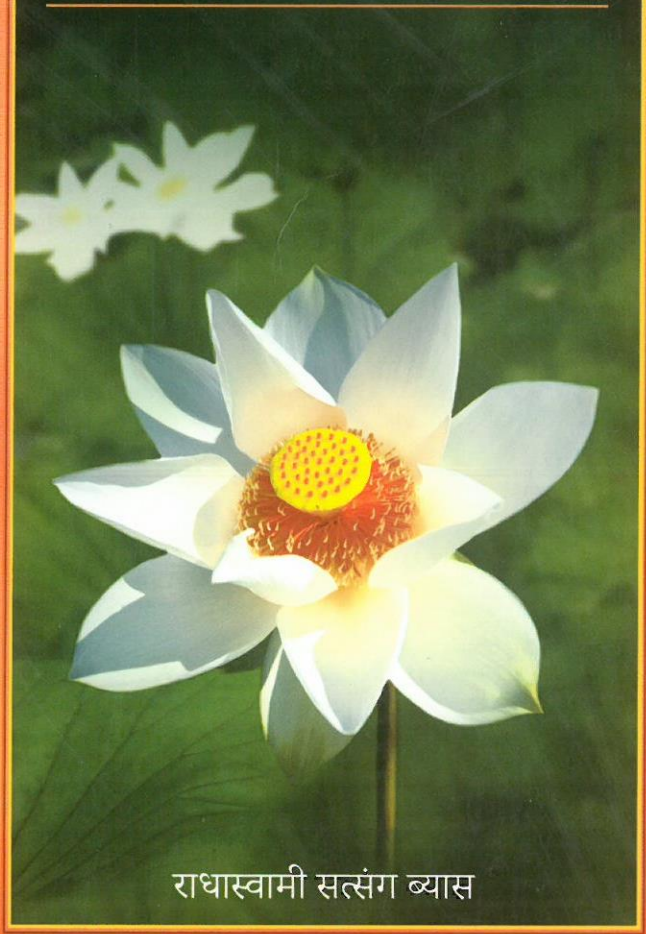

राधास्वामी सत्संग ब्यास

बौद्धधर्म

उत्पत्ति और विकास

के. एन. उपाध्याय

राधास्वामी सत्संग ब्यास

श्रद्धासुमन अर्पित करता हूँ बुद्ध को
जिनकी तेजस्विता अकल्पनीय है,
जिनका चित्त रागरहित है और जिन्होंने अपनी करुणा से
उस धर्म का उपदेश दिया है जो अकथनीय है।

नागार्जुन[1]

ॐ अन्नपूर्णा ®
Charitable Trust
WZ-5A/1, Ram Nagar,
Choukhandi Chowk,
New Delhi-110018

विषय सूची

प्राक्कथन 11
लेखक की ओर से 13

एक
भूमिका 17

दो
महात्मा बुद्ध का जीवन: एक प्रेरणा 29

तीन
महात्मा बुद्ध और त्रिकाय का सिद्धान्त 90
बुद्ध के त्रिविध रूप 91
इतिहास प्रसिद्ध बुद्ध का महत्त्व 100
बुद्ध की व्यावहारिकता 104

चार
मनुष्य-जीवन 106
मनुष्य-जीवन की दुर्लभता 106
सब कुछ मनुष्य-शरीर के ही भीतर 111
मनुष्य-जीवन की अनित्यता और नश्वरता 115
मनुष्य-जीवन की सार्थकता 119
मनुष्य-जीवन की निरर्थकता 125

पाँच

संसार की अनित्यता 131

इस दृश्य संसार के तीन लक्षण 131

अनित्यता 132

दु:ख 135

अनात्मता 140

छः

आत्मा और परमात्मा के प्रति बौद्ध दृष्टिकोण 149

आत्मा के प्रति दृष्टिकोण 149

मनुष्य के व्यक्तित्व के पाँच उपादान स्कन्ध 151

आत्मा और आत्मभाव (अत्ता) में अन्तर 153

जीव रूप में आत्मा 158

आत्मा और निर्वाण 161

परमात्मा के प्रति बौद्ध दृष्टिकोण 164

बौद्धधर्म तथा इसके समकालीन साहित्य में परमात्मा का स्वरूप 165

कार्य-कारण का सिद्धान्त 173

परम तत्त्व तथा ब्रह्मन् 177

क्या परमात्मा का साकार रूप है? 186

सात

प्रज्ञावान् गुरु 193

बौद्धधर्म का दृष्टिकोण 193

बुद्ध की शरण में जाना 202

गुरु की अनिवार्यता 204

जीवित गुरु की आवश्यकता 212

संसार में महात्माओं का सदैव विद्यमान होना 217

जीवित गुरुओं की अटूट शृंखला 220

गुरु का दायित्व 226

शिष्य का दृष्टिकोण 229

शिष्य का कर्त्तव्य 235

पूर्ण गुरु की खोज में विवेक की आवश्यकता 247

श्रद्धा और भक्ति 257

आठ

निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग 271

दृष्टिकोण और अभ्यास विधियाँ 271

त्रिरत्न 272

बोधिचित्त 278

अष्टांगिक-मार्ग के प्रमुख अभ्यास 280

पंचशील अथवा पंच संयम 283

जीवन के प्रति समादर तथा शाकाहार 288

मन पर नियन्त्रण 297

अनासक्त-भाव 301

आन्तरिक अभ्यास – जीते-जी मरना 304

नौ

शब्द तथा प्रकाश के आन्तरिक अनुभव 316

ध्वनि और प्रकाश ही सब कुछ है 317

सम्बोधि: प्रकाश और ध्वनि का एक अनुभव 320

बुद्ध की अलौकिक वाणी 323

बुद्ध के अलौकिक स्वरूप की अनुभूति 327

आन्तरिक अभ्यास में प्रकाश तथा ध्वनि के अनुभव 330

दस

हठयोग, कर्मकाण्ड और जाति व्यवस्था की निस्सारता 343

हठयोग और कर्मकाण्ड की निस्सारता 343

जाति-भेद की निस्सारता 354

उपसंहार *360*

1

भूमिका

वर्तमान समय में बौद्धधर्म जिस रूप में प्रचलित है, वह परम्परा से चला आ रहा एक ऐसा मत है जिसके अनेक पक्ष हैं और जिसे विश्व भर में लाखों लोगों ने अलग-अलग रूप में अपनाया है। बौद्धधर्म की विभिन्न शाखाएँ और अभ्यास के तौर तरीक़े महात्मा बुद्ध की मौखिक शिक्षा पर आधारित हैं। उनका असली नाम सिद्धार्थ गौतम (पालि: गोतम) था। निर्वाण प्राप्ति के बाद वे बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'बुद्ध' अर्थात् वह जिसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है या जो प्रबुद्ध है। इस प्रकार 'बुद्ध' एक ऐसा सम्मानसूचक विशेषण या उपाधि है जिससे मन में श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है। चूँकि उनके पिता राजा शुद्धोधन शाक्य वंश से थे, इसलिए महात्मा बुद्ध को शाक्यमुनि भी कहा जाता है, यानी शाक्य-वंश के महात्मा। बहुत-से धर्मग्रन्थों में उन्हें तथागत भी कहा गया है जिसका अर्थ है, वह 'जो पार हो गया है' या जो आवागमन के चक्र से ऊपर उठ गया है।

बौद्धधर्म का आरम्भ भारत में छठी शताब्दी ईसा पूर्व में हुआ। इसके बाद धीरे-धीरे यह कई शाखाओं में बँट गया। यह धर्म भारत में लगभग पन्द्रह सौ वर्षों तक फलता-फूलता रहा और फिर यहाँ से दूसरे कई देशों में फैल गया। प्रथम शताब्दी ईसवी तक, महात्मा बुद्ध के उपदेश

एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक रूप से पहुँचाए जाते रहे और उसके बाद बौद्धधर्म की विभिन्न शाखाओं ने अपने-अपने धर्मग्रन्थों को लिखित रूप दिया। इसके तीन प्रमुख ग्रन्थों को पालि भाषा में 'तिपिटक' (संस्कृत: 'त्रिपिटक') कहा जाता है जिसका अर्थ है तीन पिटक या पिटारियाँ। पालि भाषा मूल भाषाओं में से एक है जिसमें ये उपदेश सुरक्षित हैं (अन्य भाषाएँ हैं, चीनी और तिब्बती)। पालि भाषा बुद्ध द्वारा बोली जानेवाली प्राचीन मागधी भाषा पर आधारित है। इन पिटकों को बौद्धधर्म के आरम्भिक धर्मग्रन्थ* माना जाता है जिनमें *सुत्त पिटक* (संस्कृत: *सूत्र पिटक*), *विनय पिटक* और *अभिधम्म पिटक* (संस्कृत: *अभिधर्म पिटक*) शामिल हैं। *सुत्त पिटक* में महात्मा बुद्ध के प्रवचन और संवाद संकलित हैं। *विनय पिटक* में संघ के लिए आचार संहिता संकलित है और *अभिधम्म पिटक* में धर्म और दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्त संकलित हैं। परन्तु इन धर्मग्रन्थों के अलग-अलग संस्करणों में समानताएँ नहीं हैं।

महात्मा बुद्ध के देहावसान के बाद पाँच शताब्दियों के भीतर बौद्धधर्म की कम से कम अठारह विचारधाराएँ या व्याख्याएँ उभरकर सामने आयीं। बाद में इसकी अन्य बहुत-सी शाखाओं और उपशाखाओं का विकास हुआ जिनके कारण इसका साहित्य विशाल बन गया। चीन में चीनी भाषा में लिखा गया एक बहुत ही विस्तृत त्रिपिटक उपलब्ध है जो मूलरूप से भारतीय ग्रन्थों का अनुवादित रूप है। तिब्बत में भी तिब्बती भाषा में लिखा गया एक ऐसा ही त्रिपिटक उपलब्ध है। चीन से यह त्रिपिटक (कोरिया के रास्ते) जापान ले जाया गया जहाँ त्रिपिटिक के हर अगले संस्करण में नये खण्ड जोड़ दिये गये। इस प्रकार 1929ई. में टोकियो में जो विशाल प्रामाणिक त्रिपिटिक प्रकाशित हुआ जिसका सम्पादन जे. ताकाकुसु, के. वातानाबे और जी. ओनो ने किया, उसके एक सौ खण्ड हो गये जिसमें प्रत्येक खण्ड में लगभग एक हज़ार पृष्ठ हैं।

* तिपिटक में कई ग्रन्थों का समावेश है। इनमें से कुछ ग्रन्थों को उद्धृत किया है जिनकी रूपरेखा के लिए पुस्तक के परिशिष्ट को देखें।

आजकल बौद्धधर्म की तीन मुख्य परम्पराएँ हैं। (1) थेरवाद अर्थात् स्थविरों (बड़ों) के उपदेश; यह धारा श्री लंका और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में फल-फूल रही है। (2) महायान अर्थात् 'महान् यान'* जो अधिकतर तिब्बत और पूर्वी एशिया में प्रचलित है और (3) वज्रयान या मन्त्रयान, 'वज्र' या 'मन्त्र-यान' जो महायान का ही एक रूप है और जिसके अनुयायी मुख्य रूप से तिब्बत और जापान में पाये जाते हैं। प्रत्येक परम्परा में कई जाने-माने व्याख्याता तथा लेखक हुए हैं और इन परम्पराओं में से भी कई दार्शनिक विचारधाराओं और उनकी उपशाखाओं का विकास हुआ है। ग्यारहवीं ईसवी शताब्दी में जब भारत में बौद्धधर्म का ह्रास होने लगा और इसका कुछ साहित्य लुप्त हो गया, तो उससे पहले इनमें से अधिकांश विचारधाराएँ भारत में पूरी तरह विकसित और समृद्ध हो चुकी थीं। परन्तु इस समय से बहुत पहले, ये विचारधाराएँ भारत के उपमहाद्वीप से परे अन्य देशों में अपनी जड़ें जमा चुकी थीं।

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में बौद्धधर्म को भारत से बाहर दूसरे देशों में पहुँचाने के लिए सम्राट अशोक ने योजनाबद्ध रूप से प्रयास किया। उन्होंने यह कार्य पूरा करने के लिए अपने पुत्र और पुत्री को श्री लंका भेजा। बौद्धधर्म को पहले भारत से दक्षिण की ओर स्थित देशों में ले जाया गया और बाद में उत्तर की ओर स्थित देशों में। दक्षिणी देशों में जो इस समय श्री लंका, बर्मा, थाइलैंड और कम्बोडिया के नाम से प्रसिद्ध हैं, थेरवाद ने गहरी जड़ें जमा लीं, जब कि उत्तरी देशों जैसे तिब्बत,

* बौद्धधर्म की परम्पराओं को यान (अक्षरशः वाहन) के रूप में वर्णित करने की कथा महायान *सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र (लोटस सूत्र)* में आती है जिसमें बुद्ध एक दयालु पिता की कहानी सुनाते हैं जो अपने बच्चों को पुरस्कार के तौर पर, उनकी रुचि के अनुसार अलग-अलग तरह की खिलौनेनुमा गाड़ियाँ *(Carts)* देने का वादा करते हैं, लेकिन फिर सभी को एक वाहन देते हैं जो उनकी कल्पना से परे था। महायान का आधारभूत सिद्धान्त भी अधिक से अधिक गृहस्थ उपासकों को अमल करने के लिए प्रेरित करता है जो कि बौद्धधर्म के प्रारम्भिक दिनों में सम्भव नहीं था जब मठीय जीवन शैली को प्राथमिकता दी जाती थी।

मंगोलिया, कोरिया, चीन और जापान में महायान फलता-फूलता रहा। तिब्बत और इसके पड़ोसी हिमालय के देशों में वज्रयान प्रचलित हो गया।

थेरवाद के धर्मग्रन्थ पालि भाषा में लिखे गये, जब कि महायान के धर्म-सिद्धान्त संस्कृत में। इस विशाल साहित्य के अधिकांश भागों का अनुवाद उन देशों की भाषा में किया गया जहाँ बौद्धधर्म का प्रसार हुआ। नौवीं और दसवीं शताब्दी के मध्य हुए विदेशी आक्रमणों के दौरान भारत में संस्कृत भाषा में लिखे गये जो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नष्ट हो गये थे, उन्हें फिर से लिखने के लिए इन अनुवादित धर्मग्रन्थों का ही उपयोग किया गया।

ज्ञान के इस अथाह भण्डार को एक छोटी-सी पुस्तक में समेटना सम्भव नहीं है। अगर हम महात्मा बुद्ध के मूल उपदेश को खोजने की कोशिश करें, तो हमें कोई ऐसी स्पष्ट और प्रामाणिक कसौटी नहीं मिलती जिसके आधार पर बाद में जोड़े गये अंशों से महात्मा बुद्ध के मूल वचनों को अलग किया जा सके। यद्यपि 'इन धर्मादेशों में एक ऐसी समानता है जिससे यह अनुमान होता है कि इन 'विचारों की उत्पत्ति' का एक ही स्रोत है,'[5] फिर भी अकसर ऐसा लगता है कि गौतम बुद्ध के उपदेश साम्प्रदायिक मतभेदों के आवरण से ढक गये हैं। इसलिए किसी भी तथाकथित प्रामाणिक स्रोत के आधार पर महात्मा बुद्ध के मूल वचनों को ढूँढ़ने के सभी प्रयास वाद विवाद का कारण बन जाते हैं। यही कारण है कि 'बौद्धधर्म के वास्तविक रूप के पुनर्निमाण का कोई भी अभियान दिशाहीन ही लगता है।'[6]

इस जटिलता के बहुत-से कारण हैं:

- महात्मा बुद्ध के देहावसान के बाद लगभग 400 वर्षों तक उनके उपदेश को लिखित रूप नहीं दिया गया। वास्तव में महात्मा बुद्ध ने स्वयं कुछ नहीं लिखा। जो कुछ भी हमें उपलब्ध है, वह सारा विवरण उनके अनुयायियों द्वारा लिखा गया है।

- सभी निकायों के अनुसार महात्मा बुद्ध ने बार-बार यह बात दोहराई कि वह सत्य, वह धर्म*[7] जिसका उन्हें ज्ञान हुआ, 'गूढ़, प्रशान्त और उच्च कोटि का था, उसे जानना और समझना बहुत कठिन था। वह इतना सूक्ष्म और तर्क-वितर्क से परे था कि कोई ज्ञानी जन ही उसे समझ सकता था।'[8]
- महात्मा बुद्ध और उनके प्रमुख शिष्य कुछ गूढ़ आध्यात्मिक प्रश्नों को लेकर या तो मौन रहे, या फिर उन्होंने इन प्रश्नों को नकार दिया या उन्हें टाल दिया,[9] जैसे कि यह संसार नश्वर है या अनश्वर, सीमित है या असीम; आत्मा और शरीर एक हैं या भिन्न हैं, मुक्त पुरुष का मृत्यु के बाद अस्तित्व रहता है या नहीं रहता है, दोनों ही अथवा दोनों से भिन्न अवस्था होती है।
- जिस उपदेश की चर्चा महात्मा बुद्ध ने खुली जन-सभाओं में की और जो उपदेश उन्होंने एकान्त में कुछ गिने-चुने व्यक्तियों को रहस्यमय ढंग से समझाया, उन दोनों में भेद किया गया। कहा जाता है कि एक अवसर पर महात्मा बुद्ध ने कहा, 'हे आनन्द! मैंने गूढ़ ज्ञान तथा जनसाधारण की समझ में आनेवाले साधारण ज्ञान में बिना कोई भेदभाव किये धम्म (धर्म)† का उपदेश दिया है। तथागत की मुट्ठी उस आचार्य की मुट्ठी की तरह बन्द नहीं है जो धम्म से सम्बन्धित कुछ रहस्य

---

* संस्कृत में 'धर्म' (पालि: धम्म) शब्द के कई अर्थ हैं। इसका मूल अर्थ है, 'वह जो थामे रखता है या सहारा देता है;' यह एक आधारभूत नियम है, सत्य है, यही महात्मा बुद्ध का उपदेश है और उस उपदेश का अनुसरण करने का तरीक़ा भी यही है।

† इस पुस्तक में 'धर्म' और 'कर्म' जैसे प्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया गया है, जब कि पालि भाषा में लिखे धर्म-सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए पालि शब्दों (धम्म और कम्म) का प्रयोग किया गया है।

छिपाकर रखते हैं।'[10] पर दूसरी ओर यह भी बताया गया है कि एक अन्य अवसर पर महात्मा बुद्ध ने अपनी मुट्ठी में सिंसप* वृक्ष के कुछ पत्ते लिये और भिक्षुओं से पूछा कि उन पत्तों की संख्या अधिक है जो उन्होंने हाथ में ले रखे हैं या फिर उनकी जो वन में उपलब्ध हैं। स्वाभाविक रूप से भिक्षुओं का उत्तर था कि वन में उपलब्ध पत्तों की संख्या बहुत अधिक है। इस पर महात्मा बुद्ध ने टिप्पणी की, 'हे भिक्षुओं, ठीक इसी प्रकार जो उपदेश मैंने तुम्हें दिया है, वह उस उपदेश की तुलना में बहुत कम है जिसका मुझे ज्ञान है और जिसे मैंने तुम्हें नहीं दिया।'[11]

- ऐसा कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध ने स्वयं अपने वचनों को पवित्र मानकर उनका वैदिक रीति से गुणगान करने की प्रथा का समर्थन नहीं किया।[12]
- इसके अतिरिक्त महात्मा बुद्ध ने यह भी कहा कि मनुष्य को केवल शब्दों में ही नहीं उलझना चाहिए, बल्कि अर्थ की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।[13]

इस प्रकार उनके वचनों की अलग-अलग ढंग से व्याख्या करके और उनके उपदेश के सभी पक्षों पर बल न देकर किसी एक पक्ष को उजागर करते हुए विभिन्न विचारधाराओं ने जिसे बुद्ध की शिक्षा समझा, उसका वर्णन अपने-अपने ढंग से कई रूपों में किया। यह स्वाभाविक है कि जिन-जिन देशों में बौद्धधर्म का प्रचार हुआ, उनकी भिन्न-भिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि के आधार पर इस धर्म की अभिव्यक्ति भी अलग-अलग रूप में हुई। इस तरह उस देश की

* इस विषय में पूरी जानकारी नहीं है कि यह कौन-सा वृक्ष था; यह भारत और दक्षिणी पूर्वी एशिया में आम तौर पर पाई जानेवाली शीशम की लकड़ी भी हो सकती है।

सांस्कृतिक व्याख्या से इसके मूल उपदेश का कुछ हद तक प्रभावित होना निश्चित है। दूसरी बात यह है कि जब कोई दार्शनिक या विद्वान् व्यावहारिक अनुभव पर आधारित एक साधारण सत्य या धारणा का विश्लेषण करता है, तो वह सत्य इतना जटिल या रहस्यात्मक हो जाता है कि कोई साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति उसे समझ ही नहीं पाता। मूल उपदेश का विस्तृत रूप होने के कारण, बाद में जोड़े गये इन अंशों में महात्मा बुद्ध की मूल शिक्षा ही आधार रही होगी, इसलिए ये पूरी तरह असत्य नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए, महात्मा बुद्ध का दुनियावी शक्लों और पदार्थों की अनित्यता के बारे में सहज रूप से बार-बार ज़ोर देकर कहने की बात लीजिए, बुद्ध का अनित्यता का यही मूल विचार बाद में क्षणिकवाद जैसा एक जटिल सिद्धान्त बन गया जिसे अन्त में कुछ विचारधाराओं ने शून्यवाद का रूप दे दिया।

इन परिस्थितियों को देखते हुए बौद्धधर्म की किसी एक विचारधारा को महात्मा बुद्ध के मूल उपदेश का एकमात्र प्रतिनिधि मानना उचित नहीं होगा। फिर भी अगर हम इसकी विभिन्न विचारधाराओं के धर्मग्रन्थों का निष्पक्ष रूप से अध्ययन करें, तो कुछ हद तक उनके मूल उपदेश को प्राप्त करना सम्भव है। यह इसलिए सम्भव है क्योंकि बौद्धधर्म की लगभग सभी विचारधाराओं में थोड़े-बहुत मतभेद के बावजूद कुछ ऐसी समानताएँ हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि इनका स्रोत एक ही है। इसके अतिरिक्त इस तथ्य को सामान्य रूप से स्वीकार किया है कि बौद्धधर्म महात्मा बुद्ध की ज्ञानप्राप्ति के बाद उनके द्वारा दी गई शिक्षाओं पर आधारित है। इस प्रकार इन शिक्षाओं के कुछ मूल तत्त्व इसकी सभी विचारधारओं में स्पष्ट दिखाई देते हैं।

इसलिए पुरातन परम्परा से चले आ रहे इस मत को समझने का सबसे अच्छा तरीक़ा होगा कि इसकी कुछ 'मूल' शिक्षाओं की खोज की जाये। चौदहवें धर्मगुरु दलाई लामा (1935-) ने भी बौद्धधर्म जैसी पुरानी धार्मिक परम्पराओं को जानने का ऐसा ही सुझाव दिया है। अपनी पुस्तक *द पावर ऑफ़ कम्पैशन (The Power of Compassion)* में वे कहते हैं:

मेरा यह विचार है कि जिसे मैं धार्मिक शिक्षाओं का 'मूल' या 'सारतत्त्व' मानता हूँ, उसमें तथा उस परम्परा के सांस्कृतिक पक्षों में भेद करना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।[14]

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि आधुनिक समय में भी क्या धर्म ही सही मार्ग है, धर्मगुरु दलाई लामा ने यह भी कहा:

बहुत-सी धार्मिक परम्पराओं को आरम्भ हुए अनेकों वर्ष बीत चुके हैं, इसलिए मैं समझता हूँ कि इनके कुछ रूप पुराने पड़ चुके हैं, अर्थात् अनावश्यक हो गये हैं। इसलिए अन्य धर्मों के सहित बौद्धधर्म के भी मूल-तत्त्व की खोज करना आवश्यक है।[15]

बौद्धधर्म के मूल-तत्त्व की संक्षेप में बात करते हुए हमें यह याद रखना होगा कि महात्मा बुद्ध का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यावहारिक था। गूढ़ आध्यात्मिक प्रश्नों को एक ओर रखते हुए उन्होंने लोगों को निर्वाण-प्राप्ति (पालि: 'निब्बान') के लिए प्रयास करने की प्रेरणा दी। उन्होंने बल देकर कहा कि यही मनुष्य-जीवन का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने समाधि पर बल दिया जो उनके बताये मार्ग का मूल आधार है। उनके अनुसार सम्यक् आचरण (संस्कृत: शील, पालि: सील) समाधि या आन्तरिक साधना की आधारशिला है और समाधि द्वारा ही प्रज्ञा या आन्तरिक ज्ञान (संस्कृत: प्रज्ञा, पालि: पञ्ञा) के साथ-साथ क्षमाशीलता तथा करुणा की प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार शील, समाधि और करुणा सहित प्रज्ञा महात्मा बुद्ध द्वारा बताये मार्ग के मुख्य आधार हैं।

एडवर्ड कॉन्ज़ जो बौद्धधर्म के बहुत-से ग्रन्थों के जाने-माने अनुवादक हैं, उन्होंने बौद्धधर्म में अन्तर्मुखी साधना के विशेष महत्त्व को उजागर करते हुए इस प्रकार टिप्पणी की है: 'बौद्धधर्म में बतायी गयी समाधि का आन्तरिक अभ्यास ही बौद्धधर्म में निहित सम्पूर्ण जीवन्त तथ्यों का

उत्पत्ति स्रोत है।'[16] जब कोई इस अन्तर्मुखी अभ्यास के कुएँ में गहरी डुबकी लगाता है तो उसे आन्तरिक ज्ञान की मणि मिल जाती है जिसके द्वारा अज्ञानता का वह अँधेरा जो सभी सांसारिक बन्धनों की जड़ है, दूर हो जाता है, और निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

महात्मा बुद्ध ने जो मार्ग बताया है वह कोई नया मार्ग नहीं है। वे स्वयं कहते हैं कि उन्होंने एक 'प्राचीन मार्ग को, युगों पुराने उस रास्ते को फिर से खोज निकाला है जिसका अनुसरण पिछले युगों के कई प्रबुद्ध जन करते आये हैं।'[17] पालि त्रिपिटकों के आरम्भिक भाग में, वे पहले हो चुके और भविष्य में होनेवाले बुद्ध-महात्माओं का हवाला देते हैं।[18] यहाँ तक कि उन्होंने पिछले समय के कुछ बुद्ध-महात्माओं के नाम भी बताये हैं जैसे कि विपश्यी, सिखी, विश्वभू, क्रकुछंद और कोनागमन।[19] महायान बौद्धधर्म[20] के अनुसार पिछले युगों में असंख्य बुद्ध हो चुके हैं।

इस संसार में सभी बुद्ध धर्मकाय से ही प्रकट होते हैं और धर्मकाय वह वास्तविक आध्यात्मिक काया या सत् काय है जो शाश्वत है और एक ही है। बुद्ध के केवल शारीरिक रूप ही जन्म और मृत्यु को प्राप्त होते हैं, जब कि बुद्ध वास्तव में अमर और अनश्वर हैं। इसलिए महात्मा बुद्ध अपने आप को धर्मकाय[21] बताते हुए दृढ़तापूर्वक कहते हैं:

जो धम्म (परम सत्य) को देखता है, वह मुझे देखता है।[22]

निम्नलिखित उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है:

धर्म द्वारा मनुष्य बुद्ध महात्माओं को देख सकता है और धर्मकाय ही हर बुद्ध का मार्गदर्शन करती है।[23]

इस प्रकार बुद्ध तथा उनके द्वारा दिया जानेवाला परम सत्य का ज्ञान (धर्म) – दोनों ही धर्मकाय से उत्पन्न होते हैं, जो शाश्वत है। जिस सत्य के वे मूर्तरूप हैं, वह एक है और सदा रहनेवाला है; इसी प्रकार उनके उपदेश भी सदा रहनेवाले हैं और सबके लिए हैं।

यहाँ इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि परम सत्य के ज्ञाता और उनके सच्चे आध्यात्मिक उपदेश ऐसे स्त्री-पुरुषों के लिए हमेशा उपलब्ध हैं जो पूरी लगन से उनकी खोज करते हैं। दूसरे शब्दों में गुरु-शिष्य की परम्परा हमेशा चलती रहती है, भले ही अध्यात्म में रुचि न रखनेवाले लोग इस बात से परिचित हों या न हों। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि तिब्बत के एक गुरु पैट्रुल रिनपोचे (1808-1887) के बारे में यह कहा जाता है, 'स्वयं महात्मा बुद्ध से चली आ रही परम्परा से उनका सम्बन्ध था।'[24] बौद्ध परम्परा में हुए अनेक दूसरे गुरुओं और आचार्यों के बारे में भी यही कहा जाता है कि वे क्रमवार चली आ रही इस परम्परा से सम्बन्धित थे।

तिब्बतन योग एण्ड सीक्रेट डॉक्ट्रीन्ज़ *(Tibetan Yoga and Secret Doctrines)* नामक पुस्तक में डब्ल्यू. वाई इवैंस-वैंज़ ने कहा है:

> *गुरु स्वयं हमें बताते हैं कि गूढ़ उपदेश प्रदान करने की उनकी वास्तविक विधि उतनी ही प्राचीन है जितना कि स्वयं मनुष्य।*[25]

तिब्बत के एक और धर्मग्रन्थ *द सुप्रीम पाथ, द रोज़री ऑफ़ प्रैशस जैम्स (The Supreme Path, the Rosary of Precious Gems)* में गम्पोपा रिनपोचे (1079-1153) कहते हैं:

> *यह जानकर बहुत प्रसन्नता होती है कि मुक्ति का वह मार्ग जिस पर सभी बुद्ध चले हैं, हमेशा रहनेवाला, कभी न बदलनेवाला और उन सबके लिए खुला है जो उसमें प्रवेश करने के लिए तैयार हैं।*[26]

केवल दया और करुणा के कारण ही सच्चे गुरु धर्मकाय से प्रकट होकर बहुत-से लोगों के कल्याण और भलाई के लिए कार्य करते हैं।[27] चूँकि प्रज्ञा और करुणा एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते, इसी कारण प्रज्ञावान् और प्रबुद्ध सबके प्रति हमेशा दयालु और करुणामय होते हैं।

वास्तव में, दया और करुणा के बिना आध्यात्मिकता सम्भव ही नहीं है। इसलिए जो ज्ञानी हैं, करुणामय हैं और वास्तव में आध्यात्मिक वृत्ति वाले हैं, वे हमेशा अपने आप को सबकी सेवा में समर्पित कर देते हैं, सबके साथ हर जगह एक जैसा ही व्यवहार करते हैं और जाति-धर्म, रंग-रूप, देश या धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करते। इसमें सन्देह नहीं कि महात्मा बुद्ध ऐसे ही प्रज्ञावान् और करुणामय गुरु का एक अनुपम उदाहरण थे।

जब तक हम इस स्थूल धरातल पर हैं और हमें सत्य का आन्तरिक अनुभव नहीं हुआ या हमें पारमार्थिक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई है, तब तक बुद्ध, गुरु, परमात्मा या आन्तरिक लोकों की बातें हमारे लिए मात्र धारणाएँ या विचार ही हैं। स्थूल धरातल पर रहते हुए हम इन पर तर्क या वाद-विवाद कर सकते हैं, परन्तु इन नामों या धारणाओं को सत्य नहीं मान सकते, क्योंकि हम अपनी व्याख्याओं से इन्हें सीमित कर लेते हैं। एक ही नाम या धारणा का अर्थ हमारे लिए दूसरों से अलग हो सकता है, या यह भी हो सकता है कि हम अलग नाम और धारणाएँ चुनें परन्तु उनका अर्थ एक ही हो। वे लोग जो केवल नामों और धारणाओं में उलझे हुए हैं, उनके विपरीत जो व्यक्ति बुद्ध है, यानी जिसे सम्बोधि-प्राप्ति हो गयी है, वह जो भी कहता है, अपने अनुभव के आधार पर या अपनी आन्तरिक अनुभूति से प्रेरित होकर कहता है। जैसा कि बुद्ध ने कहा है:

> *तथागत तभी उपदेश देते हैं जब वे स्वयं सत्य को जान लेते हैं और आत्म-साक्षात्कार कर लेते हैं।*[28]

वे लोग जो इस बात का दावा करते हैं कि उनके गुरु, आचार्य या धर्म प्रवर्तक दूसरों से श्रेष्ठ हैं और इसी कारण एक-दूसरे से लड़ाई-झगड़ा करते रहते हैं, उनके विपरीत सच्चे आध्यात्मिक गुरु दूसरों को छोटा नहीं समझते और न ही उनकी परम्पराओं की बुराई करते हैं। वास्तव में यह बताने के लिए कि उनके धार्मिक सिद्धान्त या नियम सर्वव्यापक हैं, वे अन्य सन्त-महात्माओं के वचनों का हवाला देते हैं। उदाहरण के लिए,

महात्मा बुद्ध ने अपने इस विचार के समर्थन में अन्य सन्तों या गुरुओं का हवाला दिया है कि आध्यात्मिक सत्य या मार्ग (धर्म) अपरिवर्तनशील है। यह बताते हुए कि इस संसार में सभी वस्तुओं के परिवर्तनशील होने पर भी धर्म में कोई परिवर्तन नहीं होता, वे वास्तव में अन्य सन्तों और सतगुरुओं के वचनों को ही प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है:

> *राजा-महाराजाओं के शानदार रथ पुराने या वैभवहीन हो जाते हैं, इस शरीर को भी बुढ़ापा आ घेरता है परन्तु आर्य जन का धम्म (धर्म) कभी पुराना नहीं होता; आर्य जन के बारे में सन्त ऐसा ही कहते हैं।*[29]

विद्वानों और सन्त-महात्माओं के बीच स्पष्ट अन्तर है। जहाँ विद्वान् व्यक्ति नामों और धारणाओं में उलझकर उनके अर्थ पर वाद-विवाद करते हैं, वहाँ सन्त-महात्माओं का सम्बन्ध सीधे परम सत्य की अनुभूति से होता है। वे मौन रहना पसन्द करते हैं यद्यपि उनका मौन भी अद्भुत रूप से प्रभावशाली होता है।

बुद्ध या सच्चे सन्त-महात्मा जब उपदेश देते हैं तो वे सीधे अपने निजी अनुभव से बात करते हैं। यही कारण है कि अलग-अलग शब्दों के प्रयोग के बावजूद हमें उनके उपदेश में एक समानता दिखाई देती है।

आगे महात्मा बुद्ध के जीवन, उनके दर्शन और उपदेश का वर्णन किया गया है जो विशेष रूप से बौद्धधर्म के मूल ग्रन्थों पर आधारित है। इसके पक्ष में बौद्धधर्म की विभिन्न विचारधाराओं में दिये उपदेश के अनमोल ख़ज़ाने में से उद्धरण दिये गये हैं। महात्मा बुद्ध की विवेकपूर्ण, व्यावहारिक तथा करुणापूर्ण दृष्टि से हमें उन सभी महान् आध्यात्मिक गुरुओं की याद ताज़ा हो जाती है जिनका इस संसार में आने का एकमात्र उद्देश्य आध्यात्मिकता का जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करना और आत्मिक ज्ञान की प्राप्ति में हमारी सहायता करना है।

2

महात्मा बुद्ध का जीवन: एक प्रेरणा

प्राय: सभी जानते हैं कि गौतम बुद्ध एक इतिहास-प्रसिद्ध महापुरुष हुए हैं, परन्तु उनके जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं के साथ बहुत-सी लोक-कथाएँ और चमत्कारपूर्ण कहानियाँ जुड़ गयी हैं, इसलिए महात्मा बुद्ध के जीवन का सही-सही ऐतिहासिक विवरण देना सम्भव नहीं है। ऐसा लगता है कि प्राचीन समय में भारतवासियों को विभिन्न महात्माओं या विचारकों के जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक विवरण सुरक्षित रखने में विशेष रुचि नहीं थी, भले ही वे कितने भी महान् क्यों न रहें हों। इसलिए लोगों ने उनके व्यक्तिगत जीवन के बजाय उनके विचारों को अधिक महत्त्वपूर्ण माना और पूरे मनोयोग से इन विचारों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया।

सम्पूर्ण वैदिक और उपनिषद्-साहित्य में किसी भी महात्मा या ऋषि-मुनि के जीवन का ऐतिहासिक विवरण नहीं है। इनमें हमें केवल कुछ संत-महात्माओं या आचार्यों और उनके प्रमुख शिष्यों के नाम ही मिलते हैं या फिर उनके नाम मिलते हैं जिन्होंने उन्हें उपदेश और सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए सुना। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारे पास प्राचीन समय की लिखी हुई महात्मा बुद्ध की कोई भी जीवनी नहीं मिलती। बाद में महात्मा बुद्ध की जो भी जीवनियाँ लिखी गयीं,

उनमें इतनी चमत्कारपूर्ण और काल्पनिक घटनाएँ जोड़ दी गयीं कि उनके जीवन के शुद्ध ऐतिहासिक तथ्यों को इनसे अलग करना लगभग असम्भव है।

बुद्धचरित महात्मा बुद्ध की सबसे पहली जीवनी है जो महात्मा बुद्ध के देहावसान के लगभग छः सौ साल के बाद लिखी गयी। यह भारत के एक दार्शनिक कवि अश्वघोष द्वारा संस्कृत भाषा में काव्य-रूप में लिखी गयी है। कवि अश्वघोष पहली या दूसरी शताब्दी ईसवी में हुए थे। *ललितविस्तर* उनकी एक और जीवनी है जिसके लेखक के बारे में कोई जानकारी नहीं है। यह भी संस्कृत भाषा में लिखी गयी है। इसका कुछ भाग गद्य में और कुछ भाग पद्य रूप में लिखा गया है। पद्य रूप में अधिकतर गद्य रूप को कविता की तरह प्रस्तुत किया गया है। इसके 27 अध्याय हैं और ऐसा लगता है कि इसकी रचना दूसरी या तीसरी शताब्दी ईसवी में की गयी थी। *महावस्तु* महात्मा बुद्ध की एक अन्य जीवनी है जो मुख्य रूप से संस्कृत में है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह परवर्ती रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा रचित नहीं है। इसकी विषय-वस्तु क्रमवार नहीं है और इसका अधिकांश विषय पौराणिक या कल्पित कथाओं पर आधारित है।

इन जीवनियों के अतिरिक्त महात्मा बुद्ध के सम्बोधि प्राप्त होने के बाद के जीवन से सम्बन्धित कुछ विवरण बौद्धधर्म के त्रिपिटक साहित्य में कहीं-कहीं मिलते हैं। इन विवरणों में यह बताया गया है कि महात्मा बुद्ध ने अनेक विद्वान् ब्राह्मणों को, कई विशिष्ट गृहस्थ उपासकों और भिन्न-भिन्न राज्यों के राजाओं को उपदेश दिया और अपने धार्मिक सिद्धान्तों की चर्चा की। ये विवरण भारत के उन भागों की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश डालते हैं जहाँ-जहाँ महात्मा बुद्ध ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व में यात्रा की।

कुछ हज़ार वर्ष बीतने के पश्चात् उनके जीवन का जो विवरण हमारे सामने आता है, वह बौद्धधर्म के सम्पूर्ण ज्ञान को संक्षेप में सामने रख देता है। महात्मा बुद्ध की जीवन कथा में क्या सत्य है और

क्या काल्पनिक, उसका पता चल नहीं पायेगा, परन्तु बौद्धधर्म महात्मा बुद्ध के जीवन की ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर निर्भर नहीं है। इन कथाओं में पाये जानेवाले सत्य शायद ऐतिहासिक न हों, फिर भी इन्हें दृष्टान्त के रूप में लेकर महात्मा बुद्ध के जीवन के विवरण तथा अनुभवों द्वारा बौद्धधर्म के मूलभूत सत्यों को उजागर किया गया है।

महात्मा बुद्ध ने उस धर्म का उपदेश दिया, उस आध्यात्मिक मार्ग का प्रचार किया जो उनके अनुसार शाश्वत था। इस प्रकार वे किसी नये धर्म के संस्थापक नहीं थे, अपितु एक पुरातन और शाश्वत धर्म के मार्गदर्शक, प्रचारक तथा खोज करनेवाले थे जिसका मूल आधार, अध्यात्म मार्ग या धर्म ही है, परन्तु इसकी रचना महात्मा बुद्ध ने नहीं की। इसलिए मार्ग का अस्तित्व बुद्ध पर निर्भर नहीं करता। महात्मा बुद्ध का कथन है कि उन्होंने उसी के बारे में बात की है जिसकी उन्होंने फिर से खोज की है और वह है 'प्रबुद्ध जनों का मार्ग।'

> *हे भिक्षुओं! मैंने एक पुरातन मार्ग देखा है, वह पुरातन मार्ग जिसका अनुगमन पिछले युगों के प्रबुद्ध जन करते आ रहे हैं।*[30]

> *यही वह मार्ग है, जिसपर चलकर पिछले युगों में मनुष्य भवसागर से पार हुए हैं, जिसपर चलकर मनुष्य आज भी और भविष्य में भी भवसागर पार कर सकते हैं।*[31]

दूसरे शब्दों में, धर्म बुद्ध से उत्पन्न नहीं हुआ और न ही यह देहधारी बुद्ध पर निर्भर है, परन्तु धर्म का ज्ञान निश्चित रूप से बुद्ध पर ही आधारित है। एक सन्देशवाहक के रूप में उन्होंने धर्म का सही रूप समझाया और उन लोगों को इसका उपदेश दिया जो उनकी ओर खिंचे चले आये।

यद्यपि बौद्धधर्म महात्मा बुद्ध के उपदेश पर केन्द्रित है फिर भी आरम्भ में उनका जीवन-परिचय देना उचित होगा। उनका जीवन बौद्धधर्म के आध्यात्मिक मार्ग का उदाहरण है। यह वह मार्ग है जिसपर चलकर

सम्बोधि प्राप्त की जा सकती है। यह पूर्ण ज्ञान की वह अवस्था है जो बुद्ध के उपदेश का आधार है।

यह सर्वमान्य है कि गौतम बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व छठी शताब्दी में हुआ था और वे अस्सी वर्षों तक जीवित रहे परन्तु उनके जन्म और देहावसान के सही समय को लेकर मतभेद है। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मतों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के बाद कुछ लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सम्भव है उनका जन्म 563 ईसा पूर्व में हुआ और देहावसान 483 में हुआ।[32] आधुनिक विद्वानों ने तर्क के आधार पर महात्मा बुद्ध के जन्म तथा देहावसान के लिए ईसा पूर्व 480 से 400[33] या फिर ईसा पूर्व 470 से 350[34] की अवधि को मान्यता दी है।

कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन उनके पिता थे और रानी महामाया उनकी माता थीं। हिमालय की तराई में स्थित कपिलवस्तु नाम का नगर शाक्यों की राजधानी थी। शाक्य-वंश में पैदा होने के कारण गौतम बौद्धधर्म की महायान शाखा में शाक्यमुनि के रूप में जाने जाते हैं। शाक्य उस समय एक समृद्ध राज्य था जो राजा प्रसेनजित् के विशाल साम्राज्य कौशल के अधीन था। इस छोटे से राज्य का शासन-प्रबन्ध कुछ विशिष्ट गृहस्थियों की सभा करती थी जिसमें एक गौतम के पिता थे, हालाँकि परवर्ती परम्परा में गौतम को एक राजा का पुत्र माना गया है।[35]

स्वर्ग से धरती की ओर

सिद्धार्थ गौतम के रूप में जन्म लेने से पहले पूर्णता की प्राप्ति के लिए महात्मा बुद्ध को कई बार जन्म-मरण के चक्र से गुज़रना पड़ा। कई युग पहले अपने एक पिछले जन्म में वे सुमेध नाम के तपस्वी थे। उस समय के बुद्ध महात्मा दीपंकर से मिलने के बाद सुमेध को बुद्धत्व प्राप्त करने की प्रेरणा मिली। अपने पिछले जन्म में गौतम बुद्ध एक बोधिसत्त्व थे, एक ऐसी पुण्यात्मा जिसे भविष्य में बुद्ध बनना था। तुषित नाम के स्वर्ग में रहते हुए उन्होंने देखा कि अब कपिलवस्तु में जन्म लेने के लिए उचित समय आ गया है और परिस्थितियाँ अनुकूल हैं। जैसा कि

पीटर हार्वे ने अपनी पुस्तक *इन्ट्रोडक्शन टू बुद्धिज़्म (Introduction to Buddhism)* में लिखा है:

> *गौतम की पारम्परिक जीवनी उनके जन्म से आरम्भ नहीं होती, परन्तु उनके जन्म के पहले जो हुआ उससे आरम्भ होती है... अपने पिछले जन्म में वे तुषित नाम के स्वर्ग में अवतरित हुए जिसे देवी-देवताओं की 'आनन्द-भूमि' कहा जाता है। ऐसा माना जाता है कि यह वह स्थान है जहाँ अब बोधिसत्त मैत्तेय* का निवास है और भविष्य में जब मानव-इतिहास में बौद्धधर्म लुप्त हो जायेगा तब वे अगले बुद्ध के रूप में अवतरित होंगे।[36]

महात्मा बुद्ध के प्रवचनों से पता चलता है कि बुद्ध ने जब तुषित स्वर्ग से अपनी माता के गर्भ में प्रवेश किया तो वे 'पूरी तरह सचेत' थे। एक बार रात के समय राजा शुद्धोदन की पटरानी महामाया ने सपना देखा कि एक बहुत ही भव्य सफ़ेद हाथी ने उसकी कोख में प्रवेश किया है परन्तु इससे उसे कोई पीड़ा या कष्ट नहीं हुआ। अगली सुबह रानी ने राजा को यह सपना सुनाया तो राजा ने विद्वान ब्राह्मणों को इसकी व्याख्या करने को कहा। उन्होंने राजा को बताया कि रानी ने गर्भ धारण किया है और वह एक तेजस्वी पुत्र को जन्म देंगी। अगर उस पुत्र ने गृहस्थ-जीवन अपनाया तो वह चक्रवर्ती राजा बनेगा, परन्तु अगर वह घर-गृहस्थी त्याग देगा तो वह सम्यक् सम्बुद्ध होगा। बौद्ध परम्परा के अनुसार सफ़ेद हाथी इस बात का प्रतीक है कि पवित्रता और गौरव का साकार रूप उस भावी बुद्ध का तुषित स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरण होनेवाला है।

---

* बौद्धधर्म में प्रचलित मत के अनुसार, बोधिसत्त मैत्तेय (संस्कृत: *बोधिसत्त्व मैत्रेय*) गौतम बुद्ध के उत्तराधिकारी होंगे। वे बड़े दयालु हैं जो सभी बोधिसत्त्वों के समान तुषित स्वर्ग में रहते हुए उस समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं जब वे इस धरती पर जन्म लेंगे और स्वयं बुद्धत्व प्राप्त करके दूसरों को बोधि प्राप्त करने में सहायता करेंगे।

गर्भावस्था में रानी का स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक रहा, वे न बीमार हुईं और न ही उन्हें कोई थकान हुई। गर्भाधान के दसवें माह में रानी ने लुम्बिनी उद्यान जाने की इच्छा प्रकट की। लुम्बिनी उद्यान साल वृक्षों का बग़ीचा* था और नाना प्रकार के अन्य सुन्दर वृक्षों और फूलों के लिए प्रसिद्ध था। रानी महाराजा शुद्धोदन और अपनी कई दासियों समेत इस बाग़ में पहुँचीं। जब वे अपनी दासियों के साथ इस शानदार बग़ीचे में घूम रही थीं तब उन्हें लगा कि बच्चे के जन्म का समय आ गया है। कहा जाता है कि सुन्दर झाड़ियों और फूलों के परदे के पीछे रानी ने साल वृक्ष की एक शाखा को थामकर लगभग बिना किसी कष्ट के एक असाधारण बालक को जन्म दिया जो बाद में बुद्ध के नाम से जाना गया। जब सब लोग घर लौटकर आये तो राजा के घर पहले पुत्र के जन्म पर न केवल महल में, बल्कि पूरे राज्य में आनन्द-उत्सव मनाये गये, क्योंकि यह बालक स्वाभाविक रूप से राज्य का उत्तराधिकारी भी था।

जब महर्षि असित को अन्तर्दृष्टि द्वारा इस तेजस्वी बालक के अवतरित होने का ज्ञान हुआ तो वे राजमहल में पहुँच गये। उन्होंने राजा से राजकुमार को देखने की इच्छा प्रकट की और राजा उन्हें उस कक्ष में ले गये जहाँ बालक को रखा गया था। बच्चे को अपनी बाहों में उठाते हुए रानी महामाया ने महर्षि असित के चरणों में बड़ी श्रद्धा से बच्चे का शीश झुकाने की चेष्टा की। परन्तु महर्षि असित ने स्वयं बालक के चरणों पर बड़ी श्रद्धा से शीश नवाया। वे बड़ी देर तक एकटक बच्चे के तेजोमय मुख की ओर देखते रहे और उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। राजा और रानी महर्षि असित का ऐसा विचित्र व्यवहार देखकर हैरान भी थे और परेशान भी। उन्होंने महर्षि से पूछा कि उन्हें राजकुमार पर कोई कष्ट या संकट आने की सम्भावना तो नहीं लग रही? इस पर महर्षि ने उन्हें बताया कि वे राजकुमार पर भविष्य में आनेवाले किसी संकट या

* साल वृक्ष के फूलों की सुगन्ध अलौकिक होती है। कहा जाता है कि बुद्ध का जन्म और देहावसान साल वन में ही हुआ था।

ख़तरे को नहीं देख रहे थे, बल्कि वे इस बात से निराश थे कि उनके जीवनकाल का इतना समय शेष नहीं है कि वे इस तेजस्वी बालक का उपदेश सुन सकें जो सम्यक् सम्बुद्ध होगा और ऐसा उपदेश देगा जिसके द्वारा जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जायेगा। महर्षि यह सोचकर उदास थे कि उन्हें अभी भी उस अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई है, जिसे वे तभी प्राप्त कर सकते थे अगर उनकी आयु दीर्घ होती।

महर्षि ने कहा कि राजा के लिए दु:खी होने का कोई कारण नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि दु:खी तो उन्हें होना चाहिए जो भ्रमित हैं और सांसारिक विषय-भोगों में लिप्त होने के कारण या एक जीवित गुरु से मिलाप न होने के कारण बुद्ध के उपदेश को सुनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पायेंगे।

राजा शुद्धोदन ने बाद में विद्वान् ब्राह्मणों से राजकुमार का भविष्य बताने को कहा। उनमें से एक को छोड़कर बाक़ी सब ने उनके भविष्य के बारे में दो मत दिये। यदि राजकुमार गृहस्थ-जीवन का पालन करते हैं तो वे एक चक्रवर्ती राजा होंगे, परन्तु यदि वे घर-गृहस्थी को त्याग देंगे, तो वे पूर्ण ज्ञान प्राप्त महात्मा होंगे। किन्तु एक ब्राह्मण ने यह बात दृढ़ता से कही कि राजकुमार के गृहस्थ-जीवन में रहने की कोई सम्भावना नहीं है, वे तो निश्चय ही परम ज्ञानी होंगे और संसार को सत्य का मार्ग दिखलायेंगे। उनका नाम सिद्धार्थ रखा गया—'सिद्ध' अर्थात् 'परिपूर्ण' अथवा 'सम्पादित' और 'अर्थ' यानी 'उद्देश्य' या 'प्रयोजन'। इस प्रकार इस नाम से अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है जो अपने जीवन को सार्थक करके इसका उद्देश्य पूरा कर लेगा। पारिवारिक नाम गौतम होने के कारण वे सिद्धार्थ गौतम के नाम से जाने गये।

बेटे को जन्म देने के एक सप्ताह बाद ही रानी महामाया यह नश्वर शरीर त्यागकर परलोक सिधार गयीं। रानी की छोटी बहन महाप्रजावती ने, जो राजा की दूसरी रानी थी, राजकुमार के लालन-पालन की ज़िम्मेदारी सहर्ष अपने ऊपर ले ली। राजकुमार का बचपन बड़े सुख में बीता। एक राजकुमार के लिए जिस ज्ञान को हासिल करना और

कलाओं की जानकरी प्राप्त करना आवश्यक होता है, राजकुमार ने वह समस्त ज्ञान दूसरों की तुलना में बड़े कम समय में प्राप्त कर लिया। चूँकि राजा इस बात को जानते थे कि राजकुमार के द्वारा घर-गृहस्थी त्याग देने की सम्भावना है, इसलिए उन्होंने सिद्धार्थ को बड़े आनन्दमय और वैभवशाली वातावरण में रखने की विशेष व्यवस्था की। राजकुमार के रहने के लिए एक बहुत बड़ा महल था जिसमें हर मौसम के अनुकूल कक्ष थे। एक प्रचलित कथा के अनुसार राजा ने राजकुमार के लिए तीन विशेष महल तैयार करवाये, जिनमें से एक शीत के लिए, दूसरा ग्रीष्म के लिए और तीसरा वर्षा के मौसम के लिए था। सर्वश्रेष्ठ नर्तकियाँ और संगीतज्ञ सदैव राजकुमार का मनोरंजन करते रहते थे। इस बात के लिए हर सावधानी बरती गयी थी कि राजकुमार कभी कोई ऐसा दृश्य न देख पायें जिससे उनका मन विचलित हो जाये।

कहा जाता है कि एक बार जब कुछ शाक्य राजकुमार वन-विहार करते हुए प्राकृतिक सौंदर्य का आनन्द ले रहे थे, तब सिद्धार्थ के चचेरे भाई देवदत्त ने एक हंस को ऊपर उड़ते हुए देखा और हंस को देखते ही देवदत्त ने उस पर तीर चला दिया। हंस ज़ख़्मी होकर सिद्धार्थ के पास आ गिरा। सिद्धार्थ ने बड़े प्रेम से उसे उठाकर तीर निकाला और उसके ज़ख़्म पर पट्टी बाँध दी। देवदत्त ने उस पक्षी पर अपना अधिकार जताया, परन्तु सिद्धार्थ ने यह कहकर पक्षी को देने से इनकार कर दिया कि यह हंस उसका नहीं है जिसने इसका जीवन लेना चाहा, परन्तु उसका है जिसने इसके प्राणों की रक्षा की है। सिद्धार्थ के जीवन में कष्ट और पीड़ा का यह पहला अनुभव था। राजा ने सिद्धार्थ का तर्क मान लिया और जब तक हंस उड़ने के योग्य नहीं हो गया, सिद्धार्थ उसकी देखभाल करते रहे।

एक दिन राजा ने सभी शाक्य राजकुमारों और मंत्रियों के पुत्रों को एकत्रित किया और परिजनों के एक बड़े दल के साथ उन्हें खेत-जुताई का पर्व दिखाने ले गये। जब अधिकांश लोग उत्सव का आनन्द ले रहे थे, तो सिद्धार्थ अपने परिचारकों के साथ अपने पिता के फलों के बग़ीचे में चले गये। आराम करने के लिए उचित स्थान खोजते हुए उन्हें एक

जम्बू वृक्ष के नीचे एकान्त स्थान दिखाई दिया। उन्होंने अपने परिचारकों को जाने का आदेश दिया, क्योंकि वे एकान्त चाहते थे। सबके चले जाने के बाद सिद्धार्थ उस वृक्ष की छाया के नीचे पलथी लगाकर ध्यानावस्था में बैठ गये। समाधि में लीन होने का उनका यह पहला अनुभव था।* थोड़ी देर बाद जब किसी ने उन्हें इस अवस्था में देखा तो तुरन्त राजा को सूचित किया। सूचना मिलते ही राजा वहाँ पहुँचे और सिद्धार्थ को ध्यान की अवस्था में बैठे देखकर आश्चर्यचकित रह गये। मन ही मन राजा अपने पुत्र के सामने नतमस्तक हो गये, किन्तु साथ ही मनोरंजन और उत्सव-कार्यों के प्रति राजकुमार का अनासक्त भाव देखकर वह चौकन्ने भी हो गये।

बुद्ध का विवाह

राजा ने अपने मन्त्रियों से सलाह ली। उन्होंने राजा को सुझाव दिया कि जितनी जल्दी हो सके राजकुमार का विवाह करवा देना चाहिए। उनकी सलाह थी कि ऐसा करने से वे युवावस्था के आनन्दमय भोगों में बँध जायेंगे और घर-गृहस्थी का त्याग नहीं कर पायेंगे। सिद्धार्थ एक बहुत ही सुन्दर नवयुवक थे और उनके लिए उपयुक्त कन्या की खोज करना आसान काम नहीं था। परन्तु राजदूतों ने यशोधरा (गोपा) नाम की एक असाधारण रूपवती और सुशील राजकुमारी को खोज ही निकाला। हालाँकि *ललितविस्तर*[37] में लिखा है कि राजकुमारी के पिता शाक्य दण्डपाणि अपनी बेटी का विवाह गौतम के साथ नहीं करना चाहते थे। उन्होंने राजा से कहा, 'राजन्! राजकुमार का लालन-पालन बहुत समृद्धि में हुआ है परन्तु हमारे परिवार की प्रथा रही है कि हम अपनी बेटी

---

* महात्मा बुद्ध ने बाद में '*मज्झिम निकाय*' के महासच्चक-सुत्त में महासच्चक को समाधि के अभ्यास के बारे में बताते हुए इस घटना का उल्लेख किया और कहा, 'मुझे याद है कि किस प्रकार शान्त-एकान्त वातावरण में सांसारिक विषय-भोगों और वासनाओं से विमुख होकर मैंने अपने पिता के बग़ीचे में जम्बू वृक्ष की ठण्डी-ठण्डी छाया के नीचे बैठे हुए ध्यानावस्था का अनुभव किया। (*MN*.i, p. 246)

का हाथ केवल उसके हाथ में देते हैं जो सभी कलाओं में निपुण हो। राजकुमार न तो ललित-कलाओं में निपुण हैं, न ही तलवारबाज़ी या धनुर्विद्या जैसी शस्त्र-कलाओं में।' यह सुनकर गौतम किसी भी कलाकार या योद्धा के साथ अपनी योग्यता के प्रदर्शन के लिए तैयार हो गये। इस अवसर के लिए पाँच सौ शाक्य युवक सामने आये और गौतम के साथ मुक़ाबला किया, परन्तु गौतम हर क्षेत्र में विजयी हुए। ये क्षेत्र चाहे लेखन, मुद्रण, गणित, दर्शनशास्त्र, व्यायाम, नृत्य, गायन, संगीत-वाद्य बजाने से सम्बन्धित थे या हाथी की सवारी करते हुए तीर चलाने, शस्त्र-अभ्यास या धनुर्विद्या से। आख़िर शाक्य दण्डपाणि ने गौतम की योग्यता का लोहा मानकर अपनी बेटी गोपा के विवाह की आज्ञा दे दी। यह विवाह बड़ी धूमधाम और राजसी ठाठ-बाट से सम्पन्न हुआ।

नवविवाहित दम्पति की सुख-सुविधा और आराम का पूरा ध्यान रखा गया और वे बड़े ही आनन्दपूर्ण वातावरण में अपना समय बिताने लगे। एक दिन राजकुमार का मनोरंजन करनेवाली दासियों के समूह ने उन्हें नगर के पास स्थित एक अद्भुत आनन्द उपवन के बारे में बताया। राजकुमार को ऐसा लग रहा था मानों वे घर में बन्द एक हाथी के समान हैं, इसलिए उन्होंने नगर के बाहर विहार करने का मन बनाया और सारथि को रथ तैयार करने का आदेश दिया। राजा को जब इस कार्यक्रम के बारे में पता चला तो उन्होंने राजकुमार के आनन्द-विहार की व्यवस्था करने का आदेश दिया और साथ ही यह भी आदेश दिया कि शाही मार्ग पर कोई भी ऐसा अप्रिय दृश्य न दिखाई दे जिससे राजकुमार का मन विचलित हो।

मृत्यु और पीड़ा का बोध

हर प्रकार की सावधानी बरतने पर भी ऐसा हुआ कि जब राजकुमार अपने रथ पर बैठकर जा रहे थे तो उन्होंने एक बूढ़े आदमी को देखा जिसका शरीर झुक गया था और दुर्बलता के कारण काँप रहा था। वह एक लाठी के सहारे धीरे-धीरे चल रहा था। राजकुमार ऐसे व्यक्ति को

देखकर बहुत हैरान हुए और उन्होंने सारथि से पूछा कि उस व्यक्ति के बाल, दाँत और पूरा शरीर ही बेढंगा-सा क्यों दिखाई दे रहा है? सारथि ने राजकुमार को समझाया कि बुढ़ापे में शरीर की यही दशा हो जाती है और बताया कि बुढ़ापा हरएक के जीवन में आता है, कोई भी उससे बच नहीं सकता। कहा जाता है कि सिद्धार्थ ने एकटक उस बूढ़े आदमी की ओर देखते हुए एक गहरी साँस ली, अपना सिर हिलाया और कहा:

> *तो इस प्रकार बुढ़ापा बिना कोई भेदभाव किए सभी मनुष्यों की स्मृति, सुन्दरता और शक्ति का नाश कर देता है! और फिर भी लोग अपनी आँखों के सामने ऐसी हालत देखते हुए विचलित नहीं होते! अगर हमारी यही अवस्था है तो बहुत हो चुकी आनन्द-उपवन की सैर। हे सारथि! घोड़ों का मुँह मोड़ दो और जल्दी घर वापस चलो।*[38]

जब राजकुमार अपने महल में वापस पहुँचे तो वे इतने व्याकुल थे कि उन्हें वही महल सूना-सूना लगने लगा। *बुद्धचरित* के अनुसार पाँच निर्मल स्वर्गों *(शुद्धाधिवास)* के देवताओं ने ही मिलकर राजकुमार को गृह-त्याग की प्रेरणा देने के लिए बूढ़े आदमी का भ्रम उत्पन्न किया था।

एक अन्य अवसर पर जब राजकुमार दूसरी बार आनन्द-विहार के लिए जा रथे थे, तब उन्होंने एक रोगी को देखा। *बुद्धचरित* के अनुसार 'उन्हीं देवताओं ने इस बार एक रोगी का भ्रम उत्पन्न किया था।'[39] राजकुमार ने बड़ी करुणा से उस आदमी की ओर देखा और जब उन्होंने अपने सारथि से यह सुना कि रोग और बीमारी तो किसी को भी आ सकते हैं तो उन्होंने धीमी आवाज़ में कहा:

> *तो यह है बीमारी का संकट जो लोगों को आ घेरता है। संसार यह देखता है फिर भी उसके आत्मविश्वास में कमी नहीं आती! लोग कितने अज्ञानी हैं जो निरन्तर रोगरूपी संकट से घिरे होने*

के बाद भी हर्षोल्लास में डूबे रहते हैं। बहुत हो चुका यह आनन्द-विहार! हे सारथि! रथ को मोड़ो और सीधे महल की ओर चलो। रोग के संकट के बारे में सुनकर मेरा मन हर्षोल्लास से उचाट हो गया है और अपने आप में ही डूबना चाहता है।[40]

तीसरी बार विहार करते हुए राजकुमार ने एक शव को देखा तो सारथि ने उन्हें मृत्यु का अर्थ समझाते हुए कहा कि मृत्यु किसी का लिहाज़ नहीं करती। राजकुमार बड़े निराश हो गये और उन्होंने दुःखी आवाज़ में कहा:

सभी के लिए यह अन्त निश्चित है, फिर भी संसार ने भय त्याग दिया है और इस सत्य की ओर ध्यान नहीं देता! वास्तव में, लोगों के दिल बड़े कठोर हैं क्योंकि विनाश के मार्ग पर बढ़ते हुए भी उन्हें कोई परेशानी नहीं हो रही। हे सारथि! रथ को मोड़ लो। यह समय और स्थान दोनों ही आनन्द-विहार के लिए नहीं हैं। एक विवेकशील व्यक्ति जिसको आनेवाले विनाश का ज्ञान हो वह मुसीबत की घड़ी में कैसे निश्चिन्त हो सकता है?[41]

हर बार जब आनन्द-उपवन के आधे रास्ते से ही राजकुमार महल को वापस लौट आये तो राजा को इस चिन्ताजनक घटना की सूचना दी गयी। इस पर राजा की चिन्ता बढ़ती गयी और उन्होंने एक तो राजकुमार के मनोरंजन के साधनों में बढ़ोतरी करा दी और साथ ही उनके रक्षकों की संख्या भी बढ़ा दी। परन्तु राजकुमार अब गम्भीर रहने लगे, वे नर्तकियों के नाच-गाने और संगीत की ओर उदासीन थे। राजा से प्रोत्साहन पाकर, उदायिन नाम का एक युवक राजकुमार का मन बहलाने के लिए आया। उसने जीवन के उन सभी विषय-भोगों में राजकुमार की रुचि जगाने का प्रयास किया जिनकी कामना सारा संसार करता है

और जो बड़ी आसानी से राजकुमार को उपलब्ध थे। इसलिए उदायिन ने राजकुमार को समझाया कि विषय-भोगों का यह अवसर हाथ से जाने नहीं देना चाहिए क्योंकि अगर राजकुमार इन्द्रिय-भोगों से अपने आप को दूर रखेंगे या पूरी तरह इनका सुख-भोगने से परहेज़ करेंगे तो उनका बल, सौन्दर्य और यौवन बिना फूलों के उपवन के समान नीरस हो जायेगा। राजकुमार ने उत्तर दिया:

ऐसी बात नहीं है कि मैं इन्द्रिय-भोगों से घृणा करता हूँ। मुझे यह भी ज्ञात है कि पूरा संसार इनके पीछे भागता है। परन्तु यह जानने के बाद कि ये सारे विषय-भोग क्षणभंगुर हैं, मुझे इनसे कोई ख़ुशी नहीं मिलती। अगर बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु, इन तीनों का वास्तव में अस्तित्व न होता तो मैं भी शायद इन्द्रिय-पदार्थों के सौन्दर्य का आनन्द लेता। अगर स्त्रियों की सुन्दरता सदा रहनेवाली होती तो बुराई की ओर ले जानेवाली इन काम-वासनाओं से मेरा मन अवश्य आनन्द प्राप्त करता..., बुढ़ापा बीमारी और मृत्यु से अभिशप्त वे सभी व्यक्ति निश्चय ही पशु-पक्षियों के समान हैं जो बिना विचलित हुए ऐसे व्यक्तियों के साथ विषय-भोगों में लीन हैं जो स्वयं इन मुसीबतों का शिकार हैं...

ऐसी स्थिति में तुम (उदायिन) मुझे बुरी वासनाओं में मत उलझाओ, क्योंकि मैं दुःखों से पीड़ित हूँ और बुढ़ापे तथा मृत्यु को प्राप्त होना ही मेरी नियति है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि तुम्हारा मन दृढ़ और अडिग है और तुम्हें क्षणभंगुर इन्द्रिय विषय-भोगों में आनन्द प्राप्त होता है। ऐसे भयानक संकटों के बीच भी तुम इन्द्रिय भोगों में लिप्त हो। जबकि तुम्हारी आँखों के सामने सारा संसार मृत्यु का निवाला बनता जा रहा है। दूसरी ओर मैं भयभीत हूँ और बुढ़ापे, बीमारी तथा मृत्यु के बारे में

सोचकर अत्यन्त व्याकुल और चिन्तित हूँ। आनन्द तो बड़ी दूर की बात है, मुझे तो यहाँ न शान्ति मिल रही है और न ही सन्तोष, क्योंकि मुझे पूरा संसार एक जलती हुई भट्टी के समान प्रतीत हो रहा है।[42]

गृह त्याग

अब तक यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि राजकुमार के हृदय में सांसारिक भोगों के प्रति विरक्ति की भावना गहरी जड़ें जमा चुकी थी। यह सोचकर कि शायद वन के एकान्त वातावरण में शान्ति मिल जाये, राजकुमार राजा से आज्ञा लेकर कुछ विश्वसनीय मन्त्री-पुत्रों के साथ, जो इसीलिए चुने गए थे कि वे मनोरंजक कथा-कहानियाँ सुनाने में बड़े कुशल थे, राज्य के पास वाले वन में चले गये। इस बार राजकुमार ने एक तापस को देखा। उन्होंने तापस से उसका परिचय पूछा। तापस ने उत्तर दिया:

चूँकि संसार का विनाश निश्चित है इसलिए मैं मुक्ति की खोज में हूँ– वह परम आनन्द की अवस्था है जो विनाश से परे है। मेरे लिए सगे-सम्बन्धी और अजनबी सब एक जैसे हैं और इन्द्रिय-भोगों से मुझे न कोई लगाव है, और न ही मैं इनसे घृणा करता हूँ। मैं जिस स्थान पर होता हूँ, वहीं रह लेता हूँ, फिर चाहे वह वृक्ष की छाया हो, कोई वीरान स्थान हो, पहाड़ों पर हो या जंगल में। मेरी कोई निजी सम्पत्ति नहीं है, न ही मेरी कोई आशाएँ हैं। परम लक्ष्य की प्राप्ति में दृढ़संकल्प होकर मैं भ्रमण करता रहता हूँ और जो भी भिक्षा मिलती है, उसे ग्रहण कर लेता हूँ।[43]

इस उत्तर से राजकुमार को संकेत मिला कि उन्हें स्थायी आनन्द और शान्ति की खोज करनी चाहिए और उन्होंने महल छोड़कर वैराग्य

धारण करने का निश्चय कर लिया। गृह-त्याग के विचारों में डूबे हुए वे जंगल से लौट आये।

शीघ्र ही राजा शुद्धोदन को यह सूचना मिली कि राजकुमारी यशोधरा ने एक पुत्र को जन्म दिया है। राजा ने प्रसन्नतापूर्वक तुरन्त सन्देशवाहक से यह सुखद समाचार राजकुमार तक पहुँचाने को कहा। कहा जाता है कि यह समाचार सुनकर राजकुमार बोल उठे, 'राहुल!' (एक ग्रहण)। हो सकता है कि इससे उनका अभिप्राय घर और परिवार से उन्हें बाँधने के लिए एक और बंधन से रहा हो। जब राजा को पता चला कि राजकुमार के मुख से 'राहुल' शब्द निकला है तो उन्होंने कहा कि वे अपने पोते का नाम 'राजकुमार राहुल' रखेंगे। महल में धूमधाम से उत्सव और समारोह मनाये जाने लगे। परन्तु सिद्धार्थ राजमहल छोड़ने के लिए और अधिक आतुर होते जा रहे थे।

उन्हें लगा कि अपने पिता की आज्ञा के बिना उन्हें महल नहीं छोड़ना चाहिए। इसलिए वे अपने पिता के पास गये और बड़े सम्मानपूर्वक उनसे मोक्ष-प्राप्ति के लिए महल छोड़ने की आज्ञा माँगी। ये शब्द सुनकर राजा बहुत निराश हो गये, उनका गला भर आया और उन्होंने बहुत भावुक होकर कहा:

प्रिय पुत्र! ऐसी बातें मत करो। तुम्हारे लिए यह समय सब कुछ त्यागकर धर्म को अपनाने (आध्यात्मिक साधना करने) का नहीं है। क्योंकि कहा जाता है कि युवावस्था के आरम्भ में जब मन पूरी तरह सन्तुलित नहीं होता, धर्म के मार्ग पर चलने में बहुत ख़तरा है... हे धर्म के प्रति प्रेम रखने वाले मेरे पुत्र! तुम्हें राजपाट सौंपकर अब धर्म के मार्ग पर चलने का समय मेरा है। प्रजा की प्रेमानुरक्त आँखें तुम पर टिकी हैं, इसलिए तुम अपना यह हठ छोड़ दो। इस समय तुम अपने गृहस्थ-धर्म का पालन करो। वन की ओर प्रस्थान करना उसी व्यक्ति के लिए अनुकूल होता है जिसने युवावस्था का सुख भोग लिया हो।[44]

राजा ने बड़े दुःखी मन से राजकुमार को कहा कि उन्हें राज-परिवार पर, अपने आप पर और अपने राज्य पर दया करनी चाहिए। राजा ने यह भी कहा कि राजकुमार जो भी माँगेंगे, वे उसे सब देने को तैयार हैं। इस पर मृदुभाषी भावी बुद्ध ने कहा:

> *हे राजन्! मैं चार वरदान चाहता हूँ। यदि आप दे सकते हैं तो कृपया ये चार वरदान मुझे दें। तब मैं यहीं रहूँगा, मैं इस महल का त्याग नहीं करूँगा और हमेशा आपकी नज़रों के सामने रहूँगा। मैं चाहता हूँ कि मुझे बुढ़ापा कभी न आये और मेरा यौवन, सौन्दर्य तथा आकर्षक रंग-रूप सदा बना रहे; मैं सदा स्वस्थ रहूँ और मुझे कभी कोई रोग न सताये; मेरे जीवन का कभी अन्त न हो और मुझ पर कभी कोई संकट न आये।*

ये शब्द सुनकर, राजा बहुत दुःखी और हताश हुए। उन्होंने कहा:

> *'तुम जो माँग रहे हो वह कोई भी नहीं दे सकता। ये मेरी सामर्थ्य के बाहर हैं।'*

राजकुमार ने उत्तर दिया:

> *हे राजन्! यदि आप मुझे ये चार वरदान नहीं दे सकते जिनसे मैं बुढ़ापे, बीमारी, मृत्यु और विपत्ति से मुक्त हो सकूँ तो कृपया एक और वरदान के बारे में सुन लीजिये जिसकी मुझे इच्छा है। मैं चाहता हूँ कि यह शरीर त्यागने के बाद मेरा फिर से जन्म न हो।*[45]

राजा ने एक बार फिर राजकुमार को कहा कि वे यह विचार त्याग दें, क्योंकि यह सब असंगत लगता है। इस पर राजकुमार ने बड़ी नम्रता, लेकिन दृढ़तापूर्वक कहा:

> *जो व्यक्ति अपने आप को बचाने के लिए जलते हुए मकान से बाहर निकलना चाहता है, उसे वहाँ रोके रखना उचित नहीं है। यह देखते हुए कि प्रियजनों से बिछुड़ना इस संसार का एक अटल नियम है, क्या यह उचित नहीं है कि मैं धर्म की ख़ातिर ख़ुद ही अपने प्रियजनों का साथ छोड़ दूँ? क्या मृत्यु मुझे असहाय अवस्था में सबसे अलग नहीं कर देगी और मुझे निराश छोड़कर अपना लक्ष्य प्राप्त किये बिना यहाँ से जाना नहीं पड़ेगा?*[46]

राजा ने इस चर्चा को आगे नहीं बढ़ाया और राजकुमार अपने संकल्प के बारे में पिता को बताकर महल वापस लौट आये परन्तु अब राजा ने राजकुमार के अंगरक्षकों को और सतर्क कर दिया और उनकी संख्या भी बढ़ा दी। उधर रानी महाप्रजावती ने राजकुमार को हमेशा आनन्दित और प्रसन्नचित्त रखने के लिए नर्तकियों और संगीतज्ञों को अपनी उत्कृष्ट कला के प्रदर्शन का आदेश दिया।

राजमहल का त्याग

राजकुमार अब महल छोड़ने का संकल्प कर चुके थे। उन्हें अपने आसपास के किसी व्यक्ति या वस्तु में रुचि नहीं रही थी। रात के समय जब दासियों ने देखा कि राजकुमार चुपचाप आँखें मूँदकर लेटे हुए हैं और उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दे रहा, तो वे भी उनके आसपास वहीं सो गयीं। राजकुमार सोये नहीं थे, वे वास्तव में जाग रहे थे, उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और देखा कि अस्त-व्यस्त स्थिति में दासियाँ उनके आसपास सोयी हुई हैं। यह दृश्य देखकर उनका मन घृणा से भर गया। वे चुपचाप राजमहल से उतरकर सीधे अस्तबल (घुड़साल) की तरफ़ गये। वहाँ उन्होंने साईस छंदक को जगाया और उसे अपने तेज़ दौड़नेवाले घोड़े कण्ठक को तैयार करने का आदेश दिया।

जाने से पहले राजकुमार अपने बेटे को देखना चाहते थे, इसलिए जब तक छंदक घोड़े को तैयार करता, वे उस कमरे में गये जहाँ राहुल

अपनी माँ के साथ सो रहा था। राजकुमार ने कमरे का दरवाज़ा खोला, अन्दर सुगन्धित तेल वाला दीपक जल रहा था। उन्होंने देखा कि राहुल की माँ बच्चे के मुख पर हाथ रखकर सो रही थीं। राजकुमार ने सोचा कि यदि वे अपने पुत्र का मुख देखने के लिये अपनी पत्नी का हाथ हटाते हैं, तो उनकी पत्नी नींद से जाग जायेंगी और इससे उनके गृह-त्याग में एक बहुत बड़ी बाधा खड़ी हो जायेगी। इसलिए उन्होंने उस समय चले जाने का निश्चय किया और सोचा कि सम्बोधि की प्राप्ति के बाद ही वे अपने पुत्र को देखने वापस आयेंगे। '*जातक*' कथाओं के अनुसार, राजकुमार राहुल उस समय केवल सात दिन के थे।[47]

राजकुमार तुरन्त वापस लौट गये और उस स्थान पर पहुँचे जहाँ छंदक घोड़े के साथ तैयार खड़ा था। छंदक को अपने साथ लेकर राजकुमार ने महल छोड़ दिया। दैवयोग से उस समय हर कोई गहरी नींद में सोया रहा, घोड़े के टापों की गूँजती आवाज़ भी दबकर रह गयी और सारे दरवाज़े खुल गये। राजकुमार जब बिना किसी बाधा के नगर से बाहर पहुँच गये तब उन्होंने पीछे मुड़कर देखा। आषाढ़ (जुलाई) पूर्णिमा की रात में पूरा नगर जगमगा रहा था। राजकुमार उस समय पूर्ण युवावस्था में थे, उनकी आयु 29 (उन्नतीस) वर्ष थी। फिर भी ज्ञान प्राप्ति का उनका संकल्प दृढ़ और अटल था। जैसा कि *ललितविस्तर* में कहा गया है:

> *अपने महल की ओर देखते हुए इस अत्यन्त विवेकशील राजकुमार ने मधुर आवाज़ में कहा, 'जन्म और मरण के चक्र से छुटकारा दिलानेवाले पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के बिना मैं कपिलवस्तु में प्रवेश नहीं करूँगा।'*[48]

राजकुमार सिद्धार्थ ने राजपाट का त्याग केवल आध्यात्मिक ज्ञान की खोज के लिए किया। बौद्ध परम्परा में यह आम धारणा है कि पहले हो

चुके सभी सम्भावित बुद्धों (बोधिसत्त्वों) ने सही मार्ग की खोज के लिए अपनी युवावस्था में ही गृह-त्याग किया था। वास्तव में *मज्झिम निकाय* के *संगरव सुत्त* (संस्कृत: *संगरव सूत्र*) में महात्मा बुद्ध ने कहा है:

> *गृहस्थ-जीवन बन्धनों और उलझनों से भरा होता है; जबकि गृहस्थ-जीवन का त्याग करनेवाला मुक्त होता है। घर-गृहस्थी में रहते हुए, ऐसा पवित्र जीवन जीना आसान नहीं है जो चमचमाती सीप के समान परिपूर्ण और पवित्र हो।*[49]

फिर भी जिन्हें सच्चे मार्ग की तलाश है, उन सबके लिए अपनी घर-गृहस्थी का त्याग करना आवश्यक नहीं है। *मज्झिम-निकाय* के सुभ-सुत्त में महात्मा बुद्ध ने कहा है:

> *मैं एकतरफ़ा बात नहीं करता...चाहे गृहस्थी हो या त्यागी, जो भी सही तरीक़े से अभ्यास करता है, मैं उसका गुणगान करता हूँ, क्योंकि गृहस्थ हो या त्यागी, जो सही तरीक़े से अभ्यास कर रहा है, वह अभ्यास द्वारा उस सच्चे मार्ग पर आगे बढ़ रहा है जो धम्म है और जो कल्याणकारी है।*[50]

मुख्य उद्देश्य अपने घर और परिवार को त्यागना नहीं है, बल्कि सभी दुनियावी बन्धनों से मुक्त होकर सत्य का ज्ञान प्राप्त करना है। उचित मार्गदर्शन द्वारा और पूरी लगन से सही मार्ग पर चलकर मनुष्य गृहस्थ होकर भी अपने आप सभी दुनियावी पदार्थों से विरक्त हो जाता है और उसे सत्य के ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। वैशाली का प्रसिद्ध गृहस्थ विमलकीर्ति इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। महात्मा बुद्ध से निर्देश प्राप्त करने के बाद उसने पूरी लगन से परमार्थ साधना की और पूर्णता को प्राप्त किया। *विमलकीर्ति निर्देश सूत्र* में कहा गया है:

महात्मा बुद्ध के अलौकिक तेज के प्रभाव में रहते-रहते उसका मन एक विशाल सागर के समान विस्तृत हो गया था। सभी बुद्धों ने उसका गुणगान किया और इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओं ने भी उसका सम्मान किया।[51] *

परवर्ती बौद्धधर्म में हमें आध्यात्मिक ज्ञानप्राप्त बौद्ध गृहस्थ-भक्तों के और भी कई उदाहरण मिलते हैं जिन्हें 'गृहस्थ-भिक्षु' और 'गृहस्थ भिक्षुणियाँ' कहा गया है। यह याद रखना चाहिए कि राजकुमार सिद्धार्थ ने अपना महल उस समय छोड़ा जिस समय वे अभी मार्ग की खोज में ही थे। उस समय घर-गृहस्थी का त्याग करना पवित्र जीवन जीने के लिए बढ़ाया जानेवाला पहला क़दम समझा जाता था। बुद्ध ने इस तरह की जीवन शैली का उल्लेख सैकड़ों-हज़ारों संन्यासियों के सन्दर्भ में किया है जो आधे-अधूरे गुरुओं के मार्गदर्शन में हठयोग और अन्य धार्मिक क्रियाओं का अभ्यास करते हैं या बिना किसी गुरु के केवल भटकते रहते हैं। मार्ग की खोज करने के पश्चात् सम्बोधि प्राप्त करके सिद्धार्थ अपनी राजधानी कपिलवस्तु वापस आये और वहाँ अपने पिता तथा अन्य बन्धु-बान्धवों से मिले, अपनी पत्नी तथा पुत्र के पास गये और अपनी उस महान् उपलब्धि से सबको लाभान्वित किया जो उन्हें कठोर परिश्रम के फलस्वरूप प्राप्त हुई थी। इसकी चर्चा आगे की गयी है।

छंदक से विदा लेना

फिर से कहानी की ओर मुड़ते हुए, राजकुमार सिद्धार्थ और छंदक सुबह होने तक तेज़ दौड़ने वाले घोड़े पर सवारी करते रहे। जब उन्हें एक आश्रम दिखाई दिया, तब वे दोनों घोड़े से नीचे उतरे। राजकुमार ने अपने रत्न-जड़ित आभूषण उतारकर छंदक को दे दिये और उसे घोड़ा लेकर वापस महल

* इन्द्र देवताओं के राजा हैं। ब्रह्मा रचना करनेवाले हैं और हिन्दू-धर्म के पावन त्रिदेवों में से प्रथम देवता हैं।

लौट जाने को कहा। उन्होंने छंदक के द्वारा अपने पिता और राज्य की प्रजा को यह सन्देश भिजवाया कि वे उनके लिए दुःखी न हों क्योंकि उन्होंने नाराज़ होकर या प्रेम की कमी के कारण घर नहीं छोड़ा है; परन्तु उनके घर छोड़ने का उद्देश्य केवल बुढ़ापे, रोग और मृत्यु पर विजय पाना है। *बुद्धचरित* के अनुसार उन्होंने अपने पिता को निम्नलिखित सन्देश भेजा:

मैंने जन्म और मृत्यु पर विजय पाने के लिए वन की ओर प्रस्थान किया है और यह निश्चित है कि ऐसा मैंने स्वर्ग पाने की इच्छा या आपके प्रति प्रेमभाव की कमी से या नाराज़ होकर नहीं किया है। इसलिए आप मेरे लिए दुःखी न हों। भले ही एक-दूसरे का साथ कितना ही लम्बा क्यों न हो, एक न एक दिन सबको एक-दूसरे से बिछुड़ना होगा... आपको मेरे लिए दुःखी नहीं होना चाहिए क्योंकि मैंने हर प्रकार के दुःख से छुटकारा पाने के लिए ही गृह त्याग किया है। दुःख तो उनके लिए करना चाहिए जो वासनाओं के वश में हैं और लोभवश उन इन्द्रिय-पदार्थों में लिप्त हैं जो दुःख के मूल कारण हैं... अगर आपको लगता है कि मैंने ग़लत समय पर वन की ओर प्रस्थान किया है तो मैं केवल यही कहना चाहूँगा कि धर्म के मार्ग पर चलने के लिए कोई भी समय अनुचित नहीं होता, क्योंकि हमारे जीवन में कुछ भी निश्चित नहीं है और न ही हमारा इस पर कोई वश है। इसलिए मेरा संकल्प है कि मैं आज से ही परमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयास आरम्भ कर दूँ। क्योंकि जब मैं निरन्तर मृत्यु को अपने सामने देखता हूँ तो फिर जीवन पर क्या भरोसा किया जा सकता है?[52]

परन्तु छंदक की आँखों से आँसू बह रहे थे, उसने राजकुमार से प्रार्थना की कि वे अपने प्यारे और वृद्ध पिता, जिन्हें अपने पुत्र से बेहद प्यार है, उनका ख़्याल करें और उन्हें छोड़कर न जायें। उन्हें अपनी पालन-पोषण करनेवाली माता का ध्यान करना चाहिए जिन्होंने उनके लालन-पालन में

अपने आप को पूरी तरह समर्पित कर दिया; कपिलवस्तु के निवासियों की ओर ध्यान देना चाहिए जो उन्हें राज्य का उत्तराधिकारी मानते हैं और उन्हें दीन छंदक के बारे में सोचना चाहिए जिसके लिए राजकुमार ही सब कुछ हैं। परन्तु राजकुमार ने बिना विचलित हुए बड़े दृढ़ शब्दों में कहा:

> *हे छंदक! मुझसे बिछुड़ने पर शोक न करो। जिसने भी शरीर धारण किया है, उसके लिए बिछुड़ना एक अटल नियम है और इसी कारण प्राणी आवागमन के चक्र में घूमता रहता है। अगर मैं प्रेमवश अपनी इच्छा से अपने बन्धु-बान्धवों को नहीं छोड़ता हूँ, तो भी मेरी इच्छा के विरुद्ध किसी दिन मृत्यु बड़ी निर्ममता से मुझे उनसे अलग कर देगी। मेरी माता के बारे में सोचो जिसने इतना कष्ट सहन करके बड़े चाव से अपने गर्भ में मेरा पोषण किया था। उसका कष्ट अब निष्फल सिद्ध हो गया है। अब उसके लिए मैं क्या हूँ और वह मेरे लिए क्या है? जिस प्रकार पक्षी एक वृक्ष पर घोंसले बनाकर इकट्ठे रहते हैं और फिर अलग-अलग दिशाओं में उड़ जाते हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियों का साथ है जिनका बिछुड़ना अन्त में निश्चित है...*
>
> *चूँकि इस संसार में मिलने और बिछुड़ने का सिलसिला लगातार चलता रहता है, इसलिए यह सोचना कि 'यह मेरा है' मूर्खता है और अनुचित भी है। इस संसार में प्राणी हमेशा के लिए साथ नहीं रहते, यह तो स्वप्न के समान है...जब स्थिति ही ऐसी है तो हे मेरे प्यारे मित्र! तुम शोक न करो और अब लौट जाओ। कपिलवस्तु के लोगों को जो मुझसे बहुत प्रेम करते हैं, तुम यह सन्देश देना: राजकुमार के प्रति इतना अधिक मोह न रखो और उनके दृढ़ संकल्प को ध्यान से सुन लो। वे या तो जन्म-मरण के बन्धन पर विजय प्राप्त करके फिर जल्दी ही आपके पास वापस लौट आयेंगे या फिर उचित प्रयास की कमी और लक्ष्य की प्राप्ति करने में असफल होने के कारण मर मिटेंगे।*[53]

इसके बाद राजकुमार ने छंदक के हाथ से तेज़ धार वाली तलवार लेकर अपने सुन्दर केश काटकर हवा में उड़ाकर फेंक दिये, क्योंकि उन्हें लगा कि एक वैरागी के जीवन में केश की आवश्यकता नहीं है। राजकुमार ने एक शिकारी से अपने वस्त्र बदल लिये जो अचानक ही वहाँ पहुँच गया था। उसे अपने सुन्दर कढ़ाईवाले रेशमी वस्त्र देकर स्वयं उसका खुरदुरा केसरी रंग का चोगा पहन लिया। दोनों एक-दूसरे के साथ वस्त्र बदलकर बहुत प्रसन्न थे। इस प्रकार वैरागी का भेष धारण करके राजकुमार छंदक के रोने-धोने को अनदेखा करके ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग की खोज में पूरी दृढ़ता से चल पड़े।

छंदक बड़े व्यथित हृदय से राजकुमार के गृह-त्याग का दुःखद समाचार लेकर भारी मन से कपिलवस्तु वापस लौट आया। रोते हुए उसने राजकुमार के दृढ़ संकल्प के बारे में बताया। पूरे राज्य में शोक की लहर छा गयी। राजा शुद्धोदन, रानी महाप्रजावती और विशेषकर राजकुमारी यशोधरा के विषाद की कोई सीमा नहीं थी। उन्हें लगा कि जिस प्रकार एक शक्तिशाली हाथी बड़े-बड़े वृक्षों को तहस-नहस कर देता है, उसी प्रकार वे भी पूरी तरह नष्ट हो गये थे। राजकुमार की तलाश के लिए हर दिशा में सैनिक भेजने की तैयारी की गयी परन्तु *ललितविस्तर* के अनुसार, कुछ बुद्धिमान् व्यक्तियों ने राजा को ऐसा करने से रोका, क्योंकि छंदक ने यह स्पष्ट कर दिया था कि राजकुमार का यह संकल्प कि वे सम्बोधि प्राप्त किये बिना कपिलवस्तु वापस नहीं लौटेंगे, अटल है और उन्हें घर लाना असम्भव है।[54]

बुद्धचरित के अनुसार राजा ने फिर भी राजकुमार को खोजने और वापस लाने का हर सम्भव प्रयास करने के लिए अपने विश्वसनीय सलाहकार और राजपुरोहित को उचित सहायक-दल के साथ भेजने का निर्णय किया। वे उस आश्रम तक गये जहाँ छंदक ने राजकुमार से विदा ली थी। वहाँ रहनेवाले तापसों ने उन्हें बताया कि राजकुमार उनके आने से पहले आराड़ कालाम के आश्रम की ओर चले गये थे। आराड़ कालाम एक सांख्य (भारतीय दर्शन-शास्त्र के छः दर्शनों में से एक) गुरु थे जो मगध साम्राज्य की राजधानी राजगृह के निकट रहते थे।[55] उनके आश्रम

की ओर जाते हुए राजा के दल ने राजकुमार को सड़क के किनारे एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए देखा। राजकुमार ने उनकी प्रार्थना को बड़े शान्त मन से सुना और कहा कि उनकी बातें भावनाओं से पूर्ण हैं, विवेकपूर्ण नहीं। इसलिए उन्होंने फिर से अपना दृढ़ संकल्प दोहराया:

> *सूरज धरती पर उतर सकता है, हिमालय पर्वत की शृंखलाएँ अपनी स्थिरता खो सकती हैं परन्तु मैं एक गृहस्थ के रूप में, जिसे सत्य का ज्ञान नहीं है और जिसकी इन्द्रियाँ केवल संसारी वस्तुओं की ओर लगी हुई हैं, अपने परिवार में वापस नहीं लौटूँगा। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के बिना घर वापस लौटने से अच्छा होगा कि मैं जलती आग में प्रवेश कर जाऊँ।*[56]

हताश होकर राजा के सलाहकार और राजपुरोहित कपिलवस्तु लौट आये। उन्होंने कुछ विश्वसनीय व्यक्तियों को वहीं छोड़ दिया ताकि वे छिपकर देखें कि राजकुमार कहाँ जाते हैं और किस हालत में हैं।

आध्यात्मिक अभ्यास

राजकुमार आराड़ कालाम के आश्रम में पहुँचे जहाँ उनका स्वागत किया गया और उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार करके आध्यात्मिक अभ्यास का प्रशिक्षण दिया गया। राजकुमार ने पूरी लगन और पवित्र मन से एकान्त में आन्तरिक अभ्यास किया और शीघ्र ही उस अभ्यास में पूरी तरह पारंगत हो गये। आराड़ अपने नये शिष्य की सफलता से बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें अपने बराबर मानते हुए तीन सौ शिष्यों के समूह का नेतृत्व करने को कहा। परन्तु राजकुमार को लगा कि अभ्यास की इस विधि द्वारा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए बड़े सम्मानपूर्वक आज्ञा लेकर राजकुमार एक अन्य आचार्य उद्रक रामपुत्र के आश्रम की ओर चल पड़े। यहाँ पर भी उनका बड़ा स्वागत हुआ और अभ्यास की ऐसी विधि बतायी गयी जिसके द्वारा उन्हें इससे भी ऊँची अवस्था प्राप्त हो। सिद्धार्थ इस

अभ्यास में भी शीघ्र ही पारंगत हो गये। यहाँ भी उनके गुरु ने उन्हें बराबरी का दर्जा देकर और उनके साथ मिलकर सात सौ शिष्यों के बड़े समूह का नेतृत्व करने को कहा। परन्तु इस बार फिर सिद्धार्थ को इस विधि से भी पूरी सन्तुष्टि नहीं हुई, इसलिए उन्होंने यह स्थान भी छोड़ दिया और पूर्ण ज्ञान का लक्ष्य सामने रखकर आगे चल पड़े।

मगध के साम्राज्य में से गुज़रते हुए और मार्ग में कई तापसों से भेंट करते हुए राजकुमार सिद्धार्थ 'गया' पहुँच गये। वहाँ पर उरुवेला (उरुविल्व) क्षेत्र में सेनानी नाम के गाँव में उन्होंने एकान्त स्थान खोजा जहाँ वे कुछ समय बिता सकें। उद्रक रामपुत्र के पाँच शिष्य जो अपने गुरु द्वारा बतायी विधि के अनुसार आध्यात्मिक अभ्यास कर रहे थे, सिद्धार्थ की तीव्र आध्यात्मिक उन्नति से बहुत प्रभावित हुए। इस आशा में कि सिद्धार्थ पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेंगे, वे उरुवेला तक उनके पीछे-पीछे आ पहुँचे। यहाँ उन्हें स्वच्छ जल और छायादार उपवनों वाली कल-कल बहती निरञ्जना नदी के किनारे सुखदायी वृक्षों के झुरमुटों वाले सुन्दर शान्त स्थान दिखाई दिये। आसपास के गाँवों से उन्हें भिक्षा भी मिल सकती थी। सिद्धार्थ ने पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिए वहीं रहकर अथक प्रयास करने का निश्चय किया।

राजकुमार सिद्धार्थ ने तापसों को कई प्रकार के तप और उपवास आदि करते हुए देखा था। यह सोचकर कि अपने आप को कष्ट देना आत्म-शुद्धि प्राप्त करने का एक साधन है जिससे आन्तरिक ज्ञान की प्राप्ति होगी, सिद्धार्थ ने भी कड़े संयम, तप और लम्बे उपवास आदि क्रियाओं का अभ्यास आरम्भ कर दिया। इसके फलस्वरूप उनका शरीर इतना दुर्बल हो गया कि वे हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गये और मृतप्राय: दिखने लगे। पूरे छ: साल तक इस प्रकार का कठिन तप करने के बाद उन्हें यह बोध हुआ कि शरीर को इस प्रकार कष्ट देने से केवल उनकी शारीरिक क्षमता कम हो रही है। इसलिए यह आन्तरिक ज्ञान प्राप्त करने की सही विधि नहीं हो सकती। इसके लिए कोई और विधि अवश्य होगी। उन्होंने सोचा कि आराड़ कालाम और उद्रक रामपुत्र के आध्यात्मिक अभ्यास की विधि पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं थी परन्तु ये

अभ्यास कम से कम आध्यात्मिक उन्नति में सहायक तो थे और इनके द्वारा उन्हें कुछ आन्तरिक अनुभव भी हुए थे। उन्हें याद आया कि किस प्रकार अपने पिता के घर में रहते हुए जब वे हल जुताई के उत्सव में गये थे तो उन्हें जम्बू वृक्ष के नीचे एकान्त में पलथी मारकर बैठे-बैठे प्रथम आनन्दमय आन्तरिक अनुभूति हुई थी। इसलिए सिद्धार्थ ने आध्यात्मिक अभ्यास की उसी विधि को फिर से अपनाने का निश्चय किया।

परन्तु आध्यात्मिक अभ्यास को भलीभाँति करने के लिए उन्हें और अधिक शारीरिक शक्ति की आवश्यकता थी, क्योंकि जब तक शरीर का उचित ढंग से पोषण न किया जाये और मन व्यर्थ के तनाव से मुक्त न हो, तब तक एकाग्रचित्त होना बहुत कठिन है। इसलिए सिद्धार्थ ने फलों का रस, चावल का माँड़ और फिर धीरे-धीरे ठोस भोजन लेना आरम्भ कर दिया। यह देखकर उद्रक रामपुत्र के पाँचों शिष्य जो उरुवेला तक सिद्धार्थ के पीछे-पीछे आये थे, बहुत निराश हुए। ये शिष्य सिद्धार्थ के कठोर तप के दौरान यह सोचकर उनका ध्यान रखते रहे कि पूर्ण ज्ञानप्राप्ति के बाद वे उन्हें भी ज्ञान प्रदान करेंगे और लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक होंगे। परन्तु अब उन्होंने यह सोचकर सिद्धार्थ का साथ छोड़ दिया कि वे असफल हो गये हैं और आराम का जीवन जीना चाहते हैं। इसलिए वे वाराणसी के निकट मृगदाव ऋषिपतन (सारनाथ) की ओर चल दिये।

पूर्ण ज्ञान की खोज में

थोड़े ही समय में सिद्धार्थ शारीरिक रूप से पहले की तरह सुन्दर और स्वस्थ हो गये। वैशाख महीने की पूर्णिमा के दिन, वे अपना नित्य का अभ्यास करके सुबह उठे, शौच-स्नानादि से निवृत्त होकर वे एक पीपल के पेड़ के नीचे चुपचाप बैठकर भिक्षा के लिए जाने के समय की प्रतीक्षा करने लगे। उन्हें इस बात की जानकारी नहीं थी कि स्थानीय निवासी इस पेड़ को पवित्र मानते हैं। सेनानी गाँव के मुखिया की बेटी सुजाता ने पेड़ के देवता से प्रार्थना की थी कि प्रथम सन्तान के रूप में उसे

पुत्र की प्राप्ति हो। उसने पुत्र को ही जन्म दिया और उस दिन वह पेड़ के देवता को दिया गया वचन पूरा करने के लिये खीर का भोग लगाने आयी थी जिसे उसने बड़ी श्रद्धा से तैयार किया था। जब वह वहाँ पहुँची तो उसने इस पवित्र पेड़ के नीचे एक शान्त गम्भीर व्यक्ति को बैठे हुए देखा जिसके मुख-मण्डल पर बहुत तेज था। उसने सोचा कि उसके हाथों से भोग ग्रहण करने के लिए पेड़ के देवता ने साकार रूप धारण किया है। बड़ी प्रसन्नता से उसने सिद्धार्थ के सामने खीर का कटोरा रख दिया। सिद्धार्थ ने यह भेंट स्वीकार कर ली। अपने स्थान से हिले-डुले बिना ही यह विशेष भोजन पाकर वे बहुत सन्तुष्ट हुए।

सिद्धार्थ द्वारा ग्रहण किया जानेवाला यह उस दिन का अन्तिम आहार था जिसे ग्रहण कर वे संध्या समय परिपूर्णता प्रदान करनेवाली समाधि की अवस्था में बैठे। इसी समाधि की अवस्था में उन्हें पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई। उनकी जीवनी लिखनेवाले कुछ लेखकों का मानना है कि लम्बे समय तक कठिन तप और उपवास करने के बाद सिद्धार्थ द्वारा ग्रहण किया गया यह पहला भोजन था। जो भी हो, कहा जाता है कि भावी महात्मा बुद्ध को इस निर्णायक समय में ऐसा स्वादिष्ट आहार देने के लिए सुजाता को बहुत पुण्य प्राप्त हुआ। सिद्धार्थ ने अपने आप को इस विशेष समाधि की अवस्था के लिए इस प्रकार तैयार किया: उन्होंने एक घास काटनेवाले से ताज़ी घास इकट्ठी की, पवित्र पीपल के पेड़ के नीचे घास को बिछाकर आसन बनाया और पलथी लगाकर इस संकल्प के साथ बैठ गये:

इहासने शुष्यतु मे शरीरं, त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु ।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्प दुर्लभं नैवासनात् कायमेतत् चलिष्यति ॥

चाहे मेरा शरीर सूख जाये, मेरी चमड़ी, हड्डियाँ और मांस गल जायें, फिर भी यह शरीर इस आसन से तब तक नहीं डिग सकता जब तक मैं उस पूर्ण ज्ञान को प्राप्त न कर लूँ जिसे कई युगों में भी प्राप्त करना कठिन है।[57]

सिद्धार्थ के संकल्प से मार (जो जीवों को संसार के लोभ में भुलाये रखता है) भयभीत हो गया; उसे डर लगने लगा कि यदि सिद्धार्थ को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया और उन्होंने उस ज्ञान के बारे में सारे संसार को बता दिया तो उसका लोक उजड़ जायेगा। पहले उसने मित्र बनकर सिद्धार्थ को इस प्रकार के व्यर्थ के प्रयास में न उलझने की सलाह देते हुए कहा, 'आपके लिए पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।'[58] इसके अतिरिक्त मार ने यह भी कहा कि यदि सिद्धार्थ घर वापस लौट जायें तो धनवान् होने के कारण वे बहुत-से धार्मिक अनुष्ठान और दान आदि कार्य कर सकेंगे। इस प्रकार संसार में राजसी सुख भोगते हुए वे भविष्य में स्वर्गिक आनन्द भी प्राप्त कर लेंगे। जब सिद्धार्थ ने दृढ़तापूर्वक मार को इस प्रकार के कथन को बन्द करने के लिये कहा तो मार ने अपने आसुरी-दल को इकट्ठा किया और सिद्धार्थ पर आक्रमण कर दिया। परन्तु मार और उसके आसुरी-दल के लिए सिद्धार्थ को हराना असम्भव था क्योंकि सिद्धार्थ के पास पवित्रता और प्रज्ञारूपी हथियार थे और वे अपने दृढ़ संकल्परूपी कवच द्वारा पूरी तरह सुरक्षित थे। आख़िर मार हार गया और उसकी अन्धकारमय शक्तियाँ तितर-बितर हो गयीं।

सम्यक् सम्बोधि अथवा निर्वाण की प्राप्ति

हर प्रकार की बाधा से मुक्त होकर सिद्धार्थ गहन समाधि में तल्लीन हो गये। महात्मा बुद्ध ने बाद में अपने संवादों में बताया कि किस प्रकार व्यक्ति समाधि में धीरे-धीरे ज्ञान की पहली अवस्था से चौथी अवस्था में प्रवेश करता है जहाँ मन शान्त, निर्मल और पूर्णतः एकाग्र हो जाता है। तब मनुष्य को उच्च ज्ञान प्राप्त होना आरम्भ हो जाता है। जैसा कि उन्होंने कहा है:

> *जब मन एकाग्र, शुद्ध, निर्मल, दुर्गुणों से मुक्त और विकारों से रहित होकर अपवित्रता को त्याग कर, कोमल, सुदृढ़, शान्त और निश्चल हो जाता है, तब व्यक्ति अपने मन को ज्ञान और अन्तर्बोध की ओर मोड़ देता है।*[59]

इस अवस्था के प्राप्त होने पर व्यक्ति यह देख सकता है कि उसकी चेतना और शरीर अलग-अलग हैं। जैसा कि महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट किया है:

> *मनुष्य जान जाता है: यह मेरा स्थूल शरीर है और यह मेरी चेतना है जो इससे (स्थूल शरीर) ढकी और बँधी है... वैसे ही जैसे अगर कोई व्यक्ति 'मुञ्ज घास' के खोल से सरकण्डा निकालता है तो जान जाता है, सरकण्डा एक वस्तु है और बाहरी खोल दूसरी वस्तु है।*[60]

फिर उन्हें ये छः प्रकार की शक्तियाँ धीरे-धीरे प्राप्त हो गयीं – अनेक स्वरूप धारण करने की योग्यता; सुनने और देखने के लिए दिव्य कर्ण और दिव्य चक्षु; अन्तर्यामिता; पिछले जन्मों का ज्ञान और मलिनताओं के नष्ट होने का ज्ञान। दिव्य कर्ण और दिव्य चक्षुओं का विशेष महत्त्व है क्योंकि इनसे आन्तरिक लोकों तक पहुँचने में बहुत सहायता मिलती है। तीव्र प्रकाश और मधुर ध्वनि जो भीतर सुनायी देती है, का वर्णन करते हुए अश्वघोष ने कहा है:

> *जब महात्मा बुद्ध को सत्य का ज्ञान हुआ... तो सिद्धों की उपस्थिति से हर दिशा जगमगा उठी और आकाश में बड़े-बड़े नगाड़ों की ध्वनि गूँजने लगी।*[61]

अन्त में जब उन्हें सभी प्रकार की मलिनताओं के नष्ट होने का ज्ञान हो गया, तब उन्हें मुक्ति और पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। अपने इस अनुभव का वर्णन करते हुए महात्मा बुद्ध ने कहा है:

> *बुद्धत्व की अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद मुझे ज्ञान हो गया और मैंने मुक्तावस्था प्राप्त कर ली। पुनर्जन्म समाप्त हो गया और*

जीवन सार्थक हो गया; जो करना था सो पूरा हो चुका, अब इसके बाद शेष कुछ करना नहीं है... अज्ञानता का नाश हो गया है; प्रज्ञा जाग्रत हो गयी है; अन्धकार दूर हो गया है और प्रकाश प्रकट हो गया है।[62]

इस आन्तरिक अनुभव के साथ ही सिद्धार्थ को निर्वाण की प्राप्ति हो गयी। यह वैशाख (मई) पूर्णिमा की सुबह थी। महात्मा बुद्ध पूरे एक सप्ताह तक इसी आसन में बैठे रहे और निर्वाण प्राप्ति के परम आनन्द का अनुभव करते रहे। इसके बाद वे अपने आसन से उठे और निरञ्जना नदी पर जाकर स्नानादि से निवृत्त होकर एक वटवृक्ष के नीचे बैठ गये। वहाँ से गुज़रते हुए त्रपुश और भल्लिक नामक दो व्यापारियों ने उन्हें देखा। निर्वाण-प्राप्ति के बाद महात्मा बुद्ध का श्रद्धापूर्वक अभिवादन करनेवाले तथा उन्हें भिक्षा देनेवाले ये पहले उपासक थे। महात्मा बुद्ध ने तब विचार किया:

मैंने जिस धम्म पर विजय प्राप्त की है, वह बहुत गहन है, उसे देखना और समझना बहुत कठिन है, वह शान्ति देनेवाला है, सर्वश्रेष्ठ है और बुद्धि की सीमाओं से परे है। वह सूक्ष्म है और केवल प्रज्ञावान् व्यक्ति ही उसे समझ सकते हैं। परन्तु यह संसार इन्द्रियों के विषय भोगों में ही आनन्दमग्न है। ऐसे स्वभाव के लोगों के लिए इसे जानना कठिन है... अगर मैं धम्म का ज्ञान देता हूँ और दूसरे लोग मेरी बात को नहीं समझते तो मेरे प्रयास के कारण मुझे केवल कमज़ोरी और थकान ही होगी... अज्ञानता के अन्धेरे में, राग और द्वेष में डूबे हुए लोगों के लिए इस गूढ़ और गम्भीर धम्म को समझना कठिन है। ऐसा करना धारा के बहाव के विरुद्ध जाने के समान है।[63]

ब्रह्मा सहम्पति * ने बुद्ध की विचारधारा को देखते हुए यह सोचा कि यदि बुद्ध को धम्म का प्रचार करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया गया तो संसार का नाश हो जायेगा। इसलिए ब्रह्मा ने कहा:

हे श्रद्धेय महापुरुष, आप धर्म का उपदेश दें, हे दिव्यात्मा, आप धम्म का उपदेश अवश्य दें। मनुष्यों में कुछ ऐसे भी हैं जिनकी दृष्टि केवल थोड़ी-सी धुँधली है। धम्म को न सुनने के कारण वे भटक रहे हैं; यदि उन्हें धम्म का उपदेश दिया जाये तो वे सत्य को देख पायेंगे।[64]

धम्म का दिव्य नगाड़ा बजायें, सच्चे धम्म का शंखनाद करें; धम्म के महान् स्तम्भ को स्थापित करें और धम्म के तेजोमय प्रकाश को प्रज्वलित करें।[65]

ब्रह्मा सहम्पति ने आगे कहा: †

पिछले समय में मगध देश ‡ में कलुषित मानव द्वारा प्रतिपादित धर्म § का ही प्रचलन रहा, परन्तु अब भगवान् धर्मोपदेश कर मानवमात्र के लिए निर्वाण-मार्ग को प्रशस्त करने की कृपा करें, सभी मनुष्य अमृतद्वार को खोलने वाले विमल (पुरुष) द्वारा प्रतिपादित मत को श्रवण करें।

---

* एक विशेष ब्रह्मा अथवा देवता जो शुद्ध मण्डलों में रहते हैं और बौद्धधर्म के रखवाले हैं।

† निकायों में यह लेख कई बार पहले गद्य में है, फिर पद्य में, जैसा कि यहाँ दिखाया गया है।

‡ महात्मा बुद्ध के समय में मगध उत्तरी भारत के मुख्य राज्यों में से एक था।

§ संस्कृत शब्द 'धर्म' का अर्थ है, 'जो धारण करता है।'

जिस प्रकार पर्वत की चोटी पर खड़ा कोई व्यक्ति, नीचे
चारों तरफ़ सब लोगों को देख पाता है, उसी प्रकार,
हे प्रज्ञावान् समदृष्टि वाले!
धम्म के महल पर चढ़ें।
आप स्वयं दुःखरहित हैं, इसलिए दुःखों में डूबे हुए
उन लोगों को देखें जो जन्म-मरण से पीड़ित हैं।

हे नरश्रेष्ठ! हे महावीर! उठें!
हे जीवों के मार्गदर्शक! हे ऋण-मुक्त! आप संसार में विचरण करें,
और धम्म का उपदेश दें।
हे पुण्यात्मा! आपके उपदेश को समझनेवाले व्यक्ति
अवश्य मिलेंगे।[66]

धम्म के दिव्य नगाड़े को बजायें;
सच्चे धम्म का शंखनाद करें;
धम्म के महान् स्तम्भ को स्थापित करें
और धम्म के तेजोमय प्रकाश को प्रज्वलित करें।[67]

मौन स्वीकृति देते हुए अपार करुणा के साथ महत्मा बुद्ध ने पूरे विश्व का दिव्य दृष्टि से अवलोकन किया और देखा कि किस प्रकार कुछ लोग विकारों के वश में हैं और कुछ ग़रीबी से कष्ट उठा रहे हैं। ब्रह्मा सहम्पति को सम्बोधित करते हुए बुद्ध ने घोषणा की:

अमरत्व के द्वार खुल गये हैं;
जिन्हें कान हैं, वे श्रद्धा के साथ सुन सकते हैं,
हे ब्रह्मा! कष्ट की आशंका से
मैंने मनुष्यों को उस निर्मल और दिव्य
धम्म का उपदेश नहीं दिया था।[68]

तब ब्रह्मा सहम्पति ने सोचा, 'धम्म के उपदेश के बारे में इस पूज्य महात्मा ने अपनी सहमति दे दी है।' और वे उस महान् पुण्यात्मा का अभिवादन करके अदृष्ट हो गये।

महात्मा बुद्ध अब विचार करने लगे कि वे किसे उपदेश दें, उनके उपदेश को कौन समझ पायेगा? उन्हें एकाएक अपने दो आचार्यों, आराड़ कालाम और उद्रक रामपुत्र का ध्यान आया। वे ज्ञानवान् थे, मेधावी थे और विकारों से मुक्त थे। उसी समय उनके भीतर से आवाज़ आयी कि एक सप्ताह पहले आराड़ कालाम की मृत्यु हो चुकी है और बीती रात को उद्रक रामपुत्र का भी देहान्त हो गया है। हाल ही में प्राप्त हुई अपनी अन्तर्दृष्टि से भी बुद्ध ने देखा कि यह सत्य है। फिर उन्हें उन पाँच शिष्यों का ध्यान आया जिन्होंने कठोर तप के समय उनकी देखभाल की थी। उन्होंने अन्तर्दृष्टि से देखा कि वे उस समय वाराणसी (काशी) के निकट मृगदाव ऋषिपतन (सारनाथ) में थे। उरुवेला के क्षेत्र में कुछ समय बिताकर महात्मा बुद्ध पैदल वाराणसी की ओर चल पड़े।

बोधगया, जहाँ महात्मा बुद्ध को 'बोधि' प्राप्त हुई थी और गया शहर के मार्ग में उनकी भेंट उपक नाम के एक नग्न साधु से हुई। महात्मा बुद्ध के पवित्र, शान्त और तेजस्वी व्यक्तित्व को देखकर उपक ने उन्हें पूछा कि वे कौन हैं, उनके गुरु कौन हैं और उनमें इतना तेज और आकर्षण कहाँ से आया है। उस समय महात्मा बुद्ध की आयु 36 वर्ष थी और उनके युवा शरीर को देखकर उपक ने समझा कि वे आध्यात्मिक मार्ग के जिज्ञासु हैं जो किसी गुरु के मार्गदर्शन में आध्यात्मिक अभ्यास कर रहे हैं। उसके इस भ्रम को दूर करने के लिए और यह बताने के लिए कि वे बुद्ध बन चुके हैं, यानी उन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है और उन्होंने सभी विकारों पर विजय प्राप्त कर ली है, महात्मा बुद्ध ने कहा:

जो मेरी तरह दिखाई देते हैं,
जिन्होंने सभी विकारों का नाश कर लिया है,

वे 'जिन' के नाम से जाने जायेंगे।
मैंने दुष्प्रवृत्तियों को जीत लिया है,
इसलिए हे उपक! मैं वास्तव में 'जिन' हूँ...
मैं वाराणसी जाऊँगा और वहाँ जाकर
काशी नगर में, अन्धेरे में भटक रहे लोगों के लिए
एक अनुपम प्रकाश को प्रज्वलित करूँगा
और मैं शब्द (आन्तरिक ध्वनि) से अनजान
लोगों के लिए अमरत्व का डंका बजाऊँगा।[69]

जब महात्मा बुद्ध ने अपने आप को 'जिन' कहा तो इस पर सहसा विश्वास न होने के कारण उपक उलझन में पड़ गया और कहने लगा, 'मित्र! हो सकता कि ऐसा हो!' और अपना सिर हिलाते हुए अविश्वास की अवस्था में वह दूसरे मार्ग से चला गया।[70]

अध्यात्म की ओर झुकाव होते हुए भी कुछ लोग आध्यात्मिक गुरु में रुचि नहीं रखते, भले ही उन्हें वे गुरु पावन और ज्ञानी क्यों न लगें और चाहे उन्हें इस बात का विश्वास भी हो जाये कि उनके उपदेश में कोई कमी नहीं हैं।* फिर भी वे उनसे उदासीन ही बने रहते हैं।

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि महात्मा बुद्ध के कोई गुरु नहीं थे। महात्मा बुद्ध ने स्वयं अपने दो गुरुओं के नामों का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध ग्रन्थ, *सद्धर्म पुण्डरीक* में महात्मा बुद्ध कहते हैं कि उन्होंने पहले भी कई गुरुओं द्वारा ज्ञान की साधना की थी:

---

* '*मज्झिम निकाय अट्ठकथा*' के अनुसार संकटपूर्ण विवाह के अनुभव के पश्चात्, उपक बुद्ध के पास लौट आये, वे उनके संघ के सदस्य बने और अविह स्वर्ग में उनका पुनर्जन्म हुआ जहाँ वे 'अर्हत्' की अवस्था तक पहुँचे। *(मिडल लैंथ डिस्कोर्सिज़ ऑफ़ द बुद्ध Middle length Discourses of the Buddha, tr. B. Ñāṇamoli, p. 1218n)*

पहले भी बहुत-से बुद्ध महात्माओं की संगति में मैंने उस मार्ग का अनुसरण किया है जो गूढ़ और सूक्ष्म है, जिसे जानना और समझना कठिन है।[71]

फिर बुद्ध महात्माओं की उस अन्तहीन शृंखला की ओर संकेत करते हुए जिसमें 'नियमित रूप से एक के बाद दूसरा उत्तराधिकारी आयेगा,' महात्मा बुद्ध कहते हैं:

परोपकार और करुणा से द्रवित होकर, वे विधिवत् रूप से क्रमवार एक दूसरे के भाग्य की भविष्यवाणी यह कहते हुए करेंगे: 'यह मेरा उत्तराधिकारी होगा और यह वैसे ही संसार को उपदेश देगा जैसे इस समय मैं देता हूँ।[72]

महात्मा बुद्ध के प्रथम शिष्य

ऐसा बताया जाता है कि महात्मा बुद्ध वाराणसी के निकट मृगदाव ऋषिपतन (सारनाथ) में पहुँचे। वहाँ जब उन पहले पाँच शिष्यों ने उन्हें आते हुए देखा तो वे आपस में चर्चा करने लगे:

'देखो, यह वही परिव्राजक गौतम आ रहा है, जिसने आराम का जीवन जीना आरम्भ कर दिया था और अपनी साधना से भटक गया था। वह तो आराम-भरे जीवन की ओर मुड़ गया था। हमें उसका अभिवादन नहीं करना चाहिए। हमें उसके स्वागत में भी खड़े नहीं होना चाहिए और न ही उसका भिक्षापात्र और चोगा उससे लेना चाहिए। फिर भी हम उसे बैठने के लिए आसन दे सकते हैं और अगर वह चाहे तो यहाँ बैठ सकता है।' परन्तु ज्यों-ज्यों महात्मा बुद्ध उन पाँच संन्यासियों के समीप आते गये, वे पाँचों अपने निर्णय पर टिके नहीं रह सके और उनके स्वागत

के लिए आगे बढ़े। किसी ने उनका भिक्षापात्र और चोगा ले लिया, किसी ने उनके बैठने का स्थान तैयार किया और कोई उनके पाँव धोने के लिए पानी ले आया।[73]

महात्मा बुद्ध ने उनको सूचित किया कि उन्हें पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है और उन्हें उनके साथ अपनी उपलब्धियों को बाँटने में प्रसन्नता होगी। यद्यपि उन पाँचों के मन में महात्मा बुद्ध के प्रति आदर के भाव का अनुभव हुआ, फिर भी उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार करने में वे लोग संकोच कर रहे थे। उन्होंने महात्मा बुद्ध से प्रश्न किया कि आराम का जीवन जीते हुए और तप तथा उपवास आदि क्रियाओं से हटकर उन्हें कैसे वह ज्ञान प्राप्त हुआ जिसे कठोर तप करने के बाद भी वे प्राप्त नहीं कर पाये थे। महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट किया कि न तो उनका संकल्प कमज़ोर हुआ था और न ही उन्होंने आराम का जीवन जीना आरम्भ किया था। वास्तव में उन्हें सही मार्ग मिल गया था, और फिर कठोर परिश्रम करके वे अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सफल हो गये। उन्होंने अन्त में कहा:

हे परिव्राजको! क्या मैंने पहले कभी आपसे इस प्रकार बात की है?'
'नहीं पूज्यवर!' उन्होंने उत्तर दिया।[74]

महात्मा बुद्ध ने उन्हें विश्वास दिलाते हुए कहा कि जिसे पाने का वे प्रयास कर रहे थे, वह उन्हें मिल गया है। तब वे उनके उपदेश को बड़े ध्यान से सुनने लगे। महात्मा बुद्ध ने फिर उन्हें मध्यम-मार्ग के बारे में समझाया। उन्होंने स्पष्ट किया कि दो अतिवादी दृष्टिकोण हैं: एक है इन्द्रिय विषय-भोगों में लिप्त होना और दूसरा है कठोर तप करके अपने आप को कष्ट देना। इन दो अतिवादी विचारधाराओं से निकलकर और मध्यम-मार्ग को अपनाकर, उचित मार्गदर्शन में आन्तरिक शान्ति और पूर्ण ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है।

चतुष्टय आर्य सत्य और अष्टांगिक-मार्ग

इसके बाद महात्मा बुद्ध ने उन्हें चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया जो बौद्धधर्म के आधारभूत मूल सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हैं। चूँकि ये बौद्धधर्म के मुख्य आधार हैं, इसलिए इन चारों सिद्धान्तों को साररूप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है:

1. दुःख – संसार में जीवन दुःखमय है।
2. दुःख-समुदय – इन दुःखों का कारण है।
3. दुःख-निरोध – दुःखों से मुक्ति सम्भव है।
4. दुःख-निरोधगामिनी-प्रतिपदा – दुःखों के निरोध के लिए उचित उपाय अथवा मार्ग है। यह आर्य-अष्टांगिक मार्ग है। (*अरिय-अट्ठंगिक-मग्ग*)

पालि भाषा में प्रयुक्त 'दुःख' को पीड़ा समझना इसका बहुत कठोर अर्थ लेना है। पीड़ा से यह भाव उत्पन्न होता है कि जीवन कष्ट के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। परन्तु महात्मा बुद्ध ने यह नहीं कहा कि जीवन में सुख है ही नहीं; वे तो केवल यह उपदेश देते हैं कि इस सुख के अनित्य होने के कारण ही दुःख उत्पन्न होता है। इसलिए साधारणतः 'दुःख' से पीड़ा का भाव भी है, परन्तु इस शब्द में और भी गूढ़ अर्थ निहित हैं।

महात्मा बुद्ध ने यह उपदेश दिया कि आर्य-अष्टांगिक मार्ग पर चलने से, जिसे उन्होंने मध्यम-मार्ग (*मज्झिमा-पटिपदा*) कहा है, दुःख और पीड़ा का नाश हो जाता है। ये आठ अंग निम्नलिखित हैं:

1. सम्यग् दृष्टि
2. सम्यक् संकल्प
3. सम्यग् वाक्
4. सम्यक् कर्मान्त

5. सम्यग् आजीव
6. सम्यग् व्यायाम
7. सम्यक् स्मृति
8. सम्यक् समाधि *

इन आठ सोपानों को तीन मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है: (i) प्रज्ञा (पालि: पञ्ञा), यह मार्ग की आरम्भिक अवस्था है जिसमें सम्यग् दृष्टि और सम्यक् संकल्प के साधन शामिल हैं; (ii) शील (पालि: सील), 'समाधि' के लिए तैयारी है जिसमें सम्यग् वाक्, सम्यक् कर्मान्त और सम्यग् आजीव शामिल हैं; और (iii) एकाग्रता (समाधि), धम्म की अनुभूति है जिसमें सम्यग् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि शामिल हैं।

संघ का विकास

वाराणसी के निकट मृगदाव ऋषिपतन (सारनाथ) में महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रथम उपदेश दिया, इसे 'धर्मचक्र प्रवर्तन' की संज्ञा दी गयी है। साथ ही साथ वे उन पाँच भिक्षुओं के मन पर अपना उपदेश अंकित करने के लिए उसे बार-बार दोहराते थे और भिक्षु भी मेहनत से अभ्यास में जुटे रहते थे। कुछ समय बीतने पर उन सबको पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। धीरे-धीरे वाराणसी और उसके आसपास के क्षेत्र से बहुत-से लोग महात्मा बुद्ध की शरण में आये और उनसे दीक्षा प्राप्त की। जब पूर्ण ज्ञान प्राप्त भिक्षुओं (अर्हतों) की संख्या साठ तक पहुँच गयी तब पूरे विश्व के प्रति करुणा से प्रेरित होकर महात्मा बुद्ध ने लोगों के कल्याण और सुख के लिए इस पवित्र धर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से उन्हें अलग-अलग दिशाओं में जाने का आदेश दिया। उन्होंने भिक्षुओं को आज्ञा दी कि अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए वे अकेले ही जायें, दो भिक्षु एक ही मार्ग पर न जायें।

* सम्यक् का अर्थ है सही, सीधा तथा लाभदायक।

इसके पश्चात् महात्मा बुद्ध गया शहर के निकट उरुवेला वापस लौट आये। यहाँ उनकी भेंट उरुवेला कश्यप नाम के परिव्राजक से हुई जो अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ वहाँ रहते थे। महात्मा बुद्ध कश्यप के आश्रम के पास एक कुंज में रहने लगे। महात्मा बुद्ध के साथ कुछ दिन बिताने के बाद उरुवेला कश्यप उनके महान् उपदेश और पवित्र आचरण से इतने प्रभावित हुए कि वे अपने पाँच सौ शिष्यों सहित महात्मा बुद्ध के अनुयायी बन गये। धीरे-धीरे उस क्षेत्र में रहनेवाले दूसरे परिव्राजक भी महात्मा बुद्ध के 'संघ' में शामिल हो गये।

गया से महात्मा बुद्ध भिक्षुओं के एक बड़े समूह के साथ राजगृह (मगध साम्राज्य की राजधानी) चले गये। वहाँ मगध के राजा बिम्बिसार उनसे मिलने आये। वे महात्मा बुद्ध के उपदेश से बहुत प्रभावित थे और उन्होंने प्रार्थना की कि वे उन्हें एक उपासक के रूप में स्वीकार कर लें। राजा ने महात्मा बुद्ध को उनके सभी भिक्षुओं समेत महल में भोजन करने के लिए निमन्त्रण दिया। महात्मा बुद्ध ने उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। राजा ने भोजन के समय महात्मा बुद्ध और उनके सभी शिष्यों को अपने हाथों से भोजन परोसा। राजा ने इस बात पर अच्छे से सोच-विचार करके कि महात्मा बुद्ध और उनके भिक्षुओं के लिए सबसे उचित आवास कौन-सा रहेगा, उन्हें अपना वेणु वन दान कर दिया।

राजगृह के वेणु वन में रहते हुए महात्मा बुद्ध की भेंट अपने तीन प्रमुख शिष्यों – शारिपुत्र, महा मौदग्ल्यायन और महा काश्यप से हुई। इन तीनों में से शारिपुत्र और महा मौदग्ल्यायन का देहावसान तो महात्मा बुद्ध के जीवनकाल में ही हो गया, परन्तु महा काश्यप ने महात्मा बुद्ध के देहावसान के पश्चात् संघ का कार्यभार सम्भाला। शारिपुत्र और महा मौदग्ल्यायन दोनों पास के गाँवों के धनवान् ब्राह्मण थे जो संजय नाम के परिव्राजक के मार्गदर्शन में धार्मिक जीवन बिता रहे थे। काश्यप मगध के एक कपिल नाम के ब्राह्मण का इकलौता पुत्र था। काश्यप विवाह करना नहीं चाहता था, परन्तु अपने पिता के दबाव के कारण वह एक सुन्दर कन्या के साथ विवाह करने को विवश हो गया। लेकिन विवाह

के बाद जल्दी ही उसने और उसकी पत्नी ने अपने घर का त्याग कर दिया और एक आध्यात्मिक आचार्य की खोज में निकल पड़े। कहा जाता है कि शारिपुत्र और महा मौदगल्यायन को दूर से आते देखकर महात्मा बुद्ध ने बड़ी ही कोमल वाणी में कहा, 'ये दो मित्र आ रहे हैं, मेरे दो महान् शिष्य।' काश्यप भी अनायास ही महात्मा बुद्ध की ओर खिँचा चला आया था और उनके उपदेश सुनकर उसने तुरन्त दीक्षा के लिए याचना की। महात्मा बुद्ध उसे अपने साथ वेणु वन में ले आये और उसे दीक्षित कर दिया।

कपिलवस्तु में वापसी

कुछ समय पश्चात् महात्मा बुद्ध कपिलवस्तु की ओर चल पड़े; यात्रा के दौरान मार्ग में उनके कई नये शिष्य बनते गये। कपिलवस्तु में उनका भव्य स्वागत हुआ। महात्मा बुद्ध के पिता राजा शुद्धोदन ने ही सबसे पहले उनका तथा उनके साथ आये भिक्षुओं को आदर सहित प्रणाम किया। वही राजकुमार सिद्धार्थ जो पहले यहाँ बड़ी शान-शौकत से शाही रथ की सवारी किया करते थे, आज महात्मा बुद्ध के रूप में सिर मुँडवाये, गेरुआ वस्त्र पहने और हाथ में भिक्षापात्र लिए उसी नगर में पैदल चल रहे थे। राजा शुद्धोदन बहुत भावुक हो उठे, परन्तु अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण रखते हुए उन्होंने महात्मा बुद्ध से कहा कि अपने वैभवशाली महल को त्यागने का उनका निर्णय सही था, निर्वाण-प्राप्ति के लिए कठोर प्रयास करना भी सही था और अब अपने पिता और उन बन्धु-बान्धवों पर, जो उन्हें बेहद प्रेम करते हैं, अनुकम्पा करना भी सही ही है ।

महल में भोजन करने के उपरान्त, महात्मा बुद्ध की पत्नी यशोधरा को छोड़कर महल के बाक़ी सब लोगों ने आकर महात्मा बुद्ध तथा उनके शिष्यों के सामने आकर बड़ी श्रद्धा से शीश झुकाया। ऐसा उल्लेख मिलता है कि जब यशोधरा को महात्मा बुद्ध को प्रणाम करने के लिए आने को कहा गया तो उन्होंने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया कि वे एक निष्ठावान् और पतिव्रता पत्नी रही हैं, इसलिए जिन्होंने उनका त्याग

किया है, वे स्वयं उनके पास आयें। महात्मा बुद्ध उनके कक्ष में गये और आसन ग्रहण किया। यशोधरा उनके चरणों में गिर पड़ी और लगातार बह रहे अपने आँसुओं से उन्हें धो डाला। महात्मा बुद्ध ने उसे सान्तवना दी। जैसे ही वे वापस लौटने के लिए उठे तो यशोधरा ने उनसे कहा कि वे उसके द्वार पर एक भिक्षुक बनकर आये हैं और उसके पास उन्हें भेंट देने के लिए अपने पुत्र राजकुमार राहुल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उसने राजकुमार राहुल को उन्हें भेंट के रूप में दे दिया। इस प्रकार महात्मा बुद्ध राजकुमार राहुल को साथ लेकर अपने मार्ग पर आगे बढ़ गये।

एक अन्य वर्णन के अनुसार जब महात्मा बुद्ध, यशोधरा के कक्ष में आये तो उसने अपने पुत्र से कहा, 'ये तुम्हारे पिता हैं। जाओ और उनसे अपनी विरासत माँगो।' बालक राहुल महात्मा बुद्ध के सामने जाकर खड़ा हो गया और कहने लगा, 'पूज्यवर! आपकी छाया मुझे बहुत प्रिय लग रही है।' महात्मा बुद्ध अपने स्थान से उठ खड़े हुए और चल पड़े, परन्तु बालक राहुल यह विनती करता हुआ उनके पीछे-पीछे आया, 'हे पूज्यवर! मुझे मेरी विरासत दीजिये।' उस समय शारिपुत्र महात्मा बुद्ध के साथ ही थे। राहुल की बात सुनकर उन्होंने पूज्य शारिपुत्र से कहा कि वह राजकुमार राहुल को अपने साथ ले जायें और उसे दीक्षा दे दें।

अगले दिन महात्मा बुद्ध रानी महाप्रजावती के बेटे, अर्थात् अपने सौतेले भाई नन्द के घर भिक्षा माँगने गये। नन्द को उत्तराधिकारी घोषित किये जाने के लिए तथा राज्य की सबसे सुन्दर युवती के साथ उसके विवाह के लिए यही दिन निर्धारित किया गया था। महात्मा बुद्ध ने अपना भिक्षापात्र नन्द के हाथ में दे दिया और उसके प्रति शुभकामना प्रकट कर भिक्षापात्र वापस लिए बिना ही लौट पड़े। महात्मा बुद्ध के प्रति आदर भाव रखने के कारण नन्द उन्हें उनका भिक्षापात्र लौटा नहीं पाया, परन्तु उनके पीछे-पीछे यह सोचकर चलता रहा कि थोड़ी ही देर में वे अपना भिक्षापात्र वापस ले लेंगे। नन्द जब महात्मा बुद्ध के पीछे जा रहे थे तो उनकी मँगेतर ने व्याकुल होकर उन्हें लौट आने को कहा। उसके शब्द

सुनकर नन्द का हृदय बिँध गया। महात्मा बुद्ध तब तक आगे बढ़ते गये जब तक कि वे आश्रम में नहीं पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने नन्द से पूछा कि क्या वह संघ में शामिल होना चाहेगा? महात्मा बुद्ध के प्रति श्रद्धाभाव के कारण नन्द इनकार नहीं कर सका। महात्मा बुद्ध ने उसी समय उसकी दीक्षा का आदेश दिया जबकि नन्द के कानों में अभी भी उसकी मँगेतर के मधुर शब्द गूँज रहे थे।[75] * नन्द के साथ जो महात्मा बुद्ध ने किया – किसी नवयुवक को उसकी मँगेतर से दूर कर देना – वह कई लोगों को बड़ा कठोर व्यवहार लग सकता है। परन्तु एक सम्यक् सम्बुद्ध का दृष्टिकोण एक आम आदमी के दृष्टिकोण से अलग होता है। एक पूर्ण ज्ञानी स्पष्ट रूप से किसी के भी सामर्थ्य और भाग्य को देख सकता है, जबकि एक आम आदमी ऐसा नहीं कर सकता।

स्त्रियों की प्रथम प्रव्रज्या (दीक्षा)

राजा शुद्धोदन की मृत्यु के पश्चात् रानी महाप्रजावती जो सिद्धार्थ की मौसी थीं और जिन्होंने उनकी माता के देहान्त के बाद उनका बड़े प्रेम से लालन-पालन किया था, महात्मा बुद्ध के पास पहुँचीं। उनके साथ उन राजकुमारों की पाँच सौ पत्नियाँ भी थीं जो संघ में प्रवेश पा चुके थे। रानी ने महात्मा बुद्ध से विनती की कि कृपा करके वे उन्हें और अन्य स्त्रियों को दीक्षा प्रदान करें। परन्तु महात्मा बुद्ध ने रानी की विनती को अस्वीकार कर दिया। अन्त में महात्मा बुद्ध कपिलवस्तु से वैशाली चले गये। रानी महाप्रजावती ने महल छोड़ दिया तथा अपना सिर मुँड़ाकर और गेरुए रंग का चोगा पहनकर पाँच सौ स्त्रियों को साथ लेकर वैशाली

* ऐसा कहा जाता है कि नन्द इस घटना से व्याकुल ही रहा और अपनी साधना में कुछ विशेष उन्नति नहीं कर पा रहा था। उसने संघ को छोड़ने का विचार किया परन्तु एक दिन महात्मा बुद्ध ने उसे बुलाया और साधना के लिए बैठने को कहा। अपनी शक्ति द्वारा महात्मा बुद्ध ने नन्द को दिव्य अपसराएँ दिखाईं जो नन्द की मँगेतर की तुलना में कहीं अधिक सुन्दर थीं। अन्त में नन्द ने संघ में ही रहने का निश्चय किया। (उदान 3:2, पृ. 21)

चली गयीं जहाँ उस समय महात्मा बुद्ध ठहरे हुए थे। महात्मा बुद्ध के प्रिय सेवक आनन्द ने उन्हें द्वार पर खड़े देखा। वे धूल से लथपथ थीं, उनके पाँव सूजे हुए थे और आँखों में आँसू भरे थे। यह पूछने पर कि उन्होंने इतनी लम्बी यात्रा क्यों की और अपने आप को इतना कष्ट क्यों दिया, उन्होंने स्पष्ट किया कि महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को प्रव्रजित करने से इनकार कर दिया है और वे सब प्रव्रज्या के लिए एक बार फिर याचना करने आयी हैं। आनन्द ने महात्मा बुद्ध से उनकी प्रव्रज्या के लिए एक बार फिर विनती की परन्तु महात्मा बुद्ध ने फिर इनकार कर दिया।

इस पर आनन्द ने महात्मा बुद्ध से पूछा – क्या एक स्त्री के लिए संसार को त्यागकर पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के मार्ग पर उन्नति करना सम्भव है? महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया – ऐसा हो सकता है। तब आनन्द ने रानी की ओर से इस विषय पर फिर से चर्चा की। उसने महात्मा बुद्ध को याद दिलाया कि किस प्रकार उनकी मौसी रानी महाप्रजावती ने उनके बचपन में पूरे मनोयोग से उनकी देखभाल की थी। उनकी माता की मृत्यु के पश्चात् रानी महाप्रजावती ने ही अपना दूध पिलाकर बड़े प्रेम-प्यार से उनका पालन-पोषण किया था। आनन्द ने विनती की कि रानी को संघ का सदस्य बनने की अनुमति दी जाये। महात्मा बुद्ध ने निर्देश दिया कि स्त्रियाँ अगर संघ के कठोर नियमों का पालन करने के लिए तैयार हों तो उन्हें दीक्षा दी जा सकती है। रानी महाप्रजावती और उनके साथ आयीं पाँच सौ स्त्रियाँ उसके लिए सहर्ष तैयार हो गयीं और उन सभी स्त्रियों को प्रव्रज्या दे दी गयी। इस प्रकार भिक्षुणियों के प्रथम संघ की स्थापना हुई। भिक्षुणियों के संघ की स्थापना के कुछ समय बाद राहुल की माता यशोधरा भी संघ में शामिल हो गयीं। वह युवती भी जिसे बुद्ध का अनुसरण करते हुए नन्द छोड़ आया था, यशोधरा के साथ संघ की सदस्या बन गयी।

नन्दा नामक एक और सुन्दर युवती ने, जो रानी महाप्रजावती की बेटी थी, जब देखा कि उसकी माता और यशोधरा भिक्षुणियाँ बन गयी हैं तो वह भी संघ में शामिल हो गयी। परन्तु वह दूसरी भिक्षुणियों से ही

महात्मा बुद्ध के उपदेश सुनती और स्वयं उनके सामने जाने से कतराती थी, क्योंकि वह समझती थी कि महात्मा बुद्ध यौवन और सौन्दर्य को व्यर्थ समझते हैं। लेकिन जब कुछ भिक्षुणियों ने उसे बताया कि महात्मा बुद्ध के सामने स्वयं बैठकर सीधे उनके मुख से उपदेश सुने बिना कोई सही अर्थों में उनका शिष्य नहीं बन सकता, तो वह झिझकते हुए उनके सामने आयी। वह यह देखकर आश्चर्यचकित रह गयी कि उससे कहीं अधिक सुन्दर एक युवती महात्मा बुद्ध को पंखा झल रही थी। इससे यौवन और सौन्दर्य का उसका सारा अभिमान जाता रहा और उसके मन से लज्जा और संकोच दूर हो गये।

जेत वन

अमीर और ग़रीब सभी की भेंट स्वीकार करके और उनमें से बहुतों को प्रव्रज्या देकर महात्मा बुद्ध मगध लौट आये। वेणु वन में एक दिन राजगृह का एक धनवान् व्यापारी आया और उसने महात्मा बुद्ध को उनके सभी भिक्षुओं सहित अपने भवन-परिसर में आने का निमन्त्रण दिया। श्रावस्ती का एक व्यापारी अनाथपिंडक (असहाय लोगों को भोजन देनेवाला) जो इस धनवान् व्यापारी का बहनोई भी था, उस समय अपने काम के सिलसिले में वहाँ आया हुआ था। वह यह देखकर आश्चर्यचकित था कि उसका साला नौकरों तथा भोजन बनानेवालों की व्यवस्था देखने में कितना अधिक व्यस्त है। आम तौर पर उसका साला रुककर उससे बातचीत ज़रूर कर लेता था। अनाथपिंडक ने सोचा कि शायद राजा और उसके दरबारियों को निमन्त्रण दिया गया है या फिर कोई शादी-ब्याह है। परन्तु जब उसने पूछताछ की तो उसे बताया गया कि महात्मा बुद्ध ने इस व्यापारी पर विशेष कृपा की है। उन्होंने इस व्यापारी का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है और अगले दिन वे वेणु वन के अपने अन्य भिक्षुओं सहित वहाँ भोजन ग्रहण करेंगे।

अनाथपिंडक को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने विचार किया कि इस संसार में एक परम बुद्ध का मिलना बहुत दुर्लभ है।

यदि वास्तव में यहाँ कोई बुद्ध रह रहे हैं तो उसे यह अवसर खोये बिना तुरन्त उनसे भेंट करनी चाहिए। राजगृह के व्यापारी ने उसे बताया कि महात्मा बुद्ध के दर्शन के लिए आज बहुत देर हो चुकी है। परन्तु अगले दिन सुबह महात्मा बुद्ध के भोजन के समय से पहले वह उनसे भेंट कर सकता है। इसलिए अनाथपिंडक अगली सुबह जल्दी ही महात्मा बुद्ध के मठ में जा पहुँचा। महात्मा बुद्ध ने जब अपना उपदेश उसे समझाया तो अनाथपिंडक ने उसी समय उनसे विनती की कि वे उसी दिन से उसे अपने एक गृहस्थ उपासक के रूप में स्वीकार कर लें और महात्मा बुद्ध ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। महात्मा बुद्ध और अन्य भिक्षुओं के भोजन के उपरान्त महात्मा बुद्ध ने प्रवचन दिया। इसके बाद अनाथपिंडक ने बड़े सम्मान से उन्हें अपने भिक्षुओं सहित श्रावस्ती आने का निमन्त्रण दिया और कहा कि वे जितनी देर चाहें, वहाँ रह सकते हैं। महात्मा बुद्ध ने उसका यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

श्रावस्ती वापस आने पर अनाथपिंडक एक शान्त-स्थान की खोज में लग गया। उसे राजकुमार जेत का एक उपवन अच्छा लगा। परन्तु राजकुमार उस उपवन को बेचने के लिए तैयार नहीं था। उसने यहाँ तक कह दिया कि अगर उस उपवन को करोड़ों सोने के टुकड़ों से भी ढक दिया जाये तो भी वह इसे नहीं बेचेगा। यद्यपि यह राजकुमार के बोलने का एक लहजा मात्र था, फिर भी अनाथपिंडक इस मूल्य पर भी उपवन को ख़रीदने के लिए तैयार हो गया। परन्तु जेत ने अभी भी कहा कि उसने कोई सौदा नहीं किया है। जब यह मामला राजा के न्याय-मन्त्रियों के सामने लाया गया तो उन्होंने अनाथपिंडक के पक्ष में फ़ैसला सुनाया। अनाथपिंडक ने गाड़ियाँ भर-भरकर सोने के टुकड़े मँगाये और उपवन को ढक दिया। उपवन का केवल थोड़ा-सा भाग ही बिना ढके रह गया था। इसलिए अनाथपिंडक ने अपने आदमियों को और सोना लाने का आदेश दिया। राजकुमार जेत को लगा कि जिस कार्य के लिए अनाथपिंडक अपना इतना सोना लुटा रहा है, वह अवश्य ही कोई बहुत नेक कार्य होगा। यह विचार आते ही उसने अनाथपिंडक

को और अधिक सोना लाने से मना किया और कहा कि उपवन के इस खुले स्थान को वह उसकी ओर से भेंट के रूप में स्वीकार कर ले। मगध में कुछ समय बिताने के बाद, महात्मा बुद्ध श्रावस्ती की ओर चल पड़े। मार्ग में वे लोगों को दीक्षा भी देते गये। अन्त में वे श्रावस्ती आ पहुँचे। तब तक अनाथपिंडक ने वह उपवन महात्मा बुद्ध को दान कर दिया था। यह स्थान 'जेत वन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और श्रावस्ती में महात्मा बुद्ध के निवास के दौरान यह उनका सबसे प्रिय स्थान बना रहा।

देवदत्त द्वारा प्रहार

लम्बे समय तक श्रावस्ती में ठहरने के पश्चात् महात्मा बुद्ध राजगृह वापस लौट आये। इस समय तक उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गयी थी। बहुत-से प्रतिष्ठित ब्राह्मण उनसे प्रभावित हो गये थे, यहाँ तक कि आरम्भिक काल के कई विरोधी भी अब उनके अनुयायी बन गये थे। परन्तु उनका अपना चचेरा भाई देवदत्त जो बहुत पहले संघ का सदस्य बन गया था और जिसे कुछ सिद्धियाँ भी प्राप्त हो गयी थीं, वह अब उनसे द्वेष करने लगा था, हालाँकि महात्मा बुद्ध समय-समय पर उसे प्रोत्साहित करते रहते और उसकी प्रशंसा भी किया करते थे। एक बार जब महात्मा बुद्ध एक विशाल सभा को उपदेश दे रहे थे तो प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए आतुर देवदत्त अचानक उठ खड़ा हुआ और निवेदन करने लगा कि महात्मा बुद्ध अब वृद्ध और दुर्बल हो गये हैं, अतः अब उन्हें आराम करना चाहिए; और उन्हें देवदत्त को भिक्षु तथा गृहस्थ उपासकों का नेतृत्व सौंप देना चाहिए। महात्मा बुद्ध ने जब उसका यह परामर्श स्वीकार नहीं किया तो उसे यह बहुत अपमानजनक लगा और वह बहुत क्रोधित हो गया। देवदत्त महात्मा बुद्ध के प्रति बचपन से ही शत्रुता का भाव रखता आया था। परन्तु अब तो वह इतना भड़क उठा कि उसने महात्मा बुद्ध की हत्या करने की योजना बना डाली। मन में ऐसी दुर्भावना रखकर इस उद्देश्य से उसने पहले राजा बिम्बिसार के पुत्र राजकुमार अजातशत्रु को अपनी चमत्कारिक शक्तियों से प्रभावित किया।

उसके बाद राजकुमार की सहायता से बिम्बिसार की हत्या का षड्यन्त्र रचकर उसने मगध पर अधिकार करने की योजना भी बनायी।

देवदत्त एक छोटे बालक का रूप धारण करके, जिसकी कमर में साँपों की पेटी लपेटी हुई थी, राजकुमार अजातशत्रु की गोद में जा बैठा। राजकुमार हैरान परेशान हो घबराया हुआ उठ खड़ा हुआ। देवदत्त फिर अपने वास्तविक रूप में लौट आया और उसने मुस्कराकर राजकुमार को पूछा कि वह एक भिक्षु से इतना डर क्यों रहा है। देवदत्त की चमत्कारिक शक्ति से आश्चर्यचकित होकर राजकुमार उसका समर्थक बन गया। अब देवदत्त ने राजकुमार को अपने पिता को मार्ग से हटाने की सलाह दी कि अगर उसने अपने पिता को मार्ग से नहीं हटाया तो वे अगले कई सालों तक शासन करते रहेंगे और अजातशत्रु को राजा बनने का अवसर शायद ही मिल पायेगा। बाद में अजातशत्रु अपने पिता की हत्या करने की कोशिश में पकड़ा गया, परन्तु पुत्र-प्रेम के कारण राजा ने अपने पुत्र के लिए स्वयं राजपाट त्याग दिया। लेकिन अजातशत्रु को प्रभावित करने के लिए बार-बार चमत्कार करने के कारण देवदत्त ने उन सभी शक्तियों को खो दिया जिन्हें उसने कई सालों तक कठोर आध्यात्मिक साधना द्वारा प्राप्त किया था।

इसके बाद देवदत्त ने अजातशत्रु के आदमियों द्वारा महात्मा बुद्ध की हत्या का प्रयास किया। उनके असफल होने पर देवदत्त ने स्वयं महात्मा बुद्ध की हत्या करने का निश्चय किया। एक बार जब महात्मा बुद्ध गृद्धकूट पहाड़ी के पास से जा रहे थे, तब देवदत्त ने पहाड़ी के ऊपर से उन पर एक बहुत बड़ी चट्टान को ढकेल दिया। परन्तु पहाड़ी से ऊभरे दो टीलों ने चट्टान को उन पर गिरने से रोक लिया और केवल एक छोटा टुकड़ा उनके पाँव को लगा जिसके कारण थोड़ा रक्त बह निकला। बुद्ध ने ऊपर देखा और देवदत्त को देखकर उन्होंने सोचा कि वह कितना मूर्ख है और अपना कितना अहित कर रहा है। इस समाचार से भिक्षुओं में बहुत खलबली मच गयी, परन्तु महात्मा बुद्ध ने उन्हें सान्त्वना दी और शान्त रहने को कहा। जब भिक्षुओं ने उनकी सुरक्षा

व्यवस्था का सुझाव दिया तो महात्मा बुद्ध ने कहा कि उन्हें किसी प्रकार की सुरक्षा की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनकी इच्छा के बिना कोई उन्हें नहीं मार सकता।

इसके बाद देवदत्त ने राजकुमार अजातशत्रु के महावतों के साथ मिलकर षड्यन्त्र रचा। उसने महावतों को निर्देश दिया कि जब महात्मा बुद्ध गली से जा रहे हों, तब वे उन्मत्त हाथी नालागिरि को उन पर छोड़ दें। महात्मा बुद्ध के पीछे-पीछे चल रहे भिक्षुओं ने शोर मचाया और इस हत्यारे हाथी से अपने आप को बचाने के लिए उन्हें पीछे मुड़ जाने को कहा। वे भिक्षु तो अपने आप को बचाने के लिए सुरक्षित स्थान पर दौड़ गये, परन्तु महात्मा बुद्ध एक बार फिर यह कहते हुए शान्तभाव से आगे बढ़ते रहे कि उन्हें कोई नहीं मार सकता। नालागिरि महात्मा बुद्ध की ओर दौड़ा, परन्तु जैसे ही महात्मा बुद्ध ने सर्व जीव दया के भाव से हाथी को प्रभावित किया, तो वह शान्त और उनके वशीभूत हो गया और अपनी सूँड़ नीची करके उनके सामने खड़ा हो गया। महात्मा बुद्ध ने उसकी सूँड़ को थपथपाया और आगे बढ़ गये। हर ओर यह समाचार फैल गया और देवदत्त को चुनौती दी गयी। परन्तु अपने आप को निर्दोष कहते हुए उसने कुछ नये प्रव्रजित भिक्षुओं का विश्वास जीत लिया और संघ में मतभेद पैदा कर दिया।

आम्रकुंज में बीमार होना

कुछ समय पश्चात् भिक्षुओं के एक बड़े दल के साथ महात्मा बुद्ध उत्तर दिशा की ओर चल पड़े। कुछ समय नालन्दा में रुककर वे पाटलिग्राम तक पहुँचे जहाँ मगध साम्राज्य के मन्त्री एक किले का निर्माण करवा रहे थे। मन्त्रियों ने महात्मा बुद्ध और उनके भिक्षुओं को भोजन के लिए आमन्त्रित किया और भोजन के उपरान्त महात्मा बुद्ध ने प्रवचन दिया जिसमें उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि आनेवाले समय में यह स्थान बड़ा प्रसिद्ध होगा। यह बात उस समय सत्य साबित हुई जब पाटलिग्राम को मगध साम्राज्य की राजधानी बनाया गया और इसे पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना)

का नाम दिया गया। इसके बाद गंगा नदी पार करके महात्मा बुद्ध अपने भिक्षुओं सहित वैशाली पहुँचे और एक प्रसिद्ध गणिका आम्रपाली के आम्रकुंज में ठहरे। यह सुनकर कि महात्मा बुद्ध वैशाली आये हैं और उसके आम्रकुंज में ठहरे हैं, आम्रपाली तुरन्त उनसे मिलने गयी। उसने महात्मा बुद्ध को आदर सहित प्रणाम किया और उनके प्रवचन सुनकर उन्हें तथा उनके भिक्षुओं को अपना आतिथ्य स्वीकार करने का निवेदन किया। महात्मा बुद्ध ने कृपा करके उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। प्रसन्नता और गर्व से भरी हुई जब वह घर वापस लौट रही थी तो रास्ते में उसने लिच्छवि राजकुमारों को आते देखा। वह जानती थी कि वे भी बुद्ध से मिलने जा रहे थे और जब वह राजकुमारों के रथों के पास पहुँची तो उनके बीच यह वार्तालाप हुआ:

> *"हे आम्रपाली! तुम युवा लिच्छवियों के बराबर, इस प्रकार रथ के साथ रथ मिलाकर क्यों हाँक रही हो?"*
>
> *उसने कहा, "मेरे स्वामियों! मैं इसलिए ऐसा कर रही हूँ क्योंकि मैंने अभी-अभी महात्मा बुद्ध को उनके भिक्षुओं सहित कल अपने आवास पर भोजन के लिए निमन्त्रित किया है।"*
>
> *उन्होंने कहा, "आम्रपाली! तुम एक लाख स्वर्ण मुद्रायें ले लो और कृपया यह अवसर हमें दे दो।"*
>
> *आम्रपाली ने कहा, "नहीं, मेरे स्वामियों! अगर आप मुझे समस्त जनपदों सहित पूरी वैशाली भी दे दें तो भी मैं यह सम्मानजनक अवसर कभी नहीं छोड़ूँगी।"*
>
> *तब लिच्छवियों ने अपनी उँगलियाँ चटकाते हुए कहा, "आम्रकुंज की इस स्त्री ने हमें पछाड़ दिया है।"*[76]

फिर भी वे महात्मा बुद्ध से भेंट करने गये और उनका उपदेश सुनकर उन्होंने महात्मा बुद्ध और उनके भिक्षुओं को अपने आवास पर आने का निमन्त्रण दिया। परन्तु महात्मा बुद्ध ने उन्हें बताया कि वे उनके आने

से पहले ही आम्रपाली का निमन्त्रण स्वीकार कर चुके हैं। लिच्छवि राजकुमार हताश होकर घर वापस लौट आये। अगले दिन जब महात्मा बुद्ध और उनके भिक्षु आम्रपाली के आम्रकुंज पहुँचे तो उसने उन सबको अपने हाथों से बहुत ही स्वादिष्ट भोजन परोसा और भोजन के उपरान्त अपना आम्रकुंज महात्मा बुद्ध और उनके संघ को दान में दे दिया। महात्मा बुद्ध ने इसे स्वीकार कर लिया। आम्रकुंज में कुछ दिन ठहरने के पश्चात् और भिक्षुओं को इसे एक आश्रय-स्थल के रूप में प्रयोग करने का निर्देश देकर महात्मा बुद्ध वेणुग्राम चले गये। महात्मा बुद्ध वहाँ बरसात के मौसम में गम्भीर रूप से अस्वस्थ हो गये और बहुत कष्ट में रहे। परन्तु उन्होंने अपनी बीमारी को प्रकट नहीं होने दिया क्योंकि भिक्षुओं के संघ को सम्बोधित किये बिना इस संसार से जाना उन्होंने उचित नहीं समझा।

शरण के विषय पर आनन्द का प्रश्न

जब महात्मा बुद्ध के स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार हुआ तो उनके निजी सेवक और साथी आनन्द ने आकर उनसे यह कहा:

> *हे पुण्यात्मा! आपके अस्वस्थ होने के कारण मेरा शरीर कमज़ोर पड़ गया, मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था और न ही धम्म में मेरा मन लग रहा था।*[77]

इस पर महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया,

> *"हे आनन्द! भिक्षुओं के संघ को मुझसे क्या अपेक्षा है? हे आनन्द! मैंने गूढ़ ज्ञान तथा जनसाधारण की समझ में आनेवाले साधारण ज्ञान में बिना कोई भेदभाव किये धम्म का उपदेश दिया है। तथागत (महात्मा बुद्ध) की मुट्ठी उस आचार्य की मुट्ठी की तरह बन्द नहीं है जो धम्म से सम्बन्धित कुछ रहस्य छिपाकर रखता है। हे आनन्द! निश्चय ही यदि कोई ऐसा है जिसके मन में यह विचार है कि उसे संघ का नेतृत्व करना चाहिए या संघ उस पर निर्भर है, तो वह संघ से सम्बन्धित किसी भी विषय पर मार्गदर्शन दे सकता है। परन्तु तथागत सोचते हैं कि वे उनमें से नहीं हैं।... हे आनन्द! मैं अब वृद्ध हो गया हूँ, मैंने अपना जीवन जी लिया है और मैं अब इसके अन्तिम चरण में हूँ। मैं अस्सी वर्ष का हो जाऊँगा। आनन्द, जिस प्रकार एक जीर्ण-शीर्ण बैलगाड़ी को बार-बार चमड़े की पट्टी से मरम्मत करके चलाना पड़ता है, उसी प्रकार तथागत के शरीर को पट्टियाँ बाँधकर ही चलाया जा सकता है... इसलिए, हे आनन्द! तुम्हारे अन्दर जो दीपक है, उसे प्रज्वलित करो, उसकी ही शरण लो और कोई दूसरा सहारा मत ढूँढ़ो। धम्म को ही दीपक जानकर इसे पकड़े रहो, धम्म की ही शरण लो और किसी की नहीं।"*[78]

इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने यह संकेत दिया कि जिन्हें उन्होंने प्रव्रज्या दी है, उन्हें कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए। उन्हें किसी अन्य गुरु के पास जाने की या दूसरे से उपदेश लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी कारण महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट किया है कि जिस धर्म, धार्मिक अनुशासन अथवा आध्यात्मिक मार्ग का उपदेश उन्होंने दिया है, वही उनके शिष्यों की एकमात्र शरण है; इसलिए उनके शिष्यों को चाहिए कि वे अपनी पूरी सामर्थ्य से इस धर्म का पालन करें और अपने अन्तर में प्रकाश जाग्रत करें। जैसा कि हम आगे देखेंगे, महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों से स्पष्ट शब्दों में कहा कि उनके देहान्त के बाद उनका उपदेश ही उनके लिए पर्याप्त है और उन्हें चाहिए कि वे पूरी निष्ठा से उनके उपदेश का पालन करें। उन्हें महात्मा बुद्ध के उपदेश के अतिरिक्त और कहीं से भी मार्गदर्शन प्राप्त नहीं करना चाहिए।

जीवन के अन्तिम तीन माह

मार नामक दूत महात्मा बुद्ध के सामने प्रकट हुआ और उसने बुद्ध को बताया कि धर्म की स्थापना भली-भाँति हो गयी है। महात्मा बुद्ध के भिक्षु, भिक्षुणियाँ और गृहस्थ उपासक इतने परिपक्व हो गये हैं कि वे संघ को सँभाल लेंगे और अब महात्मा बुद्ध का स्थूल-देह त्यागने का समय निकट आ गया है। महात्मा बुद्ध ने मार को बताया कि वे उस दिन से तीन माह पश्चात् इस स्थूल शरीर का त्याग करेंगे। जब उन्होंने आनन्द को अपना निर्णय बताया तो वह बहुत व्यथित हो गया और उसने महात्मा बुद्ध से प्रार्थना की कि वह कुछ और समय तक जीवित रहें। इस पर महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया:

> *हे आनन्द! क्या मैंने तुम्हें यह पहले ही स्पष्ट नहीं किया है कि हमें सभी प्रियजनों और प्रिय-पदार्थों से एक न एक दिन बिछुड़ना ही है, कि एक न एक दिन हमारा इन सब चीज़ों से नाता टूट जायेगा और हमें इन्हें छोड़ जाना है... और सबका विनाश निश्चित है? इसलिए तुम सदा के लिए कैसे किसी वस्तु को अपने पास रख सकते हो? जिसका भी जन्म हुआ है, जिसकी रचना की गयी है या जिसका अस्तित्व है – उसका अविनाशी होना असम्भव है।*[79]

महात्मा बुद्ध ने तब आनन्द से वैशाली के सभी भिक्षुओं को इकट्ठा करने के लिए कहा। जब सभी एक बड़े सभाघर में इकट्ठे हो गये तो महात्मा बुद्ध ने बड़ा प्रभावशाली प्रवचन दिया जिसमें उन्होंने सभी भिक्षुओं और अपने सभी शिष्यों को कड़ी मेहनत से उपदेश का पालन करने और उसे आत्मसात् करने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने कहा कि वे सभी पूरी निष्ठा से साधना में लगे रहें, धर्म की पवित्रता बनाये रखें और सबके कल्याण तथा सुख के लिए इसका प्रचार करें। उन्होंने आगे कहा:

> *हे भिक्षुओं! मैं सच कहता हूँ कि सभी संयोजित पदार्थ विनाशशील हैं। पूरी लगन से अपनी मुक्ति के लिए प्रयास करो। कुछ समय पश्चात् तथागत यह शरीर त्याग देंगे। आज से तीन माह पश्चात् तथागत परिनिब्बान (पूर्ण निर्वाण) प्राप्त कर लेंगे।*[80]

अगले दिन महात्मा बुद्ध भिक्षा के लिए वैशाली गये। भोजन करने के उपरान्त उन्होंने पीछे मुड़कर वैशाली की ओर देखा और आनन्द को बताया कि वह वैशाली को अन्तिम बार देख रहे हैं। महात्मा बुद्ध को यह समृद्ध नगर बहुत प्रिय था जहाँ लोग लोकतान्त्रिक शासन में रहते हुए संयमित जीवन जी रहे थे।

अन्तिम भोजन

कई स्थानों पर समय बिताने के बाद महात्मा बुद्ध 'पावा' नामक नगर में पहुँचे और वहाँ चुन्द नामक लोहार के आम्रकुंज में ठहरे। चुन्द ने उन्हें तथा उनके साथ आये भिक्षुओं को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। उसने तरह-तरह के पकवान तैयार करवाये और साथ ही बहुत स्वादिष्ट खीर (शूकर माद्दर्व) * भी तैयार करवायी। महात्मा बुद्ध ने चुन्द से भिक्षुओं को सभी पकवान परोसने का आदेश दिया, परन्तु अपने लिए केवल 'शूकर माद्दर्व' परोसने को कहा। चुन्द के साथ बात करने के बाद महात्मा बुद्ध आम्रकुंज से चले गये। इस भोजन को लेने के कुछ

---

* 'शूकर माद्दर्व' का अर्थ है 'स्वादिष्ट चावल और दूध'। इस शब्द का अर्थ 'सूकर-मांस' या 'सूअर का मांस' बिल्कुल भी नहीं है। ऐसा बार-बार वर्णन आता है कि सन्त-महात्माओं को, चाहे वे बौद्धधर्म से सम्बन्धित हैं या नहीं, खीर परोसी गयी और भारत के उस भाग में जहाँ महात्मा बुद्ध ने अपना अन्तिम भोजन ग्रहण किया, सन्त-महात्माओं को कहीं भी मांस नहीं परोसा गया। भिक्षुओं को जान बूझकर मांस परोसने की महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में मनाही की है। (*M.N.* i, p 368-371, *LAN*, p 212-221)

समय पश्चात् महात्मा बुद्ध को पेचिश का रोग हो गया और भयंकर पीड़ा होने लगी, परन्तु स्थिरचित्त होकर वे कष्ट झेलते रहे, शान्त रहे और कुशीनारा की ओर चल पड़े। वे रास्ते में रुक गये और आनन्द को पेड़ की छाया में बैठने और आराम करने के लिए कपड़ा बिछाने को कहा। क्योंकि उन्हें बड़ी प्यास लग रही थी उन्होंने आनन्द को पानी लाने के लिए कहा। परन्तु आनन्द पास वाली नदी से पानी लाने से हिचकिचा रहा था क्योंकि थोड़ी देर पहले ही पाँच सौ बैलगाड़ियाँ उस नदी को लाँघकर गयी थीं जिससे उसका पानी मटमैला और गँदला हो गया था। उसने सलाह दी कि पास ही ककुधा नदी है जिसका जल शीतल और स्वच्छ है। वह जल महात्मा बुद्ध के लिए बेहतर होगा। परन्तु जब तीसरी बार उन्होंने आनन्द से वही बात कही तो वह नदी पर गया और नदी के जल को स्वच्छ और निर्मल देखकर आश्चर्यचकित हो गया। अब महात्मा बुद्ध की प्यास शान्त हो गयी।

अन्तिम घड़ियाँ

मल्ल जाति का पुक्कस नामक व्यक्ति जो महात्मा बुद्ध के पहले गुरु, आराड़ कालाम, का शिष्य था, उनके पास आया। बातचीत के सिलसिले में महात्मा बुद्ध ने उसे समाधि की एक ऐसी अवस्था के बारे में बताया जो उसके गुरु द्वारा बतायी गयी साधना से अधिक गहन थी। इस पर पुक्कस ने तुरन्त महात्मा बुद्ध से विनती की कि वे उसे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करें और उसने महात्मा बुद्ध को एक जोड़ा सुवर्ण-जटित दुशाला भेंट किया। महात्मा बुद्ध ने उसकी यह भेंट स्वीकार कर ली, परन्तु उससे कहा कि वह एक दुशाला उन्हें और दूसरा उनके शिष्य आनन्द को दे दे। जब पुक्कस चला गया तो आनन्द ने महात्मा बुद्ध के शरीर को दोनों दुशालों से ढक दिया। उसने देखा कि महात्मा बुद्ध की देह के तेज के सामने इन सुवर्ण-जटित दुशालों की चमक फीकी लग रही थी। महात्मा बुद्ध ने आनन्द को बताया कि निर्वाण प्राप्त व्यक्ति का शरीर दो अवसरों पर विशेष रूप से तेजोमय हो जाता है: एक उस समय

जब उसे निर्वाण प्राप्त होता है और दूसरा उस समय जब वह परिनिर्वाण प्राप्त करता है। कुशीनारा में रात्रि के अन्तिम प्रहर में उनके परिनिर्वाण प्राप्ति का समय आनेवाला था।

महात्मा बुद्ध आनन्द, चुन्द और बहुत-से अन्य भिक्षुओं के साथ ककुधा नदी पर गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने स्नान किया और पानी पिया। एक आम्रकुंज में पहुँचकर वे लेट गये। उन्होंने आनन्द को निर्देश दिया कि हो सकता है कि चुन्द को यह सोचकर पश्चात्ताप हो कि उसका भोजन ही महात्मा बुद्ध के देहावसान का कारण बना। उन्होंने कहा कि चुन्द को इस बात का ध्यान दिलाना कि महात्मा बुद्ध ने दो अवसरों पर जो भोजन ग्रहण किया, उसका विशेष पुण्य है: एक वह भोजन जो निर्वाण प्राप्ति से पहले उन्हें दिया गया था (सिद्धार्थ को सुजाता द्वारा परोसा भोजन) और दूसरा जो परिनिर्वाण प्राप्त करने से पहले उन्हें दिया गया। इसलिए चुन्द को यह सोचकर प्रसन्न होना चाहिए कि उसे ही महात्मा बुद्ध को अन्तिम भोजन परोसने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसके बाद महात्मा बुद्ध अपने भिक्षुओं के साथ कुशीनारा के साल वन में आये जो उनकी इहलौकिक यात्रा का अन्तिम पड़ाव था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने आनन्द से कहा:

> *जुड़वाँ साल-वृक्षों के बीच में मेरे लिए बिछावन तैयार करो और इसका सिर उत्तर की ओर रखो। मैं थक गया हूँ और अब आराम करना चाहता हूँ।*[81]

आनन्द ने ऐसा ही किया और महात्मा बुद्ध शान्तचित्त होकर बिछावन पर लेट गये। अनुकूल ऋतु न होने पर भी ये जुड़वाँ साल-वृक्ष फूलों से लदे हुए थे और उनके श्रद्धा-सुमन धीरे-धीरे महात्मा बुद्ध की देह पर झड़ रहे थे। आकाश से दिव्य-पुष्प और चन्दन-धूलि बरस रही थी और पूरा वातावरण दिव्य संगीत से गूँज रहा था। तब महात्मा बुद्ध ने आनन्द से कहा:

हे आनन्द! भले ही यह श्रद्धांजलि तथागत के सम्मान में दी जा रही है, परन्तु तथागत के आदर-सत्कार, मान-सम्मान और पूजा-अर्चना की यह सही विधि नहीं है। यदि भिक्षु, भिक्षुणियाँ और सभी गृहस्थ उपासक मेरे उपदेश के अनुसार जीवन व्यतीत करें और दृढ़ता से उपदेश का पालन करें, तो ही वे सही ढंग से मेरा पूरा आदर-सत्कार और मान-सम्मान कर रहे होंगे और यही मेरे प्रति सच्ची श्रद्धा और सच्चा भक्तिभाव होगा। इसलिए हे आनन्द! तुम्हें मेरे उपदेश के अनुसार कार्य करना चाहिए, मेरे सभी निर्देशों का पालन करना चाहिए, और यही शिक्षा दूसरों को भी देनी चाहिए। यही सर्वोच्च पूजा होगी जो मुझे सर्वाधिक प्रसन्नता देगी।[82]

आनन्द ने पूछा कि जब उसका मार्गदर्शन करने के लिए महात्मा बुद्ध नहीं होंगे तो वह अपनी समस्याओं को कैसे सुलझायेगा। फिर आनन्द पासवाली कुटिया में गया जहाँ धार्मिक समारोह किये जाते थे, उस समय उसके मन पर आनेवाली संकटपूर्ण घटना का विचार हावी था। वहाँ वह दरवाज़े की चौखट का सहारा लेकर खड़ा था, उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे और महात्मा बुद्ध के देहावसान से पहले ही उसे लग रहा था कि उसके गुरु उसे छोड़ गये हैं। महात्मा बुद्ध ने आनन्द को अपने पास बुलाया और सान्त्वना देते हुए कहा कि सब कुछ परिवर्तनशील है और मिलना तथा बिछुड़ना इस संसार का नियम है। उन्होंने कहा कि आनन्द को दुःखी होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि उसने मन, वचन और कर्म से, पूरी निष्ठा से और अगाध प्रेम से लम्बे समय तक महात्मा बुद्ध की सेवा की है। उन्होंने आनन्द को प्रोत्साहित करते हुए कहा कि वह निर्वाण प्राप्ति के लिए प्रयास करता रहे और उसे यह विश्वास दिलाया कि शीघ्र ही वह सारी मलिनताओं से मुक्त हो जायेगा। उन्होंने दूसरे भिक्षुओं को आनन्द के विलक्षण गुणों के बारे में बताया। तब आनन्द ने उनका ध्यान इस ओर खींचने की कोशिश की कि उनके जैसे पुण्यपुरुष

को अपने महानिर्वाण के लिए किसी अन्य महत्त्वपूर्ण नगर के बारे में सोचना चाहिए, क्योंकि कुशीनारा कोई विशेष स्थान नहीं है। इस पर महात्मा बुद्ध ने कहा कि कुशीनारा कभी एक बहुत ही प्रसिद्ध नगरी थी और महान् राजा महासुदर्शन की राजधानी थी।

पर आनन्द ने महात्मा बुद्ध से यह अनुमति ले ली कि वह कुशीनारा के लोगों को उनके भावी परिनिर्वाण के विषय में बता दे, ताकि उन्हें बाद में इस बात का पछतावा न रहे कि वे महात्मा बुद्ध के अन्तिम दर्शन से वंचित रह गये। आनन्द कुशीनारा गया और देखा कि मल्ल राजकुमार और दूसरे गणमान्य व्यक्ति वहाँ एकत्रित थे। वे सभी दुःखी मन से साल वन की ओर दौड़े और यह उनका सौभाग्य था कि उन्हें इस रात्रि के प्रथम पहर में महात्मा बुद्ध के अन्तिम दर्शन हो गये।

अन्तिम शिष्य

उसी समय महात्मा बुद्ध से मिलने सुभद्र नाम का एक परिव्राजक आया। उसने सुना था कि संसार में बुद्ध महात्मा कभी-कभी ही आते हैं और जब उसे पता चला कि इस समय कुशीनारा में एक बुद्ध महात्मा विद्यमान हैं और इस रात्रि के अन्तिम पहर में वे देह त्याग देंगे, तो सुभद्र उनसे भेंट करने के लिए आतुर हो उठा। आनन्द महात्मा बुद्ध को परेशान नहीं करना चाहता था जो उस समय थके हुए और बीमार थे। सुभद्र ने तीन बार आग्रह किया कि उसका महात्मा बुद्ध से मिलना बहुत आवश्यक है। महात्मा बुद्ध ने उनका वार्तालाप सुन लिया और आनन्द से कहा कि वह सुभद्र को भीतर आने दे। सुभद्र ने अन्य महात्माओं के नाम लिये और महात्मा बुद्ध से पूछा कि उनमें से किस महात्मा को पूर्ण ज्ञान प्राप्त है ताकि वह उनसे उपदेश प्राप्त कर सके। महात्मा बुद्ध ने इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करना उचित नहीं समझा, परन्तु उन्होंने सुभद्र से पूछा कि उसे क्या स्पष्टीकरण चाहिए। सुभद्र महात्मा बुद्ध के उत्तर से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने याचना की कि वे उसी समय उसे दीक्षा देने की कृपा करें। महात्मा बुद्ध ने तुरन्त आनन्द को सुभद्र की

दीक्षा के लिए तैयारी करने को कहा और इस प्रकार उन्होंने सुभद्र की इच्छा पूरी करते हुए अपने अन्तिम शिष्य को दीक्षा दी।

अन्तिम वचन

पालि त्रिपिटक के प्रथम ग्रन्थ *दीघ-निकाय* में वर्णित महात्मा बुद्ध के अन्तिम वचन इस प्रकार हैं:

> *तब महात्मा बुद्ध ने आनन्द को बुलाया और कहा: 'हे आनन्द! हो सकता है कि मेरे देहावसान के बाद तुम ऐसा सोचो, 'अब हम गुरु के वचनों से वंचित हो गये हैं; अब हमारा कोई गुरु नहीं है।' परन्तु तुम्हें ऐसा नहीं सोचना चाहिए, क्योंकि हे आनन्द! जिस उपदेश (धम्म) और अनुशासन (विनय) की मैंने तुम्हें शिक्षा दी है और जिसका पालन करने के लिए तुम्हें कहा है, वही मेरे देहत्याग के बाद तुम्हारा मार्गदर्शक होगा।*[83]

इस प्रकार देह त्यागने से पहले ही महात्मा बुद्ध ने आनन्द के द्वारा अपने सभी शिष्यों को यह स्पष्ट कर दिया कि उन्हें किसी दूसरे गुरु की आवश्यकता नहीं है और शिष्यों के मार्गदर्शन के लिए उनके द्वारा दिये निर्देश ही पर्याप्त हैं। महात्मा बुद्ध ने प्रत्यक्ष रूप से निर्देश दिया कि वे उन्हें ही अपना एकमात्र मार्गदर्शक और गुरु मानें।

> *तब महात्मा बुद्ध ने एकत्रित हुए भिक्षुओं से कहा: यदि बुद्ध को लेकर, उनके उपदेश को लेकर, भिक्षु और भिक्षुणियों के संघ को लेकर, इस मार्ग या इसकी अभ्यास की विधि को लेकर तुममें से किसी के भी मन में कोई सन्देह या शंका है तो तुम अभी उसका स्पष्टीकरण प्राप्त कर सकते हो। बाद में यह मत कहना कि जब महात्मा बुद्ध तुम्हारे सामने थे तो तुम्हें प्रश्न पूछने का अवसर नहीं मिला।*[84]

महात्मा बुद्ध ने यह बात तीन बार दोहरायी परन्तु किसी ने कोई प्रश्न नहीं किया। अत: महात्मा बुद्ध निश्चिन्त हो गये कि उनके उपदेश के बारे में उनके शिष्यों के मन में कोई शंका नहीं है। उन्होंने अन्तिम बार अपने भिक्षुओं को कहा:

> *हे भिक्षुओं! अब मैं तुमसे यह अनुरोध करता हूँ कि सभी संयोजित पदार्थ नश्वर हैं। पूरी लगन से अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न करते रहो।*[85]

ये महात्मा बुद्ध के अन्तिम वचन थे। उन्होंने एकान्त में जाकर धीरे-धीरे अपनी चेतना को ऊपर चढ़ाया और रात्रि के अन्तिम प्रहर में अमरत्व की अवस्था में प्रवेश कर गये। एक गहरी शान्ति उनके चारों ओर फैल गयी और आनन्द ने यह घोषणा की, "प्रभु ने परिनिर्वाण प्राप्त कर लिया।"

अन्तिम संस्कार

जिन भिक्षुओं की धम्म के मार्ग पर अधिक उन्नति नहीं हुई थी, वे विलाप कर रहे थे परन्तु जो अभ्यासी थे, वे शान्त रहे और अपने बन्धुओं को सान्त्वना देते रहे तथा उन्हें महात्मा बुद्ध का यह उपदेश याद दिलाते रहे कि परिवर्तन और वियोग इस संसार का अटल नियम है। यह समाचार जंगल की आग की तरह फैल गया। दूर-दूर के स्थानों से और हर दिशा से लोग कुशीनारा नगर में पहुँचने लगे और महात्मा बुद्ध के पार्थिव शरीर के अन्तिम संस्कार की पूरी व्यवस्था की गयी। उनका पार्थिव शरीर छ: दिनों तक रखा गया और सातवें दिन अन्तिम संस्कार के लिए ले जाया गया। मल्ल जाति के चार मुखिया चिता को जलाने का प्रयास करते रहे, परन्तु वे ऐसा कर न सके। अनुरुद्ध ने अपनी अन्तर्दृष्टि से देखा कि महाकाश्यप अपने पाँच सौ भिक्षुओं सहित कुशीनारा की ओर आ रहे हैं और उसने मल्ल जाति के मुखिया दल को प्रतीक्षा करने के

लिए कहा। ऐसा कहा जाता है कि वहाँ पहुँचने पर महाकाश्यप ने बड़ी श्रद्धा से अपना उत्तरासंग व्यवस्थित किया, उसे अपने कंधे पर रखा और हाथ जोड़कर तीन बार चिता की परिक्रमा की। इस प्रकार उन्होंने महात्मा बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धांजलि भेंट की और बड़े भक्तिभाव से उनके समक्ष अपना शीश झुकाया। पाँच सौ भिक्षुओं ने भी महात्मा बुद्ध को श्रद्धांजलि अर्पित की जिसके पश्चात् बिना किसी कठिनाई के चिता को प्रज्वलित किया गया।

दाह-संस्कार के बाद उनकी अस्थियों को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। आठ अलग-अलग प्रदेशों के प्रमुखों ने अस्थियों में से अपने हिस्से की माँग की, परन्तु मल्ल वंश के मुखिया यह कहने लगे कि महात्मा बुद्ध की अस्थियों पर केवल उन्हीं का अधिकार है, क्योंकि उनका देहावसान उन्हीं के प्रदेश में हुआ है। उस समय द्रोण नाम के एक ब्राह्मण ने हस्तक्षेप करके सभी से निवेदन किया कि ऐसे विलक्षण और सम्माननीय गुरु की अस्थियों को लेकर झगड़ा करना सर्वथा अनुचित है जिनका पूरा जीवन प्रेम और शान्ति के सन्देश का प्रचार करने में बीत गया। आख़िरकार वे मान गये कि महात्मा बुद्ध और उनके उपदेश पर किसी का एकाधिकार नहीं है। वे अस्थियों के आठ समान भाग करने को सहमत हो गये जिनमें से आठों दावेदारों को एक-एक भाग दिया जाना था। इस प्रकार इस विवाद का शान्तिपूर्वक समाधान हो गया।

ऐसा था महाप्रयाण उस महान् मार्गदर्शक का, उस महान् पुण्यात्मा का जिन्होंने असंख्य लोगों को अमरत्व का मार्ग दिखाया। उन्होंने शान्ति की खोज के लिए इस संसार के सारे सुखों तथा शान-शौकत से मुँह मोड़ लिया और आध्यात्मिक ख़ज़ाने की खोज में अपनी सांसारिक धन-दौलत को त्याग दिया। यद्यपि वे एक वैभवशाली राजा के पुत्र थे और उनका लालन-पालन बड़े ऐशो-आराम में हुआ था, तथापि उनका जन्म प्राकृतिक वातावरण में, एक उपवन में हुआ और देहावसान भी एक उपवन में ही हुआ। एक शुद्ध और सरल जीवन से प्रेम करनेवाले, दयालु और क्षमाशील, विवेकपूर्ण और प्रेममय हृदयवाले महात्मा बुद्ध

ने राजसिंहासन को त्यागने का निश्चय किया। परन्तु बड़े-बड़े राजा, राजकुमार और राजवंशों के लोग बड़ी श्रद्धा से उनके आगे शीश झुकाते थे। किसी के पद और प्रतिष्ठा का भेद न कर उन्होंने समस्त जन-साधारण के दिल को जीत लिया था। धर्म के मूर्तरूप, आध्यात्मिक शक्तियों के मूल स्रोत और करुणा के सागर महात्मा बुद्ध मानवजाति के कल्याण और सुख के लिए कार्य करते रहे। उनकी दया और उदारता ने उन सभी व्यक्तियों को ऊपर उठाया और परिपूर्ण किया जो उनकी शरण में आये। वे एक ऐसी विरासत छोड़कर गये जो अभी-भी पूरे विश्व के लिए प्रकाश-स्तम्भ है।

3

महात्मा बुद्ध और त्रिकाय का सिद्धान्त

पिछले अध्याय में हमने गौतम बुद्ध की पारम्परिक जीवन गाथा के बारे में वर्णन किया है। इसमें कितनी बातें कल्पित कथाओं पर आधारित हैं और कितने तथ्य ऐतिहासिक हैं, यह कभी निश्चित नहीं किया जा सकता। महत्त्व तो उस सन्देश का है जो इसके द्वारा हमें मिलता है। शाश्वत सत्य (धर्म) को प्रकट करने के लिए ही महात्मा बुद्ध ने देह धारण की थी। सन्दर्भ के अनुरूप धर्म के कई अर्थ हैं, जैसे कि परम तत्त्व, पूर्ण ज्ञान, शाश्वत सत्य और सच्चा मार्ग। विभिन्न सूत्रों में जब हमें यह बताया जाता है कि महात्मा बुद्ध इस संसार में धर्म को प्रकट करने के लिए आये, तो धर्म से उनका अभिप्राय परम सत्य के साथ-साथ उस मार्ग से भी है जिसके द्वारा उस परम सत्य की प्राप्ति होती है।

फिर बौद्धधर्म में महात्मा बुद्ध का कैसा चित्रण किया गया है? महात्मा बुद्ध का जन्म निश्चित समय पर हुआ और उनकी मृत्यु भी निश्चित समय और स्थान पर हुई, क्या इस तथ्य का यह अर्थ है कि किसी दूसरे प्राणी के समान वे भी समय और स्थान की सीमाओं से बँधे थे? दूसरे शब्दों में क्या वे भी अन्य सांसारिक पदार्थों या व्यक्तियों

के समान सीमित और नश्वर थे? अगर ऐसा है तो उन्हें दूसरे सांसारिक प्राणियों से अलग कैसे माना जा सकता है? साथ ही जो सीमित और नश्वर है, क्या उसे सत्य माना जा सकता है? क्या परम सत्य सीमित हो सकता है? और क्या इसका अस्तित्व कभी समाप्त हो सकता है?

बुद्ध के त्रिविध रूप

पालि भाषा में लिखे गये आरम्भिक धार्मिक साहित्य को पढ़कर लगता है कि महात्मा बुद्ध ने स्वयं अपने वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए सुझाव दिए हैं। बाद में, बौद्धधर्म की महायान शाखा ने इन सुझावों के अर्थ की विस्तृत व्याख्या करते हुए 'त्रिकाय' का सिद्धान्त विकसित किया। संक्षेप में, यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि बुद्ध को त्रिविध रूप में देखा जा सकता है जो इस प्रकार हैं – स्थूल, दिव्य और परिपूर्ण। इस सिद्धान्त के आधार पर माना जाता है कि बुद्ध के तीन रूप या शरीर हैं: निर्माणकाय जो स्थूल काया है, सम्भोगकाय जो आनन्दमय या दिव्य काया है और जिसका अस्तित्व दिव्य लोकों में है और धर्मकाय या सत्काय, जो परम तत्त्व के साथ एकरूप है।

पालि त्रिपिटक के *संयुत्त निकाय* के *वक्कलि-सुत्त* में बुद्ध अपनी धर्मकाय और निर्माणकाय में अन्तर बताते हैं। इस सुत्त में वक्कलि नाम के एक भिक्षु के बारे में बताया गया है कि जब वह गम्भीर रूप से बीमार था तो उसने महात्मा बुद्ध को सन्देश द्वारा निवेदन किया कि वे कृपा कर उससे मिलने आयें। लम्बे समय से गौतम बुद्ध के दर्शन न करने पर दुःख और पश्चात्ताप से भरे वक्कलि ने बुद्ध के आने पर कहा:

> *'प्रभु! मैं बहुत दिनों से आपका दर्शन करना चाहता था, परन्तु मेरे शरीर में इतनी शक्ति नहीं थी कि आप तक पहुँच सकूँ।' इस पर महात्मा बुद्ध ने कहा, 'वक्कलि! इस नश्वर शरीर (पूति काय) को देखने में क्या रखा है? जो धम्म को देखता है, वह मुझे*

देखता है; जो मुझे देखता है वह धम्म को देखता है। वक्कलि! धम्म को देखते हुए वह मुझे देखता है और मुझे देखते हुए वह धम्म को देखता है।'[86]

पालि धर्मग्रन्थों में एक और स्थान पर द्रोण नाम के ब्राह्मण से बात करते हुए महात्मा बुद्ध यह संकेत देते हैं कि यह स्थूल शरीर उनका वास्तविक स्वरूप नहीं है।

तब महात्मा बुद्ध के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए द्रोण ने देखा कि वे एक वृक्ष के नीचे शान्त बैठे थे, उन्हें देखकर मन में श्रद्धा उत्पन्न हो रही थी। उनकी इन्द्रियाँ और मन शान्त थे, क्योंकि उन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में करके पूर्णरूप से आत्म-नियन्त्रण की स्थिति प्राप्त कर ली थी। 'हाथी' (एक महान् आत्मा) को देखकर, द्रोण महात्मा बुद्ध के पास आये और कहा:

"श्रद्धेय, क्या आप देव हो?"
"नहीं ब्राह्मण! मैं कोई देव नहीं हूँ।"
"तो फिर आप गन्धर्व हो?"
"नहीं ब्राह्मण! ऐसा नहीं है।"
"तो आप 'यक्ष' हो?"
"नहीं ब्राह्मण! मैं कोई 'यक्ष' नहीं हूँ।"
"तो फिर हे श्रद्धेय! आप एक मानव हो?"
"नहीं ब्राह्मण! मैं कोई मानव भी नहीं हूँ।"
"आप मेरे सभी प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' में दे रहे हैं। तो फिर हे श्रद्धेय! आप हैं कौन?"

तब महात्मा बुद्ध ने कहा:

"हे ब्राह्मण! तुम यही समझ लो कि मैं बुद्ध हूँ।"[87]

जैसा कि बौद्धधर्म के एक जाने-माने विद्वान् ज़ंजीरो ताकाकुसु (1866-1945) ने वर्णन किया है, महात्मा बुद्ध ने आगे यह भी कहा:

यदि तुम मेरे उपदेश पर दृढ़ रहोगे और उसका अभ्यास करते रहोगे तो क्या यह ऐसा नहीं होगा जैसे कि मेरी धर्मकाय सदा के लिए यहाँ रहेगी?[88]

इसकी व्याख्या करते हुए ताकाकुसु कहते हैं, "यहाँ धर्मकाय का अर्थ है कि स्थूल शरीर के नष्ट होने के बाद... उनकी काया धर्म के रूप में विद्यमान रहेगी।"[89]

पालि धर्मग्रन्थ में जब यह वर्णन मिलता है कि महात्मा बुद्ध अपने दिव्य सूक्ष्म रूप में कई देवताओं से मिलने उनके मण्डलों में गये तो सम्भोगकाय (आनन्दमय या दिव्य शरीर) का भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए, महात्मा बुद्ध एक बार बक ब्रह्मा और 'मार' से उस समय मिले, जब बक ब्रह्मा अपने देवगणों के साथ सभा में विराजमान थे। बौद्धधर्म में बक ब्रह्मा एक देवता के रूप में माने गये हैं और 'मार' को सांसारिक प्रलोभन देनेवाला माना जाता है। वहाँ महात्मा बुद्ध ने बक ब्रह्मा से अपने इस भ्रम को त्याग देने का निवेदन किया कि उनका स्वर्गीय संसार अविनाशी है।[90]

इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि त्रिकाय के सिद्धान्त की जड़ें बौद्धधर्म में पहले से ही स्थापित हो चुकी थीं। इस सिद्धान्त को महायान-शाखा के आचार्यों ने विकसित और व्यवस्थित किया। महायान-शाखा में महात्मा बुद्ध के स्थूल रूप और इसके द्वारा प्रकट किये गये सत्य में स्पष्ट रूप से अन्तर बताया गया है। दूसरे शब्दों में, ऐतिहासिक बुद्ध को धर्म का मूर्तिमान् रूप माना गया, परन्तु धर्म उनके मनो-भौतिक रूप से कहीं बढ़कर है। महायान-शाखा के धर्मग्रन्थों में से लिए गये कुछ उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए *अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता (Perfection of Wisdom Sutra in Eight*

Thousand Lines) में देवताओं के राजा शक्र ने महात्मा बुद्ध के इन वचनों को उद्धृत किया है:

> *धर्मकाय ही बुद्ध है, प्रभु है। परन्तु हे भिक्षुओं! तुम्हें यह नहीं सोचना चाहिए कि यह स्थूल शरीर ही मैं हूँ। हे भिक्षुओं! तुम मुझे धर्मकाय की उपलब्धि के आधार पर ही देखो।*[91]

उसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है:

> *तथागत निश्चय ही न तो कहीं से आते हैं, न कहीं जाते हैं। क्योंकि तथता तो अचल है और तथागत ही तथता है... । वे लोग मूर्ख हैं जो यह सोचते हैं कि तथागत आते-जाते हैं। क्योंकि तथागत की वास्तविक पहचान उनकी 'रूपकाय' से नहीं हो सकती।* धर्मकाय ही तथागत है।*[92]

जैसा कि नौवीं शताब्दी के चीनी गुरु ह्वांग-पो (Huang-Po) ने, जो सी-युन (Hsi Yun) के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, स्पष्ट किया है:

> *सभी बुद्ध और सभी चेतन जीवात्माएँ परम मन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं*† *और इसके सिवाय किसी का अस्तित्व नहीं है। यह मन जो अनादि है, अजन्मा तथा अनश्वर है। यह न*

* तथागत बुद्ध की ही एक उपाधि है जो परम सत्य अथवा परम सत्ता के साथ उसकी एकात्मकता को दर्शाती है; 'रूपकाय' 'निर्माणकाय' का ही पर्याय है जो बुद्ध का साकार रूप है।

† धारणाओं और विचारों से परे जो अभिव्यक्त न होनेवाला सत्य है, ह्वांग-पो उस सत्य के लिए 'मन' शब्द का प्रयोग करने के लिए सन्तुष्ट नहीं थे, क्योंकि उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि 'परम मन' वास्तव में मन नहीं है। परन्तु उन्हें किसी पारिभाषिक शब्द का प्रयोग करना था और उन्होंने अपने पूर्वजों द्वारा प्रयुक्त शब्द 'मन' का ही प्रयोग किया जिसे चीनी भाषा में 'ज़िन' कहते हैं।

> *तो हरा है, न पीला, न ही इसका कोई रूप या आकार है। यह उन पदार्थों की श्रेणी में नहीं आता जिनका अस्तित्व होता है या नहीं होता, न ही उसे नया या पुराना समझा जा सकता है। न यह लम्बा है न नाटा, न बड़ा है न छोटा; यह तो हर प्रकार की सीमा, माप, नाम, चिह्न और तुलनाओं से परे है। यह वह है जो तुम अपने सामने देखते हो – जब इसके बारे में सोच-विचार करने लगते हो तो एकदम ग़लती कर बैठते हो। यह उस अथाह शून्य के समान है जिसका न पार पाया जा सकता है, न उसे मापा जा सकता है।*
>
> *यह परम मन ही बुद्ध है और बुद्ध तथा चेतन जीवात्माओं में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु चूँकि चेतन जीवात्माओं का सम्बन्ध विभिन्न आकारों से है, इसलिए वे बुद्धत्व को बाहर ही खोजती हैं। क्योंकि वे खोज करती हैं, इसी कारण वे भटक जाती हैं, क्योंकि ऐसा करने का अर्थ है बुद्ध की खोज के लिए बुद्ध का ही प्रयोग करना और मन को समझने के लिए मन का ही प्रयोग करना। ऐसा करते हुए चाहे वे पूरा युग बिता दें तो भी उन्हें यह बुद्धत्व प्राप्त नहीं हो सकता। इन्हें मालूम नहीं कि अगर वे अपनी धारणाओं और विचारों पर रोक लगा दें और अपनी आकुलता भूल जायें तो बुद्ध उनके सामने प्रकट हो जायेंगे, क्योंकि यह मन ही बुद्ध है और बुद्ध ही सर्वजीवात्मा स्वरूप हैं। एक साधारण जीवात्मा में प्रकट होने से उसका महत्त्व कम नहीं हो जाता, और न बुद्ध में प्रकट होने पर उसका महत्त्व बढ़ जाता है।*[93]

यही बात महात्मा बुद्ध ने *वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता* (*डायमंड सूत्र*) में कही है:

> *हे सुभूति (एक वरिष्ठ भिक्षु), तथागत, सच्ची तथता का पर्याय हैं।*[94]

इसमें आगे लिखा है:

> जो भी यह कहता है कि तथागत आते हैं या जाते हैं... वह मेरे उपदेश का अर्थ नहीं समझता। क्यों? क्योंकि तथागत उसे ही कहा जाता है जो कहीं जाता नहीं, न ही कहीं से आता है। इसीलिए उसे तथागत, अर्हत या सम्यक् सम्बुद्ध कहा जाता है।[95]

महायान-शाखा के *सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र)* में स्पष्ट किया गया है कि अमर-अविनाशी तथागत इस मायावी-संसार में जन्म और मृत्यु का दिखावा क्यों करते हैं। वे जो भी करते हैं, वह एक जादू के करतब के समान है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि इस संसार की हर चीज़ जिसका हम अनुभव करते हैं। *सद्धर्म पुण्डरीक* में बताया गया है कि सांसारिक जीवों के स्तर पर आकर, करुणामय तथागत उन जीवों को ज्ञान देने और चेताने के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय-कौशल्य का प्रयोग करते हैं जिसके बिना ये जीव निर्वाण प्राप्ति के अपने मूल दायित्व को अनदेखा कर देंगे, जैसा कि *सद्धर्म पुण्डरीक* में बताया गया है:

> तथागत का जीवन अनन्त है, वे नित्य हैं। यद्यपि तथागत ने निर्वाण में प्रवेश नहीं किया है तथापि जिन जीवों को वे ज्ञान देना चाहते हैं, उनके लिए यह दिखावा करते हैं कि उन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया है... क्योंकि ऐसा हो सकता है कि यदि मैं यहाँ अधिक समय तक रहा और बार-बार दिखाई देता रहा तो वे जीव जिन्होंने अच्छे कर्म नहीं किये हैं, जिनमें कोई गुण नहीं हैं, जो अभागे हैं, जो विषय-भोगों के चाहवान हैं, अज्ञानी हैं और झूठी माया के जाल में फँसे हुए हैं, वे यह जानकर कि तथागत यहीं रहेंगे, सोच लेंगे कि जीवन केवल आनन्द-उपभोग के लिए है, वे यह नहीं समझ पायेंगे कि तथागत को प्राप्त करना बहुत कठिन है।

> इस विश्वास में कि तथागत तो हमेशा ही यहाँ होंगे, वे इस त्रिलोकी से बचने के लिए अथक प्रयास नहीं करेंगे और न ही यह समझ पायेंगे कि तथागत की प्राप्ति आसान नहीं है।
>
> इसलिए तथागत ने अपने सर्वश्रेष्ठ उपाय-कौशल्य द्वारा उन जीवात्माओं से यह कहा, 'हे भिक्षुओं! इस संसार में तथागत कभी-कभी ही प्रकट होते हैं।'...जब वे तथागत को नहीं देखेंगे, तब वे उनके दर्शन पाने के लिए व्याकुल होंगे... इस विचार से, जिन जीवों को तथागत ज्ञान देना चाहते हैं, उनके लिए वे निर्वाण में प्रवेश किये बिना यह घोषणा कर देते हैं कि उन्होंने निर्वाण में प्रवेश कर लिया है। और यह स्वयं तथागत द्वारा धर्म पर दिया गया प्रवचन है। जब वे ऐसा फ़रमाते हैं तो तथागत की ओर से इसमें कुछ असत्य नहीं होता।[96]

सम्भोगकाय वह आनन्दमय या दिव्य काया है, जिसके द्वारा बुद्ध शुद्ध दिव्य मण्डलों में प्रकट होते हैं जहाँ वे उन बोधिसत्त्वों के साथ, जो पवित्र तथा करुणामय आत्माएँ हैं, धर्म के आनन्द की चर्चा करते हैं। नीचे दिये गये कुछ उद्धरण सम्भोगकाय की महिमा तथा उन मण्डलों के आनन्द की ओर संकेत करते हैं जहाँ यह काया प्रकट होती है:

> तब उस श्रद्धेय महापुरुष (बुद्ध) ने मानव-दृष्टि से नहीं, बल्कि प्रज्ञा-चक्षु से अपनी महान् सभा की ओर फिर से देखा। सिंहराज की तरह ज़ोर से खिलखिलाकर हँस उठने पर, उनकी दोनों भृकुटियों के मध्य (बिन्दु: ऊर्णा) से प्रकाश की किरणें निकल रहीं थीं... जो एक चमकते हुए इन्द्रधनुष के समान, उगते हुए सूरज के समान, अत्यन्त तेज और कान्ति से युक्त थीं जिन्हें आकाश से शक्र, ब्रह्मा और दिग्पालों ने देखा।[97]

सद्धर्म पुण्डरीक में भी बुद्ध के विषय में ऐसा ही वर्णन मिलता है:

> उस समय उस श्रद्धेय महापुरुष की दोनों भृकुटियों के मध्य-बिन्दु से प्रकाश की एक किरण निकली। यह किरण पूर्व में अट्ठारह हज़ार बुद्ध-क्षेत्रों में व्याप्त हो गयी। ये सभी बुद्ध-क्षेत्र प्रकाश की इस किरण से जगमगा उठे, जो घोर नरक 'अवीचि' से लेकर सर्वोच्च दिव्य-मण्डल तक फैल गयी।[98]

सुखावती, जो सर्वोच्च दिव्य-मण्डल है जहाँ आत्मा सम्बोधि या निर्वाण की स्थिति प्राप्त करने से पहले रहती है,* के आनन्द और सौन्दर्य की ओर संकेत करते हुए सुखावती-व्यूह में कहा गया है:

> और हे आनन्द, सुखावती नाम का लोक, जिसके स्वामी भगवत् अमिताभ हैं और जो इस लोक के बुद्ध भी हैं, समृद्ध, सम्पन्न और सुखपूर्वक निवास करने योग्य है...वहाँ रत्नों के वृक्ष हैं जो सुनहरे रंग के हैं और सोने के बने हुए हैं... रुपहले (चाँदी के) रंग के हैं और चाँदी के ही बने हुए हैं... हीरे के रंग के हैं और हीरों से ही बने हुए हैं।...
>
> वहाँ ऐसे कमल के फूल हैं जिनका घेरा आधा योजन (दस किलोमीटर) है, एक योजन..., दो, तीन, चार या पाँच योजन तक है; और कुछ का घेरा तो दस योजन तक है...

---

* जैसा कि महात्मा बुद्ध संकेत करते हैं: 'हे आनन्द! जो बोधिसत्त्व वहाँ सुखावती में जन्म ले चुके हैं, अभी जन्म ले रहे हैं या बाद में जन्म लेंगे, उनका केवल एक ही जन्म होगा अर्थात् अभी सुखावती में जो उनका जन्म हुआ है। वे वास्तव में वहीं से सर्वोच्च पूर्ण ज्ञान प्राप्त करेंगे सिवाय... उन बोधिसत्त्वों के जो परिनिर्वाण की प्राप्ति के लिए दूसरे लोगों की सहायता में जुटे हुए हैं।' (एफ़.एम.म्यूलर द्वारा अनूदित *बुद्धिस्ट महायान टैक्सट्स* के अन्तर्गत द *लार्जर सुखावती-व्यूह*, पृ. 51-52)

> हे आनन्द, सुखावती के उस देश में तरह-तरह की नदियाँ बहती हैं, जिनकी मधुर प्रतिध्वनि... गहन, अज्ञात, अगम्य, निर्मल और कानों को सुख देनेवाली है...
>
> हे आनन्द! उस सुखावती लोक में जीव भोजन के रूप में ठोस या तरल पदार्थ, जैसे रसेदार खाना या चाशनी नहीं लेते, परन्तु जो कुछ भी खाने की उनकी इच्छा होती है, वे उसे अपने सामने परोसा हुआ देखते हैं और उन्हें लगता है कि उन्होंने वह खाना खा लिया है। इस प्रकार उनके शरीर और मन की इसीसे तृप्ति हो जाती है। उन्हें कोई खाद्य पदार्थ मुँह में डालने की आवश्यकता नहीं होती।[99]

त्रिकाय से सम्बन्धित इन उद्धरणों से संकेत मिलता है कि धर्मकाय या सत्काय ही बुद्ध का वास्तविक स्वरूप है। 'काय' (शरीर या रूप) को यहाँ विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है: इसका भाव केवल शक्ति अथवा ऊर्जा का एक केन्द्र है; जिसकी कोई सीमा नहीं है। उदाहरण के लिए, धर्मकाय शुद्ध चेतना है; इसमें कोई स्थूल या जड़ तत्त्व नहीं है जो इसे किसी भी प्रकार से सीमित कर सके। बौद्धधर्म में इसे परम तत्त्व या सबका परम आधार माना गया है। यह निरपेक्ष है, पूरी तरह समय और स्थान की सीमाओं से परे है और हमारे संसार के गोचर घटनाक्रमों की सीमाओं से बहुत परे होते हुए इसके साथ-साथ भी चलता है। अन्य दोनों शरीर इसी से प्रकट होते हैं और इसी पर आधारित हैं, यद्यपि यह अपने आपमें परिपूर्ण है, अखण्डनीय है। यह सदा एकरूप रहता है।

वह परिपूर्ण या वास्तविक बुद्ध या तथागत, स्वयं 'दिव्य' अथवा 'आनन्दमय' सूक्ष्म रूप में प्रकट होता है जिसे सम्भोगकाय कहते हैं और जिसका उद्देश्य शुद्ध बुद्ध-क्षेत्रों में बोधिसत्त्वों को उपदेश देना है। ये बुद्ध-क्षेत्र विशुद्ध आनन्दमय स्वर्ग या लोक हैं। विभिन्न बुद्ध-क्षेत्रों में तथागत के विभिन्न दिव्य रूप देखे और सुने जाते हैं। इसी प्रकार भौतिक संसार में बुद्ध भौतिक रूप में प्रकट होते हैं। यह काया 'निर्माणकाय'

कहलाती है जो इस स्थूल जगत् के दुःखी जीवों को बचाने का कार्य करती है।

कुछ बौद्धमत वालों ने बुद्ध के चार स्वरूपों का वर्णन किया है।[100] हम देख चुके हैं कि देवताओं, ब्रह्माओं आदि की सहायता करने के लिए, उन्हें ज्ञान देने के लिए तथा उनके सन्देह दूर करने के लिए बुद्ध अलग-अलग रूप धारण करते हैं और विभिन्न मण्डलों में जाते हैं। इसलिए बुद्ध के तीन, चार या अनेक रूपों के बारे में संकुचित दृष्टिकोण नहीं रखना चाहिए। यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम उन मण्डलों का विभाजन मोटे तौर पर करते हैं या विस्तार से करते हैं।

इतिहास प्रसिद्ध बुद्ध का महत्त्व

यदि धर्मकाय ही बुद्ध का वास्तविक स्वरूप है तो फिर ऐतिहासिक बुद्ध का क्या महत्त्व है? उनकी क्या भूमिका है? यदि कोई इन प्रश्नों को सुलझाना चाहता है तो उसे यह बात समझनी होगी कि परम सत्य अद्वैत है और बुद्ध वास्तव में अखण्डनीय हैं, भले ही वे अलग-अलग रूपों में प्रकट होते हैं।

प्रज्ञा ही वास्तविक बुद्ध है जो अखण्ड रूप से महाकरुणा का अभिन्न अंग है। सच्ची प्रज्ञा और करुणा से युक्त बुद्ध वह सर्वश्रेष्ठ अथवा सबसे उपयुक्त विधि बता सकते हैं जिसके द्वारा इस संसार के अज्ञानी और दुःखी लोगों को बचाया जा सके। इस सर्वश्रेष्ठ अथवा सबसे उपयुक्त विधि को बौद्धधर्म की महायान शाखा में *उपाय कौशल्य* कहा गया है। इस *उपाय कौशल्य* द्वारा धर्मकाय या वास्तविक बुद्ध इस संसार के लोगों के प्रति करुणा रखते हुए उनकी भलाई और ख़ुशी के लिए इस जगत् में अवतरित होते हैं।[101] केवल इस देहरूप के द्वारा ही वे इस स्थूल जगत् के लोगों को जाग्रत कर सकते हैं और उन्हें परम धाम का मार्ग बता सकते हैं। इस उद्देश्य को पूरा करने का और कोई तरीक़ा नहीं है। जैसा कि *अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता* में कहा गया है:

> *तथागत का देहस्वरूप उनकी पूर्ण प्रज्ञा के उपाय कौशल्य का परिणाम है। और यह स्वरूप (दूसरों द्वारा) उस सर्वज्ञाता को जानने (प्राप्त करने) का एक निश्चित आधार बन जाता है। इस आधार के सहारे ही सर्वज्ञाता के ज्ञान का साक्षात्कार होता है।*[102]

बुद्ध का देहस्वरूप केवल उनके असली स्वरूप को सांसारिक लोगों से छिपाकर रखता है। परन्तु वास्तव में बुद्ध सदैव एकरूप रहते हैं। *सद्धर्म पुण्डरीक* में देहधारी बुद्ध कहते हैं:

> *मैं तथागत हूँ, पुण्यशील हूँ, अजेय हूँ। मैंने दूसरों के उद्धार के लिए ही इस संसार में जन्म लिया है।*[103]

अवतंसक सूत्र में हम पढ़ते हैं:

> *बुद्ध अकसर संसार में प्रकट होते हैं,*
> *सभी जीवात्माओं को ज्ञान देने के लिए,*
> *उन्हें सत्य का मार्ग दिखाने के लिए,*
> *उन्हें समझाने और चिताने के लिए,*
> *और उन्हें प्रज्ञा की अवस्था में लाने के लिए।*[104]

इस स्थूल जगत् के स्तर पर रहनेवाले मनुष्यों के लिए धर्मकाय अथवा वास्तविक बुद्ध तक पहुँचना सम्भव नहीं है। जब तक बुद्ध इस स्थूल जगत् के लोगों पर अपार दया करके उनके स्तर पर आकर प्रकट नहीं होते, तब तक वे लोग उन्हें कभी नहीं देख सकते, न उनके साथ बातचीत कर सकते हैं और न ही उनसे कोई लाभ उठा सकते हैं। इसलिए बुद्ध का आवरणयुक्त देहस्वरूप उनका वास्तविक स्वरूप न होने पर भी इस संसार के लोगों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके बिना न तो सांसारिक लोगों को जाग्रत किया जा सकता है और

न ही बचाया जा सकता है। जापान के एक बौद्ध-विद्वान् डी.टी.सुज़ूकी ईसाई-धर्म में वर्णित त्रिरूप परमेश्वर (पिता, पुत्र और होली-घोस्ट) की धारणा के अनुरूप बौद्धधर्म के इस विचार को स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं:

> हम धर्मकाय की तुलना ईसाई-धर्म में ईश्वरत्व की धारणा से कर सकते हैं। धर्मकाय को स्वभावकाय भी कहा जाता है जिसका अर्थ है 'स्वभाव के अनुरूप काया' (ज़ु-ज़िंग-शिन) क्योंकि यह अपने में ही निवास करती है, यह अपने स्वभाव को स्थिर रखते हुए क़ायम रहती है। इस दृष्टिकोण से यह बुद्ध का परिपूर्ण सारतत्त्व है जिसमें परम शान्ति विराजमान है।[105]

सुज़ूकी आगे स्पष्ट करते हैं:

> बुद्धत्व का सार रूप धर्मकाय है, परन्तु जब तक बुद्ध अपने सार रूप में रहते हैं, तब तक इस संसार के किसी भी व्यक्ति के निर्वाण की कोई आशा नहीं की जा सकती। बुद्ध को अपने मूल रूप को त्यागना पड़ता है और ऐसा रूप धारण करना पड़ता है जिसे संसार के प्राणी ग्रहण कर सकें और जिसे वे समझ सकें। परम बुद्धत्व मानो शब्द-स्वरूप में प्रकट होता है और केवल वे ही इसे देख सकते हैं जो पूर्व जन्म के संस्कारों द्वारा इसे देखने के लिए तैयार हैं।[106]

इसलिए जो भी पूर्ण प्रज्ञा तथा निर्वाण प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उन्हें बुद्ध की खोज करनी चाहिए और पूरी श्रद्धा से उनके उपदेश का पालन करना चाहिए। जैसा कि आठवीं शताब्दी के एक लेखक, अनंगवज्र, ने कहा है:

> एक बुद्धिमान् व्यक्ति को अवश्य ही एक सच्चे गुरु की शरण में जाना चाहिए क्योंकि उनके बिना करोड़ों युगों तक भी सत्य को जाना नहीं जा सकता। और अगर सत्य का ज्ञान नहीं हुआ तो अन्तिम लक्ष्य तक कभी नहीं पहुँचा जा सकता... । इसलिए जीवन में यदि सौभाग्य से सत्य का भेद जाननेवाले गुरु मिल जायें... जो इच्छापूरी करनेवाले आश्चर्यजनक रत्न हैं... तो पूर्णता प्राप्त करने का लक्ष्य रखनेवाले व्यक्ति को अपनी पूरी शक्ति और श्रद्धा से उनका सम्मान करना चाहिए। उनकी तेजस्विता द्वारा ही असीम ज्ञान का आनन्द प्राप्त होता है।... इसलिए ऐसे नेक व्यक्ति जो पूर्णता की चाह रखते हैं, वे अपने गुरु के प्रति सच्चे हृदय से सदैव पूर्ण श्रद्धाभाव और सम्मान रखते हैं, जो असीम जीवन लाभ के दाता हैं।[107]

ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि बुद्ध अपने देहस्वरूप में भी उस धर्मकाय के द्वारा आलोकित रहते हैं जो चरम सत्य, असीम और परम तत्त्व है। एक विवेकशील व्यक्ति को इसी तथ्य के द्वारा उन्हें दूसरों से अलग पहचानने में सहायता मिलती है। इस प्रकार संसार में उनकी पहचान होती है और लोग उनके उपदेश की ओर ध्यान देते हैं। *वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता (डायमंड सूत्र)* में इस विचार को साररूप में इस प्रकार व्यक्त किया गया है:

> वह परमशक्ति ही पुण्यात्माओं को प्रभाविता प्रदान करती है।[108]

इसी सूत्र पर टिप्पणी करते हुए एडवर्ड कॉन्ज़ ने कहा है:

> यह एक जटिल विचार है और इसे व्यक्त करने के लिए एक जटिल शब्द का प्रयोग किया गया है। 'प्रभाविता' शब्द के बहुत गहन अर्थ हैं और 'प्रभाविता' ही मुझे सबसे उपयुक्त लगा।

ऐसा भी कहा जा सकता है कि वे उसी से 'तेजस्विता प्राप्त करते है', 'शक्ति प्राप्त करते है', उसी से 'उन्हें विशिष्टता प्राप्त होती है' अथवा 'उनकी महिमा होती है।' भाव यह है कि पवित्र पुरुष उस बन्धनरहित परम सत्ता से प्रकट होते हैं, उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी के कारण अस्तित्व ग्रहण करते हैं।[109]

बुद्ध की व्यावहारिकता

बुद्ध के उच्च और अपरिवर्तनशील स्वरूप पर विचार करने के बाद पालि सूत्रों में बतायी गयी इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि गौतम बुद्ध अपने देहस्वरूप में आध्यात्मिकता के एक व्यावहारिक मार्गदर्शक थे। उनका दृष्टिकोण बहुत व्यावहारिक था और वे उन प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे जो प्रश्नकर्ता के अभ्यास से सम्बन्धित नहीं होते थे।

दीघ निकाय के एक सुत्त में, महात्मा बुद्ध के एक नये शिष्य चुन्द ने पूछा कि जब अन्य मार्गों पर चलनेवाले जिज्ञासु यह प्रश्न पूछें कि बुद्ध ने परलोक-सम्बन्धी गूढ़ कथनों का उत्तर देने से मना क्यों कर दिया तो उन्हें क्या कहना चाहिए। बुद्ध ने उत्तर दिया:

> उन्हें बताना चाहिए: "मित्र! यह (परलोक सम्बन्धी कथनों का उत्तर देना) किसी के कल्याण का, धम्म का, श्रेष्ठ पुण्यशील जीवन का, मोहभंग का, विरक्ति का, वैराग्य का, शान्ति का, ज्ञान प्राप्ति का, बुद्धत्व की प्राप्ति, निब्बान का सहायक नहीं बन सकता। इसीलिए प्रभु ने इसे प्रकट नहीं किया है"...
>
> इस पर वे फिर से प्रश्न कर सकते हैं: "फिर श्रमण गौतम ने उपदेश क्यों दिया है?"
>
> तब उनसे कहना चाहिये: "मित्र! यह व्यक्ति के कल्याण में, धम्म में, श्रेष्ठ पुण्यशील जीवन में, मोहभंग, विरक्ति, वैराग्य, शान्ति, ज्ञान प्राप्ति, बुद्धत्व की प्राप्ति में और निब्बान में कल्याणकारी है। इसीलिए प्रभु ने इसे प्रकट किया है।"[110]

यह कथन पूर्ण रूप से बुद्ध के व्यावहारिक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है। चौदहवीं शताब्दी के ज़ैन गुरु बस्सुई टोकुशो (1327-1387) ने बुद्ध के इसी दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए स्पष्ट किया है। यद्यपि "सभी मनुष्यों के भीतर जो परम मन है, उसके दायरे के बाहर कोई धर्म या बुद्ध नहीं है,"[111] परन्तु गुरु सदैव शिष्य की क्षमता के अनुरूप उपदेश देते हैं:

> यदि तुम कहते हो कि धर्म दो हैं तो तुम तथागत का अपमान करते हो। परन्तु भले ही इस दृष्टिकोण के अनुसार धर्म दो नहीं हैं, फिर भी जनसाधारण के कर्मों पर निर्भर होने के कारण इस मार्ग पर प्रगति तीव्रगति से भी हो सकती है और धीमी गति से भी, इसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति एकाएक भी हो सकती है और धीरे-धीरे भी और भ्रमों से बुद्धत्व प्राप्ति तक की यात्रा उथली भी हो सकती है और गहन भी। और इस यात्रा की गहराई के अनुसार आन्तरिक उपलब्धियाँ भी ऊँची अथवा मन्द होंगी।[112]

बुद्ध ने जीवात्माओं को उनकी क्षमता के अनुरूप उपदेश दिया ताकि वे इसे स्वयं अपने अनुभव द्वारा समझ सकें। वास्तव में बौद्धधर्म की यह एक विशेषता है कि यद्यपि धर्म एक ही है, फिर भी इसे समझाने के अनेक अलग-अलग ढंग हैं।

4

मनुष्य-जीवन

मनुष्य-जीवन की दुर्लभता

बौद्धधर्म के उपदेश के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में बहुत-से लोक और जीव हैं जो अपने पूर्वकर्मों के कारण जन्म-मरण के चक्र (संसार) * में फँसे हुए हैं । इस सृष्टि में समय-समय पर प्रकट होनेवाले किसी बुद्ध महात्मा द्वारा बताये गये मार्ग पर चलकर ही जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाया जा सकता है। किसी बुद्ध महात्मा के सम्पर्क में आये बिना कोई जीव किसी भी अस्थायी दिव्य-मण्डल में एक लम्बे समय तक आनन्दपूर्ण निवास कर सुख तो भोग सकता है, किन्तु वह जन्म-मरण के संकटपूर्ण चक्र से सदा के लिए छुटकारा नहीं पा सकता।

बौद्धधर्म में वर्णित ब्रह्माण्ड में जीवन के अनेक रूपों में मानव-जीवन एक दुर्लभ और अमूल्य वरदान है। यह हमें इसलिए दिया जाता है ताकि हम जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाने के लिए प्रयास कर सकें। किसी अन्य योनि में मुक्ति के लिए प्रयास करने और इसे प्राप्त करने

* संसार का शाब्दिक अर्थ है 'बहते जाना' या 'भटकते रहना'।

का विधान नहीं है। मनुष्य-जीवन की सीमित अवधि में ही हम अपना भविष्य सँवार सकते हैं या बिगाड़ सकते हैं। जैसा कि महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट किया है, हमें इस अमूल्य अवसर को व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए। महात्मा बुद्ध एक उपमा देकर समझाते हैं कि मनुष्य-जीवन अत्यन्त दुर्लभ है:

> *हे भिक्षुओं! मान लो, कोई व्यक्ति विशाल समुद्र में हल में जोते जानेवाला जुआ फेंकता है जिसका एक ही छेद है। पूर्वी हवा इसे पश्चिम की ओर ले जा सकती है और पश्चिमी हवा इसे पूर्व की ओर ले जा सकती है; उत्तर की ओर से चलनेवाली हवा इसे दक्षिण की ओर ले जा सकती है, जबकि दक्षिणी हवा इसे उत्तर की ओर ले जा सकती है। मान लो कि एक अन्धा कछुआ सौ वर्षों में केवल एक ही बार समुद्र की सतह पर आता है। हे भिक्षुओं! इसके बारे में आपका क्या विचार है? क्या वह जुए के एकमात्र छेद में अपनी गर्दन डाल पायेगा?*
>
> *नहीं पूज्यवर! ऐसा सम्भव नहीं है; और यदि वह ऐसा कर भी ले तो बहुत लम्बी अवधि के बाद शायद वह केवल एक ही बार ऐसा कर पायेगा।*
>
> *इस प्रकार हे भिक्षुओं! मैं कहता हूँ कि एक अन्धे कछुए द्वारा जुए के एक छेद में अपनी गर्दन डालने से भी अधिक कठिन होगा उस मूर्ख व्यक्ति का एक बार फिर से मनुष्य-जन्म प्राप्त करना जिसने स्वयं ही अपना पतन कर लिया था।*[113]

बौद्धधर्म के ग्रन्थों में मनुष्य-जीवन के इस दुर्लभ अवसर पर बल देने के लिए बार-बार इस उपमा का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए *बोधिचर्यावतार* में बौद्धधर्म की महायान-शाखा के आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध टीकाकार शान्तिदेव कहते हैं:

इसलिए उस पूज्यवर ने कहा है:
मनुष्य-जन्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।
यह उसी तरह है जैसे एक कछुए का
विशाल समुद्र में फेंके गये जुए के एक छेद में
संयोगवश अपना सिर डालना।[114]

बौद्धधर्म के तिब्बती गेलुग्पा विचारधारा के प्रसिद्ध गुरु पाबोंग्का रिनपोचे (1878-1941) इस उपमा के महत्त्व को समझाते हुए कहते हैं:

इस उपमा के तत्त्वों का भावार्थ इस प्रकार है: समुद्र सांसारिक अवस्था है (आवागमन का अन्तहीन चक्र), कछुआ हम स्वयं हैं, कछुए का अन्धापन अज्ञान है और जुआ है एक बुद्ध महात्मा का उपदेश, इत्यादि।[115]

पैट्रुल रिनपोचे इस उपमा को और अधिक स्पष्ट करते हैं:

समुद्र, आवागमन और इससे जुड़े अन्तहीन दुःखों और कष्टों से भरे तीन निचले लोकों की गहनता और विशालता का प्रतीक है। अन्धा कछुआ इन तीन लोकों के निवासियों का प्रतीक है जिनके पास वे दो नेत्र नहीं हैं जिनसे उन्हें अपने हित और अहित में अन्तर पता चल सके। यह तथ्य कि कछुआ सौ सालों में एक ही बार समुद्र की सतह पर आता है, इस बात का प्रतीक है कि इस दुःखमय स्थिति से छुटकारा पाना बहुत मुश्किल है। जुए का एकमात्र छेद इस बात का प्रतीक है कि मनुष्य-जीवन और दिव्य अस्तित्व अत्यन्त दुर्लभ हैं। इसे कभी एक दिशा में और कभी दूसरी दिशा में ढकेलने वाली हवा इस बात की प्रतीक है कि यह सब अनुकूल परिस्थितियों पर ही निर्भर है।[116]

इन कठिनाइयों को स्वीकार करते हुए महात्मा बुद्ध स्वयं कहते हैं:

कठिन है मनुष्य-जन्म प्राप्त कर पाना;
कठिन है मनुष्य-जीवन।
कठिन है सच्चा उपदेश सुन पाना;
और दुर्लभ है पूर्ण सन्तों का प्रकट होना।[117]

इसलिए शान्तिदेव हमें प्रेरित करते हुए कहते हैं कि बड़ी कठिनाई से प्राप्त होनेवाले मनुष्य-जीवन में हमें अपने वास्तविक कार्य के प्रति सचेत रहना चाहिए:

मनुष्य-जीवनरूपी नाव प्राप्त करके,
दुःखों की इस भयानक नदी को पार कर लो।
हे मूर्ख! यह सोने का समय नहीं है,
इस नाव का दोबारा मिलना कठिन है।[118]

मनुष्य-जीवन वह नाज़ुक मोड़ है जहाँ से हम अपनी आन्तरिक यात्रा आरम्भ करके सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं या फिर किसी निम्न-योनि के स्तर तक पहुँचकर, फिर से कई प्रकार की निचली योनियों में भटकते रह सकते हैं। जैसा कि पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

अब जब कि हमें स्वतन्त्र और पूर्ण सम्पन्न मनुष्य-जन्म मिला हुआ है और हमें इस बात का भी ज्ञान है कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं; इस मोड़ पर, जब कि हमें चुनाव करने की स्वतन्त्रता है, हमारे द्वारा लिया गया निर्णय ही भविष्य में हमारे अच्छे या बुरे भाग्य की दिशा निर्धारित करेगा। यह बहुत आवश्यक है कि हम एक ही बार संसार अथवा निर्वाण को

चुनने का फ़ैसला लें और अपने गुरु के निर्देशों का पालन करें।... मनुष्य होने के नाते अन्य जीवों की तुलना में तुम्हारे अच्छे कर्म अधिक प्रभावशाली हैं... परन्तु इसके साथ ही तुम्हारे बुरे कर्म भी अधिक प्रभावशाली हैं।[119]

यह दुर्लभ और अनमोल मनुष्य-जीवन थोड़े समय के लिए ही मिला है, इसलिए इस समय का पूरा-पूरा सदुपयोग करना बहुत आवश्यक है। पाबोंग्का रिनपोचे हमें समझाते हैं:

मनुष्य-जन्म का यह दुर्लभ अवसर
चिंतामणि से भी अधिक मूल्यवान् है।
ऐसा अवसर तुम्हें केवल एक बार मिलता है,
यह बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है और बड़ी आसानी से नष्ट हो जाता है,
यह आकाश में चमकने वाली बिजली की कौंध के समान है।[120]

ज़ेन गुरु र्योकन ने (1758-1831) भी अपने समय के असावधान बौद्ध धर्माधिकारियों को चेतावनी देते हुए कहा:

तीनों लोक अस्थायी निवास-स्थान हैं और मनुष्य-जीवन प्रभात की ओस के समान क्षणिक है। एक अच्छा अवसर आसानी से हाथ से निकल जाता है, और सच्चा उपदेश प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। तुम्हें नये सिरे से शुरुआत करनी होगी! इस बात की प्रतीक्षा मत करो कि मैं तुमसे फिर कहूँगा और तुम्हारी सहायता करूँगा। अभी मैं गम्भीरता से तुम्हें निवेदन कर रहा हूँ, परन्तु ऐसा आग्रह करना मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं चाहता हूँ कि आज से ही तुम ध्यानपूर्वक सोच-विचार करो और अपने तौर-तरीक़े बदलो।

हे बुद्ध के उत्तराधिकारियों! ख़ूब परिश्रम करो ताकि तुम्हें कोई पछतावा न रहे।[121]

सब कुछ मनुष्य-शरीर के ही भीतर

बुद्ध के उपदेश की तुलना एक ऐसी नदी से की जा सकती है जिसमें से कई छोटी-छोटी नदियाँ निकलती हैं और बहते-बहते समय तथा स्थान की मिट्टी के अनुरूप रंगत ले लेती हैं। वर्तमान समय तक पहुँचते-पहुँचते बौद्धधर्म ने अनेक धाराएँ और स्वरूप ग्रहण कर लिए हैं। ये धाराएँ एक दूसरे से कितनी भी अलग क्यों न लगें, परन्तु इनके मूल उपदेश के आधारभूत तत्त्व एक समान हैं। उदाहरण के लिए, अपने भीतर की गहराई में पैठने की विधि जिसे 'समाधि' कहते हैं, बौद्धधर्म का केन्द्रीय विषय है और इसकी सभी धाराओं में इस विधि का वर्णन है। बौद्धधर्म में आध्यात्मिक अभ्यास इसीलिए किया जाता है कि सीधे निजी अनुभव द्वारा परम सत्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सके। जिस परम सत्य का ज्ञान महात्मा बुद्ध ने दिया, उसे निजी अभ्यास के बिना समझा ही नहीं जा सकता। इसका उद्देश्य स्वयं अपने आप को जानना है और अन्ततः जैसा कि ज़ेन गुरु शुनरू सुज़ूकी (1904-1971) कहते हैं: "अपने आप को भूल जाना है।"[122] अन्तर्मुखी साधना द्वारा अपने भीतर जाकर ही आध्यात्मिक ज्ञान और हर प्रकार की शक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। जो भी प्राप्त करने योग्य है, हमारे अपने भीतर ही है। इसलिए बौद्धधर्म में आन्तरिक मार्ग पर बहुत अधिक बल दिया गया है।

सभी जानते हैं कि महात्मा बुद्ध ने गहन साधना द्वारा सम्बोधि प्राप्त की और उन्होंने यह घोषणा भी की कि जिस गहन सत्य की खोज उन्होंने की है, "विवेकशील मनुष्य केवल व्यक्तिगत रूप से ही उसका साक्षात्कार कर सकते हैं।"[123] इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए महात्मा बुद्ध कहते हैं:

मैं तुम्हारे सामने यह रहस्य प्रकट करता हूँ कि यह शरीर जो नाशवान् है और छः फ़ुट से अधिक लम्बा नहीं है, इसी के भीतर सम्पूर्ण जगत् समाया हुआ है, इस जगत् का आदि भी इसी में है और अन्त भी; इसी प्रकार वह मार्ग भी इसी शरीर के भीतर है जो इस संसार के आवागमन के चक्र को समाप्त करता है।[124]

इस बात का संकेत देते हुए कि चेतना का अन्तरंग मण्डल मन, चित्त तथा विज्ञान की पहुँच से परे है, महायान-शाखा के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ *लंकावतार सूत्र* में कहा गया है:

चित्त, मन और विज्ञान से परे जाने पर ही ज्ञान प्राप्त होता है जैसा कि तुम कर रहे हो। तुम्हें अन्तर्मुखी होना चाहिए, दृश्यमान जगत् के पदार्थों के बाहरी नाम और रूप से मोह नहीं रखना चाहिए।[125]

समकालीन जापानी विरक्त कवि र्योकन ने भी इन काव्य-पंक्तियों में आन्तरिक चेतनशक्ति का वर्णन किया है:

भले ही आप इतनी पुस्तकें पढ़ लें
जितने कि गंगा के रेतकण हैं
फिर भी यह सारा ज्ञान ज़ेन की एक
काव्य-पंक्ति में निहित वास्तविक ज्ञान के बराबर नहीं है,
यदि आप बौद्धधर्म का रहस्य जानना चाहते हैं
तो वह यह है: सब कुछ आपके हृदय में है।[126]

ज़ेन गुरु मूसो कॉकुशि (1275-1351) भी स्पष्ट करते हैं:

मनुष्य के भीतर महान् शक्ति का विशाल भण्डार छिपा हुआ है, परन्तु स्वभाववश कार्यरत रहने के कारण हमारी चेतनशक्ति सीमित बनी रहती है जिसके कारण इस शक्ति के विशाल भण्डार से हम अनजान बने रहते हैं। सभी तृष्णाओं को त्याग देने के सुझाव का यह अर्थ नहीं है कि तृष्णाओं का त्यागना ही हमारा लक्ष्य है; यह तो अपने आप पर ख़ुद लगायी गयी सीमाओं को तोड़ने और इस शक्ति के अनन्त ख़ज़ाने को प्राप्त करने का साधन है।[127]

"शक्ति का यह अनन्त ख़ज़ाना" मनुष्य-शरीर के भीतर है, इसलिए इसे अनमोल माना जाता है। बौद्धधर्म की वज्रयान शाखा के आरम्भिक काल के श्रेष्ठ गुरु 'सरह' इस बात पर बल देते हैं कि समस्त आध्यात्मिक ज्ञान इस शरीर के भीतर ही है और इसे अपने अन्तर में ही पाया जा सकता है। इसलिए बाहरी कर्मकाण्ड अथवा ग्रन्थ-पोथियों में सत्य की खोज करना निरर्थक है, क्योंकि वह निराकार सत्य या परम तत्त्व इस शरीर के भीतर ही छिपा हुआ है। जैसा कि उन्होंने कहा है:

यहीं (शरीर के भीतर) पावन सरिता यमुना है,
गंगा भी यहीं है,
पवित्र तीर्थ स्थान प्रयाग और बनारस भी यहीं हैं,
यहीं सूर्य और चन्द्रमा हैं।
घूमते-घूमते मैं कई मन्दिरों
और तीर्थ स्थानों में गया हूँ
परन्तु मैंने अपने शरीर से
अधिक आनन्ददायक कोई मन्दिर नहीं देखा,
सभी पण्डित (विद्वान्) धर्मग्रन्थों की व्याख्या करते हैं
परन्तु उन्हें शरीर के भीतर निवास करनेवाले
बुद्ध का कोई ज्ञान नहीं है,
वह निराकार-स्वरूप इस शरीर में ही छिपा हुआ है,
जो यह रहस्य जान लेता है, वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[128]

इसी प्रकार हेवज्र तन्त्र में कहा गया है:

> सभी जीवात्माएँ बुद्ध हैं
> परन्तु बाहरी मलिनताओं से ढके
> होने के कारण उनका बुद्धत्व गुप्त है,
> जब उनकी मलिनताएँ दूर हो जाती हैं,
> तब उनका बुद्धत्व प्रकट हो जाता है।[129]

यह शुद्धि आन्तरिक अभ्यास द्वारा होती है। सॉन (कोरियाई ज़ेन) गुरु, शिनूल (1158–1210) अपनी पुस्तक *एनकरेजमेंट टू प्रैक्टिस (Encouragement to Practice)* में कुई-फ़ेंग-ज़ुंग-मी से उद्धरण देते हैं:

> हम जानते हैं कि बर्फ़ के रूप में जमा हुआ तालाब वास्तव में पानी है, परन्तु उसे पिघलाने के लिए सूर्य का ताप आवश्यक है। यद्यपि हम इस सत्य के प्रति सचेत हो जाते हैं कि एक साधारण मनुष्य बुद्ध है, परन्तु इसे बुद्ध के रूप में प्रकट करने के लिए धर्म की शक्ति आवश्यक है। जब बर्फ़ के रूप में जमा हुआ तालाब पिघल जाता है और उसका पानी स्वछन्द रूप से बहने लगता है तो इसे सिंचाई और सफ़ाई के लिए प्रयोग किया जा सकता है। जब अज्ञानता का नाश हो जाता है और मन दिव्य और जाग्रत हो जाता है, तब आध्यात्मिक शक्तियों का प्रकाश प्रकट हो जाता है। अभ्यास के लिए मन को परिष्कृत करने के अतिरिक्त अन्य कोई विधि नहीं है।[130]

प्लैटफ़ॉर्म सूत्र में चॉन के छठे मुखिया हुई-नैंग (638–713) कहते हैं कि हम अपने वास्तविक स्वरूप को अपने शरीर के भीतर ही देख सकते हैं और अपनी वास्तविकता की पहचान करने पर ही हम बुद्ध का साक्षात्कार कर सकते है:

> हर व्यक्ति का स्थूल शरीर मानों एक नगर है। तुम्हारी आँखें, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा नगर-द्वार हैं। ये पाँच द्वार बाहर की ओर हैं और चित्त का द्वार अन्दर की ओर है। तुम्हारा मन साम्राज्य है और तुम्हारे मन की वृत्ति राजा है। जब तक तुम्हारी वृत्ति क़ायम है, तब तक राजा भी क़ायम है। जब तुम्हारी वृत्ति नहीं होगी तो राजा भी नहीं रहेगा। तुम्हारी वृत्ति होने पर ही शरीर और मन का अस्तित्व है। जब तुम्हारी वृत्ति यानी आत्मरूप ही नहीं है तो तुम्हारे मन और शरीर का अस्तित्व भी नहीं है। बुद्ध तुम्हारे आत्मरूप की ही रचना है। उसे अपने शरीर के बाहर मत देखो। जब तक तुम अपने आत्मरूप की पहचान नहीं करते, तब तक बुद्ध एक साधारण व्यक्ति हैं। जब तुम अपने आत्मरूप के प्रति जागरूक हो जाओगे, तब एक साधारण व्यक्ति भी बुद्ध है।[131]

मनुष्य-जीवन की अनित्यता और नश्वरता

महात्मा बुद्ध और बौद्ध-आचार्य इस संसार और यहाँ के जीवन के अनित्य और नश्वर होने का बार-बार उल्लेख करते हैं। वे हमें अमरत्व की खोज करने के लिए जाग्रत करते हैं। यह बताया जा चुका है कि बुढ़ापे, दुःख, रोग और मृत्यु के दृश्य को देखकर ही राजकुमार सिद्धार्थ इस संसार के सुखों से विमुख होकर निर्वाण के मार्ग की ओर बढ़े थे। ज़ीवन के अनित्य और नश्वर स्वरूप से विमुख होने के लिए परम पावन और विवेकशील राजकुमार का इन साधारण घटनाक्रमों को केवल एक बार देखना ही पर्याप्त था। इन दृश्यों को देखकर राजकुमार ने तुरन्त अमरत्व की उस अवस्था की खोज करने का दृढ़ संकल्प कर लिया जो परिवर्तन, ह्रास और विनाश से परे है।

भले ही हमारा मनुष्य-जीवन दुर्लभ और अनमोल है और मनुष्य में अपार सामर्थ्य है, किन्तु मनुष्य का जीवनकाल अल्प और क्षणभंगुर है। अतः अपना सीमित समय व्यर्थ के कार्यों में गँवाकर हम अपने साथ

बहुत बड़ा अन्याय कर रहे हैं। चूँकि जीवन इतना अनिश्चित है, इसलिए यह सोचना हमारी भारी भूल है कि बुढ़ापा और मृत्यु अभी बहुत दूर हैं और हम कुछ पलों के इस छोटे-से जीवन को व्यर्थ के टाल-मटोल और आलस में गुज़ार सकते हैं। महात्मा बुद्ध हमारे सामने जीवन का कड़वा सच प्रस्तुत करते हैं और हमें चेतावनी देते हैं कि इस अनित्य जगत् में हमें अपने वास्तविक कार्य के प्रति सचेत रहना चाहिए:

अफ़सोस! थोड़े समय में ही
यह शरीर इस पृथ्वी पर पड़ा होगा,
घृणित, निर्जीव और बेकार
जली हुई लकड़ी के समान...

जीवन के फूलों जैसे आनन्द का उपभोग करते हुए
मनुष्य का मन भ्रमित हो जाता है
और अभी विषय-भोगों से मन भरा भी नहीं होता
कि मृत्यु आ घेरती है...

इस शरीर को फ़ेन के समान जानकर,
इसे एक मृग-मरीचिका समझकर,
मनुष्य को 'मार' (प्रलोभक) के आकर्षक जाल को तोड़कर
यमराज की पहुँच से परे चले जाना चाहिए।[132]

वे फिर कहते है:

यह शरीर जर्जर है;
यह रोगों का घर है और बहुत दुर्बल है,
यह निकृष्ट देह नष्ट हो जाती है;
जीवन का अन्त वास्तव में मृत्यु ही है...

समस्त रचना अनित्य है;
प्रज्ञा द्वारा जब मनुष्य यह जान जाता है
तो वह दुःखों से ऊपर उठ जाता है
यही विशुद्धि का मार्ग है।[133]

आज का काम कल पर छोड़ने की आदत और सांसारिक रिश्ते-नातों के प्रति हमारे अनावश्यक मोह की ओर ध्यान दिलाते हुए *बोधिचर्यावतार* में शान्तिदेव कहते है:

यह सोचकर कि मृत्यु आज तो नहीं आयेगी
आराम से बैठे रहना उचित नहीं है,
वह समय अवश्य आयेगा
जब मैं यहाँ नहीं रहूँगा...

इस संसार के लोगों, परिवार-जनों और
परिचितों को त्यागकर, तथा
सभी मित्रों और शत्रुओं को छोड़कर,
मैं अकेला कहीं और चला जाऊँगा।
फिर मेरा किसी से क्या लेना-देना है?...

यहाँ कई धनवान् हुए हैं
और बहुतों ने प्रसिद्धि प्राप्त की है;
किन्तु अपार धन और प्रसिद्धि प्राप्त करने पर भी
कोई नहीं जानता कि वे कहाँ चले गये![134]

यह रूपक देते हुए कि यह संसार एक सराय है जिसमें लोग रात-भर के लिए मिलते हैं और सुबह होते ही अपने-अपने रास्ते चल पड़ते हैं, शान्तिदेव समझाते हैं कि वास्तव में कोई किसी का नहीं है।

इस तरह सांसारिक रिश्ते-नातों की असारता को हमारे सामने लाते हुए वे कहते हैं:

एक नश्वर प्राणी अपने ही समान
दूसरे नश्वर प्राणी से मोह के बन्धन में कैसे बँध सकता है,
जबकि हज़ारों जन्म लेने पर भी उस प्रियजन से
दोबारा कभी मिलाप नहीं होगा?...

जिस तरह यात्री सराय में रात-भर के लिए एक दूसरे से मिलते हैं,
इसी तरह हम भी,
अपनी सांसारिक यात्रा के दौरान,
दूसरों से थोड़े समय के लिए ही मिलते हैं।[135]

यह बताते हुए कि जो जन्म लेता है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त करता है, पैट्रुल रिनपोचे हमें प्रेरित करते हैं कि अब हमें आध्यात्मिक अभ्यास में जुट जाना चाहिए जो कि आवागमन के चक्र से मुक्ति प्रदान करता है। वे हमें चेतावनी देते हैं:

इस संसार में जिसने एक बार जन्म ले लिया, वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होगा। परन्तु हमारी मृत्यु कैसे, क्यों, कब और कहाँ होगी, इसे पहले से कोई नहीं बता सकता।[136]

इसलिए वे हमसे आग्रह करते हैं:

इसी क्षण से आलस्य और टाल-मटोल की आदत को छोड़ दो। इस जगत् की नश्वरता पर ध्यानपूर्वक विचार करो और सोचो कि सच्चे धर्म का अभ्यास करना कितना आवश्यक है, क्योंकि मृत्यु के समय केवल सच्चा धर्म ही हमारा सहायक हो सकता है।[137]

गम्पोपा कहते है:

धर्म का पालन करनेवाला एक श्रद्धालु यदि अपने जीवन के प्रत्येक आनेवाले दिन को अन्तिम दिन मानने के बजाय लम्बी-चौड़ी योजनाएँ बनाता है, मानों कि उसे सदा के लिए यहीं इस संसार में रहना है, तो यह उसकी बड़ी भारी भूल है।[138]

मनुष्य-जीवन की सार्थकता

महात्मा बुद्ध उपदेश देते हैं कि मनुष्य-जीवन में अपार सामर्थ्य है। अब यह हम पर निर्भर करता है कि हम इस सामर्थ्य को पहचानकर, इसे विकसित करके अमरत्व प्राप्त करने के लिए इसका उपयोग करें जो इस जीवन का लक्ष्य है, या फिर इसके महत्त्व को अनदेखा करते हुए इसका दुरुपयोग करें; पतन के मार्ग की ओर बढ़कर आवागमन के चक्र में जकड़े रहें और इस अनमोल जीवन को व्यर्थ गँवा दें। हम मनुष्य-जीवन का सदुपयोग करके ऊपर भी उठ सकते हैं और इसका दुरुपयोग करके नीचे भी गिर सकते हैं, इस प्रकार हम अपना उत्थान भी कर सकते हैं, पतन भी कर सकते हैं। अतः बौद्धधर्म में सावधान रहते हुए अमरत्व तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए पूरी लगन से प्रयास करने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है ताकि हम मनुष्य-जीवन में प्राप्त होनेवाली सर्वोच्च अवस्था तक पहुँच पायें।

हमेशा सावधान रहने और अमरत्व की ओर ले जानेवाले पवित्र धर्म के मार्ग पर उचित प्रयत्न के साथ चलने के महत्त्व को बताते हुए महात्मा बुद्ध कहते हैं:

सावधानी मनुष्य को अमरत्व की ओर ले जाती है,
असावधानी मनुष्य को मृत्यु की ओर ले जाती है।
जो सचेत हैं, वे मृत्यु को प्राप्त नहीं होते,
जो लापरवाह हैं, वे पहले से ही मृतक के समान हैं...

उस व्यक्ति के जीवन का एक दिन
जो अमरत्व प्राप्त करने के लिए साधनारत है,
किसी दूसरे व्यक्ति के सौ वर्षों के जीवन से भी श्रेष्ठ है
जो अमरत्व प्राप्त करने के लिए कोई प्रयास नहीं करता।

परम सत्य को जाने बिना बिताये गये
सौ वर्षों के जीवन से कहीं श्रेष्ठ है
मात्र वह एक दिन
जो पावन 'धम्म' का ज्ञान
प्राप्त करने में बिताया जाये...
मनुष्य को अपने उत्थान के लिए जल्दी करनी चाहिए
और अपने विचारों को पाप मुक्त रखना चाहिए।[139]

यह हम पर निर्भर है कि सांसारिक लाभों के पीछे दौड़ते रहें या निर्वाण की आनन्दमयी अवस्था को प्राप्त करने के लिए परिश्रम करें। इसीलिए महात्मा बुद्ध ने यह स्पष्ट किया है कि एक शिष्य को इस संसार में कैसे रहना चाहिए। हमारा आनेवाला जन्म कैसा होगा या फिर हम जन्म-मरण के चक्र से पूर्ण रूप से मुक्त हो सकते हैं या नहीं, यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि हमने इस मनुष्य-जन्म का किस हद तक सदुपयोग या दुरुपयोग किया है। जैसा कि महात्मा बुद्ध कहते हैं:

एक मार्ग सांसारिक लाभ की ओर ले जाता है
और दूसरा निब्बान प्राप्ति की ओर
यह जानकर परमार्थ की चाह रखनेवाले
बुद्ध के शिष्य को
चाहिए कि वह दूसरों से
मान-सम्मान की चाह न रखे,
बल्कि अपनी प्रज्ञा को विकसित करने का प्रयास करे...

कुछ जीवों को दूसरा गर्भवास धारण करना पड़ता है,
जब कि पापी मनुष्य नरक में जाते हैं,
भले मनुष्यों को स्वर्ग प्राप्त होता है,
और जो सांसारिक इच्छाओं से मुक्त हैं,
वे निब्बान की प्राप्ति करते हैं।[140]

एक बुद्ध महात्मा या सच्चे गुरु के शिष्यों को प्रयास करने के साथ-साथ जो दया मिलती है, उस सन्दर्भ में यहाँ एक महत्त्वपूर्ण विषय की ओर ध्यान देना आवश्यक है। यह समझे बिना कि प्रयास और दया दोनों आवश्यक हैं, जब हम इन दोनों में से केवल एक पर पूरी तरह निर्भर रहते हैं तो हताशा और निराशा ही हमारे हाथ आती है। जो यह सोचते हैं कि एक आध्यात्मिक गुरु की दया और मार्गदर्शन के बिना केवल मात्र अपने प्रयासों से ही वे आन्तरिक यात्रा का जटिल और दुर्गम-मार्ग पार कर लेंगे, वे मानों दोधारी तलवार पर चल रहे हैं।

किसी अनुभवी मार्गदर्शक के मार्गदर्शन और सहारे के बिना इस मनुष्य-शरीर और मन की सीमित शक्ति के साथ यह यात्रा करना असम्भव है – यह तलवार की एक धार है। जिज्ञासुओं को निश्चित रूप से चुनौतियों और भयंकर प्रलोभनों का सामना करना पड़ेगा और मन की भूल-भुलैया में उलझकर उनके लिए मार्ग की खोज करना असम्भव हो जायेगा।

तलवार की दूसरी धार है – अहंकार के बढ़ने का ख़तरा। सूक्ष्म किन्तु अत्यन्त प्रबल अहंकार उस समय जाग्रत होता है जब मनुष्य पूरी तरह अपने ही प्रयासों पर भरोसा करता है। 'मैं' और 'मेरी' का भाव अपने आप में ही आध्यात्मिक सफलता प्राप्त करने के लिए बहुत बड़ी बाधा है। पर वह जिज्ञासु इन सभी चुनौतियों पर विजय प्राप्त कर लेता है जो केवल निरन्तर प्रयास ही नहीं करता, बल्कि एक ज्ञान सम्पन्न गुरु की दया और मार्गदर्शन पर भी भरोसा करता है।

उचित प्रयास करने के लिए हमें मन को उस अवस्था में लाना चाहिए जिसे *बोधिचित्त* कहते हैं। *बोधिचित्त* का अर्थ है, वह चित्त जिसमें पूर्ण ज्ञान

यानी *बोधि* प्राप्त करने की प्रबल इच्छा और दृढ़ संकल्प हो। *बोधिचित्त* की बदलाव लानेवाली शक्ति के बारे में बात करते हुए शान्तिदेव कहते हैं:

> *दृढ़ संकल्प से बोधिचित्त के*
> *रसायन को ग्रहण करो,*
> *यह तुम्हारी दूषित अवस्था को 'जिन' के*
> *अनमोल स्वरूप में बदल देगा,*
> *जो अजेय है।*[141]

जब लोगों को इस *बोधिचित्त* का अनुभव हो जाता है, तब वे अपने आप में परिवर्तन लाने के लिए अपने चित्त की ओर ध्यान देना आरम्भ कर देते हैं। शान्तिदेव आगे कहते हैं कि संसार से बुराई को समूल नष्ट करने में सफल होना बहुत कठिन है, परन्तु लोग अपने मन में अच्छाई को विकसित करके अपना बचाव कर सकते हैं–ख़ुद को बचाने का यही एकमात्र उपाय है। शान्तिदेव एक सुन्दर उपमा द्वारा इस विचार को अभिव्यक्त करते हैं:

> *पूरी पृथ्वी को ढकने के लिए*
> *मुझे पर्याप्त चमड़ा कहाँ से मिलेगा?*
> *परन्तु चमड़े के एक जोड़ी जूते पहनकर*
> *मैं पूरी पृथ्वी का चक्कर लगा सकता हूँ।*[142]

पाबोंग्का रिनपोचे हमें प्रेरित करते हैं कि इस अनमोल मनुष्य-जन्म का सदुपयोग करके हमें चाहिए कि जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जायें। वे कहते हैं:

> *मुझे एक बार फिर मनुष्य-जीवन का महान् अवसर मिला है*
> *जिसे प्राप्त करना बहुत कठिन है और जिसमें मनुष्य अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है।*

> *अगर मैं इस अवसर से कोई लाभ नहीं उठाता हूँ*
> *तो मैं यह पावन अवसर दोबारा पाने की आशा कैसे कर सकता हूँ?*[143]

वे हमें पुनः प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं:

> *अपने इस मनुष्य-जन्म में तुम ऐसी करनी कर सकते हो जिससे तुम्हें फिर से निचले लोकों में कभी न जाना पड़े... तुम्हें आवश्यकता है केवल इस अवसर का पूरा लाभ उठाने की...यह जन्म करोड़ों-अरबों अमूल्य हीरों से कहीं अधिक मूल्यवान् है।*[144]

जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा देते हुए वे आगे कहते हैं:

> *संक्षेप में, जब तक तुम सदा के लिए संसार से मुक्त नहीं हो जाते, तुम दुःखों की अवस्था से ऊपर नहीं उठ सकते। अतः तुम्हें इससे अवश्य मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए और यह कार्य तुम्हें अपने इसी जन्म में कर लेना है... यदि हम अभी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते तो फिर यह कार्य हम कब करेंगे?*[145]

बौद्धधर्म की ज़ेन शाखा का भी यही उपदेश है कि यदि आवागमन के चक्र से सदा के लिए मुक्त होना है तो हमें सांसारिक लाभ-हानि के विचारों से ऊपर उठना होगा और परम सत्य का साक्षात्कार करना होगा। जैसा कि मूसो कॉकुशी कहते हैं:

> *जीवन के सामान्य उतार-चढ़ावों के सन्दर्भ में ज़ेन का मुख्य लाभ जीवन में 'कमी' को रोकना और 'अधिक' को बढ़ावा देना*

नहीं है, बल्कि लोगों को उस मूलभूत सत्य की ओर मोड़ना है जो चढ़ाव-उतार (सुख-दुःख) के प्रभाव से परे है।[146]

सन् 1203 और 1205 के बीच लिखी गयी पुस्तक *सीक्रेट्स ऑन कल्टिवेटिंग माइण्ड (Secrets on Cultivating Mind)* में ज़ेन कोरियाई गुरु शिनूल हमें याद दिलाते हैं कि हमें अपने लक्ष्य को भूलना नहीं चाहिए। वे कहते हैं:

> यदि हम इस संसार में पिछले जन्मों के दौरान किये गये अपने कर्मों पर विचार करें तो हमारे पास यह जानने की कोई विधि नहीं है कि कितने हज़ारों कल्पों * से हम अन्धेरे में भटक रहे हैं या अनन्त नरक में पड़े-पड़े हर प्रकार के दुःख सहन कर रहे हैं। हम यह भी नहीं जान सकते हैं कि हम कितनी बार बुद्धत्व-प्राप्ति के मार्ग पर आना चाहते थे; लेकिन चूँकि हमें कोई ज्ञानी मार्गदर्शक नहीं मिला, इसलिए अज्ञानता के अन्धकार में भटकते हुए और हर प्रकार के बुरे कर्म करते हुए हम इस भवसागर में, जन्म-मरण के चक्र में फँसे हुए, कई कल्पों से ग़ोते खा रहे हैं। यदि हम कभी इस स्थिति पर विचार करें भी, तो हम अपने दुःखों और कष्टों की अवधि का अनुमान नहीं लगा सकते। तब भला हम कैसे निश्चिन्त होकर बैठ सकते हैं और फिर से पहले की तरह उन्हीं विपत्तियों को सहन कर सकते हैं?[147]

---

* 'कल्प' समय की एक अवधि है जिसका अर्थ है 'संसार की अवधि', इतनी दीर्घ कि कल्पना से परे है। महात्मा बुद्ध ने वर्णन किया है कि यदि किसी मज़बूत चट्टान के एक मील लम्बे, एक मील चौड़े और एक मील गहरे टुकड़े को हर सौ साल के बाद रेशमी कपड़े के एक टुकड़े से रगड़ते रहोगे तो 'संसार की अवधि' यानी एक कल्प की तुलना में यह चट्टान का टुकड़ा जल्दी नष्ट हो जाएगा। (S.ii, p.181)

मनुष्य-जीवन की निरर्थकता

मनुष्य-जीवन हमारे लिए मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र अवसर है। इस दुर्लभ अवसर के प्राप्त होने पर हमारा सर्वाधिक लाभ इसी में है कि हम पूरे गुरु द्वारा बताये आन्तरिक मार्ग पर चलकर लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रयास करें और ऐसे कर्मों और विचारों से बचें जो हमें अपने लक्ष्य से भटका देते हैं। अपने वास्तविक कार्य की ओर ध्यान न देकर, व्यर्थ के धन्धों में अपना समय और शक्ति बरबाद करने का अर्थ है, एक अनमोल रत्न को फेंक देना और उसके स्थान पर कुछ बेकार सीपियाँ उठा लेना। यह तो केवल अपने अमूल्य-जीवन को व्यर्थ गँवाना और अपने महान् सामर्थ्य को बेकार में खो देना ही है। पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

> मनुष्य-जीवन के इस अमूल्य अवसर का मिलना,
> एक क़ीमती हीरे के मिलने से कहीं अधिक मूल्यवान् है,
> देखो उन लोगों को जो संसार का भय नहीं करते,
> किस प्रकार वे अपना जीवन व्यर्थ गँवा रहे हैं![148]

महात्मा बुद्ध कहते हैं कि जो लोग इस संसार-सागर को पार करके इसके दूसरे किनारे तक पहुँचने के बजाय इस संसार में ही लिप्त रहते हैं, वे स्वयं ही अपने घोर शत्रु हैं:

> सांसारिक विषय-भोग उस मूर्ख अज्ञानी का सर्वनाश कर देते हैं
> जो दूसरे किनारे की खोज नहीं करता।
> वह मूर्ख सांसारिक विषय-भोगों की तृष्णा में
> इस प्रकार अपना सर्वनाश कर लेता है मानों वह स्वयं अपना दुश्मन हो।[149]

ऐसे दुराचारी अपने दुष्कर्मों के परिणाम से नहीं बच सकते और न ही वे साधु का वेश बनाकर अपने आप को बचा सकते हैं। महात्मा बुद्ध ने कहा है:

जो संयम में नहीं रहता
और झूठ का सहारा लेता है,
वह केवल अपना सिर मुँडवाने से ही
संन्यासी (समण) नहीं बन सकता।
जिसका मन लोभ और तृष्णाओं से भरा हो
वह संन्यासी कैसे हो सकता है?

ऐसे बहुत-से गेरुआ वस्त्रधारी हैं
जो असंयमी हैं और दुराचारी हैं।
ऐसे पापी अपने दुष्कर्मों के कारण
नरक में जन्म लेते हैं।[150]

बोधिचर्यावतार में शान्तिदेव भ्रमों में उलझे हुए लोगों के भाग्य को कोसने के बजाय बड़ी विनम्रता से अपनी ही दुर्बलताओं के लिए पश्चात्ताप करते हैं। वे कहते हैं:

मैंने अपने भीतर कभी थोड़ा-सा भी
सद्गुण विकसित नहीं किया,
इस तरह मैंने तो इस दुर्लभ
अद्भुत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ ही खो दिया।[151]

तिब्बती गुरु गेश आचार्य थूबेन लोडेन (1924-) के इन शब्दों से हमें प्रेरणा मिलती है कि हम परमानन्द की प्राप्ति करने के लिए मनुष्य-जीवन के इस अनुपम अवसर का उपयोग करें:

एक द्वीप पर बिखरे हुए रत्नों के समान असंख्य अवसर देनेवाले मनुष्य-जीवन को पाकर ख़ाली हाथ मत लौटो। इस अवसर का सदुपयोग करके मृत्यु से पहले कुछ अनमोल ख़ज़ाना इकट्ठा कर लो ताकि तुम्हें परमानन्द और परमज्ञान की प्राप्ति हो सके। अपने अवसर को व्यर्थ मत गँवाओ और ऋण का बोझ मत बढ़ाओ, क्योंकि भविष्य में फिर से मनुष्य-जन्म का मिलना बहुत कठिन है...

यदि तुम धर्म का अभ्यास और आन्तरिक साधना करना चाहते हो तो शुरुआत करने का यही उचित समय है। टाल-मटोल करने से तुम्हारी आत्मिक उन्नति में बहुत-सी बाधाएँ आयेंगी। तुम अपने मन के बहकावे में पड़कर असंख्य भ्रमों में फँसे रह जाओगे और साथ ही ख़ुद को यह सान्तवना देते रहोगे, 'मैं बाद में भी किसी समय अन्तर्मुखी अभ्यास कर सकता हूँ।' साधना द्वारा मन को शान्त और एकाग्र करने के लिए समय दिये बिना तुम हर क्षण उन कार्यों में अति व्यस्त रहते हो जो तुम्हारे अनुसार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और 'अवश्य किये जाने चाहिएँ!' प्रत्येक नया वर्ष आरम्भ होने पर तुम संकल्प करते हो कि धर्म का गम्भीरता से अभ्यास करोगे, परन्तु होता यह है कि इस कार्य को निरन्तर स्थगित करते हुए तुम इसे अगले माह, अगले साल और उससे अगले साल करने के लिए टालते जाते हो और अन्त में 'अगला' समय अगला जन्म हो जाता है!'[152]

वे लोग जिनका जीवन बहुत व्यस्त है और जो सोचते रहते हैं कि धर्म के मार्ग पर चलने के लिए समय निकालना चाहिए, परन्तु ऐसा कर नहीं पाते, उन्हें चुनौती देते हुए पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

कुछ लोग इस समय अपने जीवन में बहुत व्यस्त हैं और केवल सोचते हैं, 'मुझे अभ्यास करना चाहिए'; और बहुत-से ऐसे लोग

हैं जो जीवन की उस अवस्था में पहुँच चुके हैं जहाँ उन्हें धर्म का अभ्यास न करने का पश्चात्ताप हो रहा है। इन लोगों की हालत को देखकर हमें इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि उनके अपने कर्मों से ही उनका कितना अहित हुआ है; हमारे अन्दर इतना साहस होना चाहिए कि हम उन व्यर्थ के कार्यों को कोई महत्त्व न दें जिनके कारण धर्म के अभ्यास के लिए हमारे पास रोज़ समय नहीं बचता। उसके पहले कि मृत्यु के देवता यमराज हमारा द्वार खटखटाएँ, हमें धर्म का अधिक से अधिक अभ्यास कर लेना चाहिए।[153]

धर्म का अभ्यास न करने से बहुत अहित होता है, जैसा कि गम्पोपा ने संकेत किया है:

मनुष्य-जन्म प्राप्त करके यदि कोई धर्म की ओर ध्यान न दे तो उसकी स्थिति ऐसी ही है जैसी कि उस व्यक्ति की जो क़ीमती हीरों से समृद्ध देश से ख़ाली हाथ लौट आया हो। असफलता की यह स्थिति बहुत ही दयनीय है।[154]

वे यह भी कहते हैं कि अपनी इस लापरवाही के कारण हमें बहुत पछताना पड़ता है:

दुर्लभ, स्वतन्त्र और समर्थ मनुष्य-शरीर प्राप्त करके इस जीवन को व्यर्थ गँवा देना बड़े पश्चात्ताप का कारण होगा...

कलियुग में मनुष्य-जीवन बहुत कम समय के लिए मिलता है और यह इतना अनिश्चित है कि इसे सांसारिक पदार्थों और कार्यों के लिए दौड़-भाग करने में गँवा देना पछतावे का कारण होगा...

यौवनकाल शरीर, वाणी और मन के विकास का समय है, इसे असावधानी और गँवारपन अपनाकर बरबाद करना पछतावे का कारण होगा।[155]

वे आगे उपदेश देते हुए कहते हैं:

अपने यौवनकाल में उन व्यक्तियों के साथ अधिक मेल-मिलाप न रखो जो आध्यात्मिक रूप से तुम्हारा मार्गदर्शन नहीं कर सकते, बल्कि ज्ञान सम्पन्न, धर्मनिष्ठ गुरु के चरणकमलों में बैठकर पूरी श्रद्धा और मनोयोग से व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करो।[156]

गुरु शिनूल कहते हैं:

तुम्हें अपनी लगन दिखलानी चाहिए... यदि तुम्हें अपनी श्रेष्ठता पर भरोसा नहीं है और बिना कोई प्रयास किये अपने आप को तुच्छ मान लेते हो और यह कहकर कि अभ्यास कठिन है, तुम अभी अभ्यास नहीं करते, तो भले ही तुम्हारे पूर्वजन्मों के संस्कार बहुत अच्छे रहे हों, किन्तु अब प्रयास न करने पर तुम इन संस्कारों को नष्ट कर देते हो। यह कठिनाई बढ़ती जायेगी और तुम अपने लक्ष्य से और अधिक दूर होते जाओगे। ख़ज़ाने के भण्डार तक पहुँचकर अब तुम ख़ाली हाथ कैसे लौट सकते हो? एक बार मनुष्य-शरीर को खो देने पर, फिर से इसे पाने के लिए दस-हज़ार 'कल्प' लग जायेंगे। सावधान रहो। यह जानकर भी कि यहाँ ख़ज़ाने का भण्डार है, एक विवेकशील व्यक्ति इसे देखे बिना कैसे वापस लौट सकता है और इस सबके होते हुए भी कैसे अपनी दुर्दशा और ग़रीबी की दुहाई देता रह सकता है?[157]

पैट्रुल रिनपोचे यह प्रार्थना करते हैं:

> *यद्यपि मैं धर्म के मार्ग पर आ गया हूँ,*
> *तो भी मैं अन्य कार्यों में समय बरबाद करता हूँ,*
> *मुझे और मेरे जैसे अज्ञानियों को वरदान दो ताकि हमें*
> *वास्तविक मुक्ति और कल्याण की प्राप्ति हो।*[158]

5

संसार की अनित्यता

इस दृश्य संसार के तीन लक्षण

बौद्धधर्म के अनुसार सभी सांसारिक पदार्थों और प्राणियों के तीन मूलभूत लक्षण हैं जो सबमें एक समान हैं और जिनकी ओर एक विवेकशील व्यक्ति का ध्यान अवश्य जाता है। ये तीन लक्षण हैं: अनित्यता, दुःख और अनात्मता (अनत्ता)। इनमें से कुछ लक्षणों को तो कोई भी आम व्यक्ति समझ सकता है, भले ही वह इनके गूढ़ महत्त्व को न समझे या इस पर विशेष ध्यान न दे। परन्तु सिद्धार्थ गौतम जैसे परम पवित्र और विवेकशील व्यक्ति का हृदय पहली बार ही बुढ़ापे, बीमारी और मृत्यु के दृश्य को देखकर द्रवित हो उठा था। इन दृश्यों को देखते ही उन्हें तुरन्त इस बात का ज्ञान हो गया कि यह संसार अनित्य है और दुःखों से भरा हुआ है, साथ ही साथ उनका संसार के सुन्दर और मनमोहक होने का भ्रम भी टूट गया, हालाँकि इस संसार के इन तीनों लक्षणों को पूरी तरह समझने के लिए हममें से बहुतों को गहन अभ्यास और गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में, इन तीनों लक्षणों को पूरी तरह समझने के लिए हमें ज्ञान की उच्च अवस्था को विकसित करने की आवश्यकता है। जैसा कि महात्मा बुद्ध कहते हैं:

सभी रचे गये पदार्थ अनित्य हैं।
जब कोई व्यक्ति ज्ञान द्वारा इस रहस्य को जान लेता है,
तब वह दुःखों से ऊपर उठ जाता है
यही विशुद्धि का मार्ग है।

सभी रचे गये पदार्थ दुःखदायी हैं।
जब कोई व्यक्ति ज्ञान द्वारा इस रहस्य को जान लेता है,
तब वह दुःखों से ऊपर उठ जाता है
यही विशुद्धि का मार्ग है।

सभी रचे गये पदार्थ अनात्म हैं।
जब कोई व्यक्ति ज्ञान द्वारा इस रहस्य को जान लेता है,
तब वह दुःखों से ऊपर उठ जाता है
यही विशुद्धि का मार्ग है।[159]

अब हम विचार करेंगे कि किस प्रकार बौद्धधर्म इस दृश्य संसार के इन तीन मूलभूत लक्षणों की ओर हमारा ध्यान दिलाता है।

अनित्यता

बौद्धधर्म में इस बात पर बल दिया गया है कि मनुष्य-जीवन अनित्य और नश्वर है। बौद्धधर्म पूरे विश्व के अनित्य होने के तीखे विचार को भी अभिव्यक्त करता है। यहाँ जो भी अस्तित्व में है, वह सब अनित्य और नश्वर है। यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है जो पल भर के लिए भी स्थिर रहता है। जैसा कि पालि त्रिपिटक में बताया गया है:

> *कोई क्षण, कोई घड़ी, कोई पल ऐसा नहीं है जब पर्वतीय नदी का प्रवाह थम जाता हो।*[160]

मज्झिम-निकाय में 'राहुल को दिये गये संक्षिप्त उपदेश' नाम के सुत्त में यह फिर से कहा गया है:

> *यहाँ जो कुछ भी अस्तित्व में आता है, उसका नष्ट होना निश्चित है।*[161]

लोग अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य को अनदेखा करके सांसारिक विषय-भोगों के पीछे दौड़ते रहते हैं। परन्तु महात्मा बुद्ध के अनुसार सभी सांसारिक विषय-भोग केवल उन्हें ही लुभावने लगते हैं जिनका दृष्टिकोण सीमित है। ये विषय-भोग और कुछ नहीं, बल्कि हमें लुभाने के लिए 'मार' द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रलोभन हैं। मार वह शक्ति है जो प्रलोभन तथा बुराई का साकार रूप है। यह हमें अन्धा बना देता है। ये विषय-भोग क्षणिक हैं और वास्तव में दुःख का कारण हैं। जैसा कि महात्मा बुद्ध ने कहा है:

> *हे भिक्षुओं, सांसारिक विषय-भोग अनित्य हैं। ये निस्सार, मायावी और भ्रमित करनेवाले हैं। मूर्खों को लुभाने और भरमाने के लिए इन्हें माया * ने रचा है। ये मार के जाल हैं, व्यक्ति को फँसाने के लिए उसके द्वारा फेंके गये चारे हैं, यह संसार मार का कार्यक्षेत्र और उसकी चरागाह है और इसके मायावी पदार्थ लोभ-लालच, ईर्ष्या-द्वेष और विनाश जैसे विकारों को उत्पन्न करते हैं और एक नेक शिष्य के परमार्थी मार्ग में बाधाएँ खड़ी कर देते हैं।*[162]

इसलिए महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों को प्रेरणा देते हैं कि वे इन विषय-भोगों की वास्तविकता को पहचानें:

---

* माया का अर्थ है—भ्रम, मोह, छलावा; यह भौतिक संसार।

जो अनित्य हैं, वह इस योग्य नहीं है कि उसमें आनन्द मनाया जाये, वह न स्वीकार करने योग्य है और न ही मोह रखने योग्य है।[163]

अनित्यता अथवा निरन्तर बदलाव के चार प्रमुख दृश्यमान लक्षणों से कोई बचाव नहीं है। पाबोंग्का रिनपोचे इनके बारे में कहते हैं:

इनसे दूर भागकर, बल प्रयोग करके, धन से, अन्य पदार्थों से, मन्त्रों और औषधियों के प्रयोग से इन्हें रोका नहीं जा सकता। ये चार लक्षण कौन-से हैं? जरा, रोग, जर्जरता और मृत्यु।[164]

एक बार जन्म लेने के बाद हम कभी भी मृत्यु से भाग नहीं सकते। अपने जीवनकाल का अधिक भाग हम पहले ही गुज़ार चुके हैं, अब हमारे पास अधिक समय नहीं बचा है।... जब हम सोते हैं, तब हम भले ही चैन और ख़ुशी का अनुभव करते हैं, लेकिन तब भी हम लगातार मृत्यु की ओर तेज़ी से बढ़ रहे होते हैं।[165]

यह संकेत करते हुए कि इस जीवन में और मृत्यु के बाद हमारा कोई सच्चा साथी नहीं है, वे कहते हैं:

आरम्भ में जब तुमने अपनी माँ की कोख से जन्म लिया था, तुम बिल्कुल अकेले थे। इसी तरह जीवन के मध्यकाल में, उदाहरण के लिए जब तुम बीमार हो जाते हो तो उस कष्ट और पीड़ा को तुम अकेले ही सहते हो। अन्त में जब मृत्यु का समय आता है तो मृत्यु के अनुभव से भी तुम्हें बिल्कुल अकेले गुज़रना पड़ता है।[166]

मृत्यु अमीर-ग़रीब में, ऊँच-नीच में कोई भेदभाव नहीं करती। पाबोंग्का रिनपोचे इस बात की ओर हमारा ध्यान दिलाते हैं कि मृत्यु सारे भेदभाव को मिटा देती है:

तुम चाहे ब्रह्मा, इन्द्र या पूरे विश्व के सम्राट के समान हो, परन्तु जब तुम्हारा अन्तकाल आयेगा, तुम एक भी सेवक अपने साथ नहीं ले जा पाओगे; तुम अपने साथ अपना एक भी सामान नहीं ले जा सकते – ये सब उस समय तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकते। तुम भले ही कई देशों पर शासन करनेवाले एक शक्तिशाली सम्राट् ही क्यों न हो, पर जब मृत्यु का समय आयेगा, तुम अपने साथ जौ का एक दाना तक नहीं ले जा सकते। उस समय तुम में और एक भिखारी में कोई अन्तर नहीं होगा।[167]

मृत्यु की याद साधक को मुक्ति प्राप्त करने के लिए पूरी निष्ठा से निरन्तर प्रयास करने की प्रेरणा दे सकती है। मृत्यु को याद न रखने का अर्थ है मनुष्य-जीवन के उद्देश्य को ही भूल जाना, जैसा कि पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

अगर तुम मृत्यु को याद नहीं रखते, तो तुम धर्म का पालन गम्भीरता से नहीं कर पाओगे और न ही तुम निरन्तर साधना कर सकोगे।... हमारा मृत्यु को और संसार की अनित्यता को भूल जाना ही हमारी भटकन का कारण है।[168]

दुःख

बौद्धधर्म में संसार के दूसरे लक्षण, दुःख, पर विशेष रूप से विचार किया गया है। दूसरा लक्षण होने के कारण यह पहले लक्षण, अनित्यता, के बाद आता है और आम तौर पर इसका जो अर्थ लिया जाता है, उससे इसका अर्थ कहीं ज़्यादा गूढ़ है। आम तौर पर दुःख का जो अर्थ लिया जाता है, वह है किसी भी प्रकार की पीड़ा, शोक, कष्ट, संकट या मानसिक वेदना। पर चूँकि यह संसार के अनित्य स्वरूप के साथ जुड़ा हुआ है, इसलिए जो भी अनित्य है अथवा जिसमें भी बदलाव आता है, उसे दुःख ही समझा जाता है।

मान लो हमारा अपने परिवार के लोगों के साथ बहुत मोह है – जैसे कि माता-पिता, पति-पत्नी, बेटा-बेटी, भाई-बहन या अपने विशेष मित्र – इतना अधिक मोह कि हम उन्हें कभी भूल नहीं पाते। परन्तु इस अनित्य संसार में कोई भी सदा के लिए रह नहीं सकता और जब उनमें से कोई फिर कभी लौटकर न आने के लिए यह संसार छोड़कर चला जाता है, तो हमें हृदय-विदारक दुःख होता है। इसलिए किसी भी अनित्य वस्तु या प्राणी के मोह में बँध जाना और यह भूल जाना कि यहाँ वास्तव में कोई किसी का नहीं है, दुःख के अलावा कुछ नहीं है।

इसके अतिरिक्त हम आम तौर पर भूल जाते हैं कि अधिकतर लोग अपने बदलते स्वार्थों के अनुसार सम्बन्ध बनाते या तोड़ते हैं। जब कोई सम्बन्ध बदलता या टूटता है या कोई मित्र हमारा शत्रु बन जाता है, तब इससे केवल दुःख ही प्राप्त होता है।

फिर हम यह भी स्पष्ट रूप से नहीं देख पाते कि न तो यह संसार और न यह शरीर ही वास्तव में अपना है। दोनों ही अनित्य हैं। दोनों में से किसी के साथ भी हमारा मोह अन्त में दुःखदायी ही होगा, भले ही वह मोह सकारात्मक रूप से राग या आकर्षण का हो या नकारात्मक रूप से द्वेष या घृणा का हो। फिर भी अपनी घोर अज्ञानता के कारण हम शायद ही इनसे मुक्त हो पाते हैं। सुख की खोज में हम उन पदार्थों के पीछे भागते रहते हैं जो हमें पसन्द हैं, परन्तु सुख कभी भी हमारे हाथ नहीं लगता और हम इस बदलते और दुःखों से भरे संसार से और अधिक बँधते जाते हैं। एडवर्ड कॉन्ज़ कहते हैं:

> *हमें कुछ चीज़ें पसन्द हैं, कुछ नापसन्द हैं और जब तक हम जीवित हैं, हम स्पष्टतः यह मान लेते हैं कि हमारी पसन्द की चीज़ें हमारी नापसन्द चीज़ों से अधिक हैं और हम चाहे कितने भी निराश क्यों न हों, हमारी निराशा हमें इस संसार में अपने लिए एक सुखद घर बनाने के प्रयत्न से रोक नहीं पाती।*[169]

यह सोचना एक भूल है कि यह अनित्य संसार हमारे लिए एक सुरक्षित आश्रय-स्थल बन सकता है। यहाँ सबको सर्वत्र दुःख ही भोगना पड़ता है। बौद्धधर्म में दुःख की सर्वव्यापकता को स्वतःसिद्ध सत्य या 'आर्य-सत्य' कहा गया है और इसे सम्यक् ज्ञान या बुद्धत्व की प्राप्ति द्वारा ही समझा जा सकता है। बौद्धधर्म के उपदेश में इसे प्रथम आर्य सत्य कहा गया है, क्योंकि यह समझने पर ही कि यह संसार दुःखों का घर है, मनुष्य को निर्वाण प्राप्त करने और इस संसार से सदा के लिए छुटकारा पाने की प्रेरणा मिलती है। एक सम्बोधि प्राप्त व्यक्ति को समस्त संसार दुःखों की भट्ठी के समान दिखाई देता है। केवल वही लुभावने सांसारिक विषय-भोगों के जाल की पहचान कर सकता है जिनमें उलझकर लोग भयानक दुःख और कष्ट भोगते हैं।

अतः इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए हमें आन्तरिक ज्ञान की खोज करनी चाहिए। जैसा कि महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *निरन्तर जल रहे इस संसार में*
> *कैसी ख़ुशी, कैसा आनन्द?*
> *तुम जो अन्धकार (अज्ञानता) से घिरे हुए हो,*
> *प्रकाश की खोज क्यों नहीं करते?*[170]

केवल वे ही वास्तव में सांसारिक प्रलोभनों से विमुख हो सकते हैं जिन्होंने आन्तरिक प्रकाश को देखा है और उच्चतर आनन्द का अनुभव किया है, क्योंकि उन्हें इस बात का सच्चा ज्ञान हो जाता है कि मोह, लालच, द्वेष और अन्य सांसारिक विकार दुःख के कारण हैं और सच्चा सुख केवल इस संसार से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करने में ही है। जैसा कि महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> मोह से बड़ा कोई ताप नहीं है,
> द्वेष से बड़ा कोई दुर्गुण नहीं है,
> मनुष्य-जीवन के अनित्य होने

से बड़ा कोई दुःख नहीं है,
और शान्ति से बढ़कर कोई सुख नहीं है।
लोभ एक भयानक रोग है,
आशाएँ, तृष्णाएँ महान् दुःख देनेवाली हैं।
जिस व्यक्ति को इस वास्तविकता का सच्चा ज्ञान हो गया है,
उसके लिए 'निब्बान' ही परम आनन्द है।[171]

महात्मा बुद्ध हमारे लोभ और हमारी तृष्णा के बारे में कुछ दृष्टान्त देते हुए संकेत करते हैं कि ये सभी दुःख का कारण हैं:

जो व्यक्ति लोभवश सांसारिक पदार्थों और धन-सम्पत्ति के पीछे दौड़ रहा है, उसकी स्थिति ऐसे व्यक्ति के समान है जो जलते हुए घास के गट्ठर को लेकर हवा की विपरीत दिशा में जा रहा है। अगर वह जल्दी से जल्दी उस घास के गट्ठर को फेंक नहीं देता तो उसका जल जाना निश्चित है।[172]

सांसारिक विषय-भोगों में लिप्त व्यक्ति की स्थिति उस कुत्ते के समान है जो लोभवश एक मांसरहित हड्डी को चबाता है जिसके कारण उसकी भूख का मिटना तो दूर, उससे केवल उसकी तकलीफ़ और पीड़ा अधिक बढ़ जाती है।[173]

जो व्यक्ति सांसारिक वासनाओं में आनन्द ढूँढ़ता है, वह एक कोढ़ी के समान है जिसे पहले अपने ज़ख़्म को खुजलाने और फिर उसे आग पर तपाने में आनन्द आता है जिससे उसका कष्ट और अधिक बढ़ जाता है।[174]

यद्यपि इस संसार में दुःख के अनगिनत रूप हैं, फिर भी जन्म, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु का इसलिए विशेष रूप से उल्लेख किया गया है,

क्योंकि ये सबसे अधिक स्पष्ट हैं तथा साधारणतः सभी इनसे परिचित हैं। दुःख का एक और सामान्य कारण है – अपने प्रियजनों को खोना। इस बात को स्वीकार करते हुए पाबोंग्का रिनपोचे ग्रेट प्ले सूत्र *(Great Play Sutra)* में से इन काव्य पंक्तियों को उद्धृत करते हैं:

तुम अपने मित्रों और प्रियजनों से सदा के लिए बिछुड़ जाते हो।
वे वापस नहीं आयेंगे, तुम्हारा उनसे दोबारा कभी मिलन नहीं हो सकता।[175]

तुम अपने सम्बन्धियों, मित्रों और प्रियजनों से बिछुड़ जाओगे...
ये वही लोग हैं जिनसे तुम एक घण्टे का विछोह भी सहन नहीं कर पाते थे।[176]

अनगिनत जन्मों में हमने कितने आँसू बहाये हैं, इसका संकेत देते हुए वे नागार्जुन* के एक पत्र से यह उद्धरण देते हैं:

इस संसार में तुम ने बहुत अधिक आँसू बहाये हैं
जब-जब तुम्हारा अपने प्रियजनों से बिछोह हुआ
तुम्हारी आँखों से बहते हुए आँसुओं से
समुद्र में भी बाढ़ आ जाती।[177]

हमें याद रखना चाहिए कि आँसुओं की इस घाटी से हम अकेले ही गुज़रते हैं। इन अनन्त दुःखों को हम अकेले ही सहन करते हैं, हमें सान्त्वना देनेवाला और हमारी सहायता करनेवाला कोई नहीं होता।

* नागार्जुन बौद्धधर्म की महायान शाखा के जाने-माने विद्वान् और प्रमुख टीकाकार हुए हैं।

हमें इस बात पर आश्चर्य हो सकता है कि बौद्धधर्म में दुःख और पीड़ा पर इतना बल क्यों दिया गया है और क्यों इसे प्रथम आर्य सत्य माना गया है? क्या बौद्धधर्म निराशावादी है? निश्चित रूप से नहीं। बौद्धधर्म यथार्थवादी है। यह हमारे सामने संसार का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है जिससे लोगों में मुक्ति की, परम आनन्द की अवस्था को प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत हो। जैसा कि महान् सांग्खपा ने कहा है:

> *यदि कोई व्यक्ति दुःख के दुष्परिणामों को लेकर गहराई से सोच-विचार नहीं करता है तो समझो उसे मुक्ति प्राप्त करने की प्रबल अभिलाषा ही नहीं है।*[178]

इस दृश्य संसार का तीसरा लक्षण है—अनात्मता (पालि: 'अनत्ता', संस्कृत: अनात्मन्)। अन्य दो लक्षणों की तुलना में अनात्मवाद के सिद्धान्त को पूरी तरह समझना अधिक कठिन है और इसके महत्त्व को लेकर बहुत विवाद है।

अनात्मता

बौद्धधर्म के अनुसार जिसे आत्म-तत्त्व कहा जाता है, वह वास्तव में निरन्तर बदलते हुए स्थूल और मानसिक घटकों (स्कन्धों) का मिश्रण है। हमारे अनुभव में आनेवाला समस्त जीवन नश्वर है और इसमें निरन्तर बदलाव होता रहता है। इस दृश्यमान जगत् के सभी घटनाक्रम उन स्थितियों पर निर्भर हैं जिनसे वे उत्पन्न हुए हैं; और चूँकि वे सभी अनित्य हैं; इसलिए उनमें सच्चा आत्म-तत्त्व हो ही नहीं सकता। बौद्धधर्म के अनुसार आत्मा के सम्बन्ध में जिन धारणाओं और विचारों से हम बँधे हुए हैं, वे सही नहीं हैं और ऐसी धारणा हमारी अज्ञानता के कारण है। आओ अब हम अनात्मवाद (अनत्ता) के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की छानबीन करें।

अनत्ता शब्द पर विचार करते समय शुरू में यह एक नकारात्मक शब्द लग सकता है, जिसका प्रयोग 'आत्मभाव' या 'मैं' की यथार्थता

को नकारने के लिए किया गया है। परन्तु सबसे पहले यह जानना बहुत आवश्यक है कि 'आत्मभाव' या 'मैं' का सही अर्थ क्या है। कभी-कभी लगता है कि इसका अर्थ यह शरीर है (उदाहरण के लिए 'मैं मोटा हूँ') या कोई ज्ञानेन्द्रिय है ('मैं अन्धा हूँ') अथवा कोई कर्मेन्द्रिय है ('मैं लँगड़ा हूँ') या मानसिक शक्ति ('मैं मतिमन्द हूँ') और कभी-कभी लगता है यह चेतना का सूचक है ('मैं जानता हूँ')। इन सबमें से किसको 'आत्मभाव' या 'मैं' का वास्तविक अर्थ माना जाये? इसके अतिरिक्त यह शब्द अक्सर 'अपनेपन' या 'मैं' को प्रायः सम्पूर्णता में सूचित करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। क्या इस 'आत्मभाव' शब्द का प्रयोग 'आत्मा' के पर्याय के रूप में किया जा सकता है? इन उलझनों के बीच हमें यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि वास्तव में 'अनत्ता' का सिद्धान्त किसे नकारता है और किसे नहीं नकारता।

चूँकि इस सिद्धान्त के सही अर्थ को लेकर व्याख्याताओं में मतभेद है, इसलिए हम पालि त्रिपिटकों में की गयी चर्चाओं के अनुसार इसे स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे, क्योंकि पालि त्रिपिटकों को महात्मा बुद्ध के उपदेश का आरम्भिक या कम से कम लिखित रूप में आरम्भिक प्रमाणों में से एक माना जाता है।

चूँकि सभी मनुष्य देखते हैं कि सब कुछ चलायमान है, और वही दुःख का कारण है, अतः उनके अन्दर नित्यता, अमरता और आनन्द प्राप्त करने की प्रबल इच्छा विकसित होती है। परन्तु जब उन्हें इस संसार में कुछ भी अमर और आनन्द देनेवाला नहीं मिलता तो वे 'मैं-मेरी', 'आत्मभाव' अथवा 'अहं' जैसी अस्पष्ट और आधी-अधूरी धारणाओं का आविष्कार या कल्पना कर लेते हैं और फिर इन्हीं धारणाओं से चिपके रहते हैं। महात्मा बुद्ध ने इस चिपकने को 'अत्तवादुपादान' ('मैं-मेरी' के साथ चिपकना) कहा है; और इस ग़लत विश्वास को कि हर मनुष्य में एक स्थायी तत्त्व है, जो इस लगाव को जन्म देता है, 'सक्काय दिट्ठि' (इस मनो-भौतिक शरीर के यथार्थ होने का ग़लत दृष्टिकोण) कहा है। वे यह भी कहते हैं कि सभी इच्छाओं, मोह, कलह-क्लेश, द्वेष,

लड़ाई-झगड़ों, चोरी, लूटपाट, हिंसा और ऐसे ही अन्य दुष्कर्मों की जड़ इस आत्मभाव की मानसिक संरचना में ही है।

'मैं-मेरी' के इस विचार से चिपके रहने की ग़लत धारणा से हमें छुटकारा दिलाने के लिए महात्मा बुद्ध स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य की रचना में प्रयुक्त प्रत्येक तत्त्व अनित्य है और दुःख का कारण है। पालि त्रिपिटक ऐसे उद्धरणों से भरे पड़े हैं जिनमें महात्मा बुद्ध मनुष्य को पाँच स्कन्धों में बाँटकर उसके सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक अस्तित्व का विश्लेषण करते हैं। ये पाँच स्कन्ध हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। वे समझाते हैं कि इन पाँचों घटकों से बने हमारे शारीरिक और मानसिक स्वरूप में कुछ भी स्थायी और शाश्वत आनन्द देनेवाला नहीं है। इस प्रकार वे इस तथ्य को स्थापित करते हैं कि 'आत्मभाव' और 'मैं-मेरी' के किसी भी विचार से लगाव रखना भ्रामक है।

सबसे पहले महात्मा बुद्ध यह प्रश्न पूछते हैं कि शरीर (रूप) नित्य है या अनित्य।[179] यह उत्तर मिलने पर कि यह अनित्य (अनिच्च) है, वे आगे प्रश्न करते हैं कि जो अनित्य है, वह दुःखदायी है या सुखदायी? स्वाभाविक रूप से इस प्रश्न का उत्तर है कि यह दुःखदायी है। एक अन्य स्थान पर वे पूछते हैं: "जो अनित्य है, दुःख देनेवाला है और परिवर्तनशील है, क्या उसे इस दृष्टि से देखना उचित है कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा स्वरूप है।'" और उत्तर स्पष्ट है—'निश्चित रूप से नहीं।' यही सिद्धान्त बाक़ी के स्कन्धों पर भी लागू करके महात्मा बुद्ध अन्त में 'मैं' और 'मेरी' की भावना निरर्थक होने की बात स्पष्ट करते हैं।[180]

एक अन्य स्थान पर वे 'मैं' अथवा 'आत्मभाव' के निरर्थक होने की बात स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'अहं' का भाव केवल ऊपर बताये गये व्यक्तित्व के पाँच स्कन्धों द्वारा ही बनता है। वे कहते हैं:

> *सभी तापस और ब्राह्मण जो आत्मभाव को भिन्न-भिन्न रूप में देखते हैं, या तो इन पाँच स्कन्धों को संघात (इकट्ठे) के रूप में देखते हैं या इनमें से किसी एक स्कन्ध के रूप में (अलग से)।*[181]

यह अहंकार किस प्रकार कई स्वरूपों में उभरकर सामने आता है, इसे निम्नलिखित ढंग से बताया गया है:

> *हे भिक्षुओं! वह मनुष्य जो अज्ञानी और निपट संसारी है, जिसने किसी ज्ञानी महात्मा के दर्शन नहीं किये हैं, जिसे इस पावन सिद्धान्त का कोई ज्ञान नहीं है और न ही इस पावन सिद्धान्त के अभ्यास का प्रशिक्षण प्राप्त है, वह इस शरीर को आत्मा मानता है या शरीर को आत्मा द्वारा अधिकृत मानता है अथवा शरीर को आत्मा में समाया हुआ मानता है या आत्मा को शरीर में समाया हुआ मानता है, (और शेष चार स्कन्धों के विषय में भी ऐसा ही है), इस प्रकार देखते हुए, वह यह धारणा बना लेता है, 'मैं हूँ'।*[182]

इस तरह या तो 'आत्मभाव' या 'मैं' और व्यक्तित्व के पाँच घटकों को एकरूप माना जाता है—या इन घटकों को आत्मा द्वारा अधिकृत माना जाता है, या इन्हें आत्मा में समाया हुआ माना जाता है, या यह माना जाता है कि आत्मा इन घटकों में समायी हुई है। महात्मा बुद्ध फिर कहते हैं:

> *किसी भी प्रकार का रूप या शारीरिकता चाहे वह भूत काल की हो, भविष्य काल की हो या वर्तमान काल की हो, आन्तरिक हो या बाहरी, ठोस हो या सूक्ष्म, श्रेष्ठ हो या निम्न, दूर हो या पास—वास्तविक ज्ञान द्वारा यही समझना चाहिए, 'यह मेरा नहीं है, यह मैं नहीं हूँ, यह मेरा स्वरूप नहीं है।'*[183]

फिर वे दूसरे घटकों के सम्बन्ध में भी वही विचार दोहराते हैं:

इस अध्याय के आरम्भ में दुःख से सम्बन्धित महात्मा बुद्ध के जो वचन उद्धृत किये गये हैं, वे यहाँ दोहराने योग्य हैं। वे कहते है:

सभी रचे गये पदार्थ अनात्म हैं।
जब कोई व्यक्ति ज्ञान द्वारा इस रहस्य को जान लेता है,
तब वह दुःखों से ऊपर उठ जाता है,
यही विशुद्धि का मार्ग है।[184]

महात्मा बुद्ध के उपदेश में अनात्म का विचार 'प्रतीत्य समुत्पाद' या 'सापेक्ष कारणतावाद' के सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट होता है कि जीवन का समस्त घटनाक्रम एक दूसरे पर निर्भर है, सब कुछ एक दूसरे के संयोग से उत्पन्न होता है और अपने अस्तित्व के लिए एक दूसरे पर निर्भर है। महात्मा बुद्ध ने कहा है:

इसके होने पर, यह होता है।
इसके उत्पाद से, यह उत्पन्न होता है।
इसके न होने पर, यह नहीं होता।
इसके निरोध से, यह निरुद्ध हो जाता है।[185]

'प्रतीत्य समुत्पाद' का सिद्धान्त इस विचार से परे है कि कारण और कार्य भिन्न-भिन्न हैं और कारण हमेशा कार्य से पहले उत्पन्न होता है। महात्मा बुद्ध ने उपदेश दिया कि कार्य का कारण से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि अंकुर का बीज से है। और यह कारण कार्य के साथ उसी प्रकार सम्बन्धित है जिस प्रकार 'छोटा' होने की धारणा 'लम्बे' होने पर निर्भर है। *हार्ट ऑफ़ द बुद्धाज़ टीचिंग* (*Heart of the Buddha's Teaching*) में थिश हैत् हैन कहते हैं:

'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त के अनुसार कारण और कार्य की उत्पत्ति साथ होती (समुत्पाद) है और प्रत्येक घटना अनेक कारणों और परिस्थितियों का परिणाम है। अण्डा चूज़े में है और चूज़ा अण्डे में है। चूज़ा और अण्डे की उत्पत्ति दोनों के परस्पर संयोग पर निर्भर है। कोई भी स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न नहीं होता। 'प्रतीत्य समुत्पाद' हमारी स्थान और समय सम्बन्धी धारणाओं से कहीं परे है। 'एक में ही सब कुछ समाहित है।'[186]

'प्रतीत्य समुत्पाद' के सन्दर्भ में हम सम्पूर्ण स्थूल और मानसिक घटकों में 'शुद्ध आत्मभाव' को नहीं पा सकते। बौद्धधर्म के उपदेश के अनुसार आत्मभाव की स्वतन्त्र सत्ता सम्बन्धी धारणा से जुड़े रहना अज्ञानता है और यही आवागमन के चक्र में फँसे रहने का मूल कारण है।

मन और शरीर की पारस्परिक निर्भरता व्यक्ति को या तो दुःख की ओर ले जा सकती है या फिर मुक्ति की ओर। उदाहरण के लिए, परस्पर निर्भर होने के कारण इन्द्रियों द्वारा विषयों का स्पर्श होने पर जो मनोभावना (वेदना) उत्पन्न होती है, वह तृष्णा को उत्पन्न करती है और तृष्णा द्वारा बन्धन (उपादान) दृढ़ होता है। पर यदि मन में शान्ति उत्पन्न होती है तो मनोभावना (वेदना) में भी शान्ति आ जाती है और तब तृष्णा दूर हो जाती है और बन्धन का भी अन्त हो जाता है।

'प्रतीत्य समुत्पाद' के विचार को समझना आसान नहीं है। आनन्द ने जब कहा कि यह तो बहुत आसान है, तो महात्मा बुद्ध ने कहा:

हे आनन्द! ऐसा मत कहो। प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त वास्तव में बहुत गहन और सूक्ष्म है... इस धम्म को न समझ पाने और इसका बोध न होने के कारण ही यह पीढ़ी... आवागमन के चक्र से परे नहीं जा पाती।[187]

यहाँ यह कहना पर्याप्त है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए अपने अहंभाव का विचार रखना इतना अहितकर माना गया है कि इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि किस एक वस्तु से छुटकारा पाना चाहिए, महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया: 'अपने अहंभाव से।'[188] महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> हे भिक्षुओं! अहंभाव का ऐसा कोई भी स्वरूप मुझे दिखाई नहीं देता जिससे बँधे रहने पर दुःख, संताप, व्यथा, पीड़ा और निराशा उत्पन्न न हो।[189]

> इस चेतन-शरीर से और समस्त बाहरी पदार्थों से सम्बन्धित अहंभाव को पूरी तरह त्याग देने से ही व्यक्ति को हर प्रकार के बन्धन से छुटकारा मिलता है और फिर वह 'अनुप्पादा विमुत्ति' (बन्धनरहित पूर्ण मुक्ति) प्राप्त कर सकता है।[190]

किसी से बँधे रहने या चिपके रहने का सबसे अधिक शक्तिशाली और सूक्ष्म स्वरूप है 'मैं-मेरी का भाव' और चूँकि किसी भी सांसारिक वस्तु से चिपके रहना दुःख का मूल कारण समझा जाता है, इसलिए स्वाभाविक है कि इस अहंकार को त्यागने पर सर्वाधिक बल दिया गया है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि महात्मा बुद्ध के अनुसार एक ज्ञानी या बोधिप्राप्त व्यक्ति वही है जिसे सम्पूर्ण ज्ञान है परन्तु जिसमें 'मैं-मेरी' का भाव नहीं है।

हालाँकि महात्मा बुद्ध ने यह स्वीकार किया है कि अपने आप को 'मैं-मेरी' के भाव से पूरी तरह अलग करना अत्यन्त कठिन है। 'मैं' के साथ मनुष्य का बन्धन इतना दृढ़ है कि यह समझ लेने के बाद भी कि व्यक्तित्व के पाँचों स्कन्धों अथवा ग्रहणशील समूहों* में से किसी को भी अहंभाव से जोड़ना विरोधात्मक और असम्भव है, वह फिर भी अहंभाव को सँजोये रहता है। इसे *संयुत्त-निकाय* के खेमक-सुत्त में इस प्रकार स्पष्ट करते हुए भिक्षु खेमक कहते हैं:

* ये पाँच स्कन्ध मोह का ही रूप हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा हम विषय-भोगों में लिप्त रहते हैं।

> मैं रूप में या रूप से बाहर... संज्ञा में या संज्ञा से बाहर... वेदना में या वेदना से बाहर... संस्कार में या संस्कार से बाहर... विज्ञान में या विज्ञान से बाहर 'मैं या मेरी' की बात नहीं कहता, फिर भी पाँच ग्रहणशील समूहों में मेरी 'मैं' या 'अहं' का भाव विद्यमान है, हालाँकि मैं यह नहीं देख पाता हूँ कि यही 'मैं' है।[191]

'मैं,' 'अहंभाव' तथा 'आत्मभाव' के प्रति बँधे रहने की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इस सूत्र में आगे एक दृष्टान्त के माध्यम से समझाया गया है। एक अत्यन्त मैले-कुचैले कपड़े को धोबी जब अच्छी तरह धोकर साफ़-सुथरा करके लाता है, तो भी इसमें थोड़ी-बहुत गन्ध रह जाती है। इसे बताते हुए कहा गया है:

> भले ही एक पुण्यवान् शिष्य ने पाँच निचले बन्धनों को त्याग दिया है ('सक्काय दिट्ठि' सहित, इन पाँचों में कुछ शाश्वत होने का विश्वास) तो भी, इन पाँच ग्रहणशील समूहों में 'मैं' के अहंकार का बचा हुआ सूक्ष्म रूप, 'मैं' के साथ लगाव और यह सोचने की प्रवृत्ति कि 'मैं हूँ' अभी भी उसके भीतर से नहीं जाती।[192]

तब कपड़े की बची हुई गन्ध को दूर करने के लिए उसे सुगन्धित सन्दूक में रखा जाता है। फिर से यह बताया गया है:

> बाद में वह भिक्षु अपने जीवन में इन पाँच ग्रहणशील समूहों के चढ़ाव और उतार पर विचार करता रहता है... इस प्रकार जैसे-जैसे वह इन पाँच ग्रहणशील समूहों पर ध्यान देता है, अहं का सूक्ष्म अंश, 'मैं' के साथ लगाव होने और यह सोचने की छिपी हुई प्रवृत्ति कि 'मैं हूँ' जो अभी तक बची हुई थी, अब पूरी तरह नष्ट हो जाती है।[193]

हालाँकि 'आत्मभाव' अथवा 'मैं' के अस्तित्व को नकारते हुए भी लोग इन शब्दों का प्रयोग इनसे भ्रमित हुए बिना कर सकते हैं। वे इनका प्रयोग केवल औपचारिकता का निर्वाह करने के लिए करते हैं। महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *ये केवल प्रचलित अभिव्यक्तियाँ हैं, बोलचाल के प्रचलित रूप हैं, पूरे विश्व में आम तौर पर प्रयोग में लाये जानेवाले बोलचाल के शब्द हैं, जिनका प्रयोग तथागत बिना भ्रमित हुए करते हैं।*[194]

बौद्धधर्म का अनात्मवाद का सिद्धान्त इस बात को स्पष्ट करता है कि सदा बने रहनेवाले अहंकार के रूप में प्रतीत होनेवाला 'मैं' या 'आत्मभाव' का विचार मिथ्या है। किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मभाव को नकारने का अर्थ आत्मभाव रहित सत्य को नकारना है, जो कि निर्वाण है। इसी कारण अनात्म-भाव की इस अवस्था को जिसे व्यक्त करना असम्भव है, समझने के लिए ही महात्मा बुद्ध ने सत्य को किसी भी प्रकार के 'अहं' के सम्पर्क से मुक्त रखने की आवश्यकता पर बल दिया है।

6

आत्मा और परमात्मा के प्रति बौद्ध दृष्टिकोण

बौद्धधर्म के दो विशेष पहलू अकसर विवाद और भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। पहला पहलू यह है कि क्या बौद्धधर्म आत्मा के अस्तित्व को नकारता है, और दूसरा पहलू है कि क्या बौद्धधर्म एक नास्तिक की तरह परमात्मा के अस्तित्व को नकारता है? यहाँ हम बौद्धधर्म के आत्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित विचारों को प्रस्तुत कर उन पर चर्चा करेंगे।

आत्मा के प्रति दृष्टिकोण

चूँकि महात्मा बुद्ध ने 'मैं-मेरी' या 'आत्मभाव' के अस्तित्व को नकार दिया था, इसलिए बौद्धधर्म की सभी शाखाओं ने *अनत्ता* (अनात्मा) के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। पालि शब्द अनत्ता का संस्कृत भाषा में पर्याय *अनात्मन्* (हिन्दी में *अनात्मा*) है जिसका अर्थ है 'आत्मा नहीं है'। शब्दों की इस दुविधा के कारण ही शायद आंशिक रूप से यह मतभेद उत्पन्न हुआ हो कि क्या महात्मा बुद्ध और बाद के बौद्ध अनुयायियों का आत्मभाव को नकारने का अर्थ आत्मा (आत्मन्) के अस्तित्व को भी नकारना था या नहीं।

बौद्धधर्म 'मैं', 'मेरा', 'आत्मभाव' या अहं के विचार को पूरी तरह नकारता है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। जो हो, चेतन जीव के केवल अनित्य घटक (पंच स्कन्ध) ही, जिनसे मन तथा शरीर बना है, अनात्मन् हैं। इसका मतलब आध्यात्मिक सत्य के उस सारतत्त्व को नकारना नहीं है जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों की पहुँच से परे होते हुए भी सबको सक्रिय करता है।

हो सकता है कि महात्मा बुद्ध के समय में आत्मा से सम्बन्धित कोई प्रचलित धारणा रही हो जिसके अनुसार आत्मा को किसी शाश्वत मानसिक तत्त्व के रूप में समझा जाता रहा हो। हो सकता है कि महात्मा बुद्ध ने उस प्रचलित धारणा को ही नकारा हो। परन्तु इस बात को स्पष्ट रूप से समझने के लिए कि महात्मा बुद्ध तथा उनके बाद के बौद्ध अनुयायियों द्वारा आत्मभाव को नकारने का अर्थ आत्मा को सारतत्त्व के रूप में भी नकारना है या नहीं; बेहतर होगा कि हम यह देखें कि 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किस सन्दर्भ में किया गया है।

आगे इस बात की तुलना करेंगे कि किस प्रकार महात्मा बुद्ध ने पालि शब्द 'अत्ता' का प्रयोग किया है और किस प्रकार आरम्भिक भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं में संस्कृत शब्द 'आत्मन्' (हिन्दी में 'आत्मा') शब्द का प्रयोग किया गया है। आरम्भिक भारतीय दार्शनिक विचारधारा को उपनिषदों तथा भगवद्गीता से लिये गये कुछ उद्धरणों द्वारा यहाँ स्पष्ट करेंगे।

परन्तु ऐसा करने के पहले हम *ड्रीम कॉन्वरसेशन्स ऑन बुद्धिज़्म एण्ड ज़ेन (Dream Conversations on Buddhism and Zen)* नामक पुस्तक में दिये गये वास्तविक सारतत्त्व के एक अर्थ पर भी ध्यान देंगे। इस पुस्तक में तेरहवीं शताब्दी के ज़ेन बौद्ध मूसो कॉकुशि द्वारा एक शिष्य को लिखे गये पत्र संकलित हैं। अन्य विषयों के साथ-साथ वे सारतत्त्व पर भी उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि सारतत्त्व की कई प्रकार से व्याख्या की जा सकती है।

'सारतत्त्व' शब्द के कई अर्थ हैं। साधारण रूप से इसके तीन अर्थ बौद्धधर्म में समझाये गये हैं।

एक अर्थ अपरिवर्तनशीलता है। उदाहरण के लिए काली मिर्च और मीठी घास का सारतत्त्व अलग-अलग है; काली मिर्च मीठी नहीं है, इसी प्रकार मीठी घास चरपरी नहीं है।

दूसरा अर्थ विशिष्टता है। यह जड़ और चेतन पदार्थों की विशिष्ट (अलग-अलग) प्रकृतियों को व्यक्त करता है।

तीसरा अर्थ वास्तविक सारतत्त्व है। यह समस्त गोचर जगत् का मूलस्रोत है और यही अद्वैत एवं आधारभूत सारतत्त्व है।[195]

अब हम देखेंगे कि उपनिषद् तथा भगवद्गीता में आत्मा के सम्बन्ध में जो धारणा है, यह तीसरा अर्थ उसी धारणा के अनुरूप है।

मनुष्य के व्यक्तित्व के पाँच उपादान स्कन्ध

मनुष्य के व्यक्तित्व को बनानेवाले मानसिक-शारीरिक घटकों को पाँच भागों में बाँटने तथा यह स्पष्ट करने के बाद कि ये सभी उपादान स्कन्ध अनित्य और दुःखदायी हैं, महात्मा बुद्ध यह प्रश्न पूछते हैं: जो अनित्य है, दुःखदायी है और परिवर्तनशील है, क्या उसे इस दृष्टि से देखना उचित है कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा अस्तित्व है?'[196] उन्हें उत्तर मिलता है 'नहीं।' परन्तु इस उत्तर से हमें यही पता चलता है कि महात्मा बुद्ध के अनुसार मानसिक-शारीरिक स्कन्धों में से किसी एक स्कन्ध को या समूह को 'मैं', 'मेरा', 'मेरा अपना' या 'आत्मभाव' के रूप में देखना अनुचित है।

यहाँ किसी ऐसे आध्यात्मिक तत्त्व, शक्ति अथवा आधारभूत कारण के होने या न होने की बात नहीं की गयी है जो पाँच मानसिक-शारीरिक तत्त्वों से अलग है और वास्तविक सारतत्त्व है। भारत की कई दार्शनिक विचारधाराओं में आत्मा को एक शुद्ध आध्यात्मिक शक्ति अथवा तत्त्व

माना गया है जो न तो परिवर्तनशील है और न ही दुःख का अनुभव करता है।

यह भी स्पष्ट है कि पालि शब्द अत्ता (आत्मभाव) को व्यक्तित्व के सामान्य रूप से दिखाई देनेवाले पाँच स्कन्धों के रूप में ही जाना जाता है। महात्मा बुद्ध कहते हैं: 'वे सभी श्रमण और ब्राह्मण (ज्ञानी) जिनकी आत्मभाव के विषय में भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं, इसे या तो पाँच उपादान स्कन्धों के समूह के रूप में (इकट्ठे) देखते हैं या फिर उनमें से किसी एक के रूप में (अलग से)।'[197] इसलिए आत्मभाव जिसे महात्मा बुद्ध नकारते हैं, वह व्यक्तित्व के ये पाँच घटक हैं, जबकि आत्मा के सत्य होने के विषय में, जिसे आधारभूत, अद्वैत सारतत्त्व के रूप में जाना जाता है, सकारात्मक या नकारात्मक कुछ भी नहीं कहा गया है। इसके अतिरिक्त आत्मभाव के सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध यह नहीं कहते कि इसकी वास्तविकता है ही नहीं, केवल यही कहते हैं कि उसे न तो समझा गया है और न ही उसका विवेचन किया गया है।

'अत्ता' शब्द कुछ अस्पष्ट-सा है। इस पारिभाषिक शब्द को अहंकार, 'मैं' अथवा आत्मभाव के रूप में समझा जा सकता है – या फिर इसे पारमार्थिक चैतन्य या आत्मा के रूप में भी समझा जा सकता है। किसी जिज्ञासु के साथ लम्बे-चौड़े वाद-विवाद में पड़ने के बजाय महात्मा बुद्ध आत्मा के गूढ़ अस्तित्व और स्वरूप के विषय में मौन ही रहे हैं। इस प्रकार जब एक परिव्राजक वच्छगोत ने महात्मा बुद्ध से विशेष रूप से यह पूछा कि आत्मभाव है या नहीं, तो महात्मा बुद्ध ने कोई उत्तर नहीं दिया।[198] वच्छगोत के जाने के बाद जब आनन्द ने महात्मा बुद्ध से उनके मौन रहने का कारण पूछा, तो उन्होंने कहा कि चाहे वे 'हाँ' में जवाब देते या 'ना' में, उनके किसी भी उत्तर से वच्छगोत की पूर्वनिश्चित धारणाओं की वजह से उसके मन में और अधिक भ्रान्ति ही उत्पन्न होती।[199] कोई भी उत्तर उसकी आध्यात्मिक खोज के लिए अहितकर सिद्ध होता।

आत्मा और आत्मभाव (अत्ता) में अन्तर

आन्तरिक आत्मा की पहचान न होने के कारण बहुत-से लोग आम तौर पर उपादान स्कन्धों के रूप में दिखाई देनेवाले एक या एक से अधिक स्कन्धों को, अथवा उन्हें सामूहिक रूप में, वास्तविक आत्मा यानी सारतत्त्व समझने की भूल करते हैं और इसी को महात्मा बुद्ध ने नकारा है। आत्मभाव की इस धारणा को नकारना ही बौद्धधर्म में *अनात्म* का सिद्धान्त कहलाता है।

महात्मा बुद्ध ने इस पर बहुत अधिक बल दिया है, क्योंकि आत्मा को अस्थायी और नश्वर पदार्थों के समान समझने से अहंकार, अभिमान और 'मैं-मेरी' के भाव उत्पन्न होते हैं और ये सब अत्यन्त दुःख के कारण हैं।

बौद्धधर्म को छोड़कर आत्मा या आत्मन् के विषय में जो मत प्रचलित है, उसमें 'मैं-मेरी' का कोई भाव नहीं है। हम यहाँ *भगवद्गीता* में से कुछ उदाहरण दे रहे हैं जिनमें आत्मा के अस्तित्व को मानना और 'मैं-मेरी' के भाव को त्यागना परस्पर विरोधी नहीं हैं। भगवान् कृष्ण कहते हैं:

> *जो सभी इच्छाओं को त्याग देता है,*
> *जो किसी भी सांसारिक पदार्थ की चाह के बिना कर्म करता है,*
> *जो 'मैं-मेरी' के भाव से मुक्त है,*
> *वही वास्तव में शांति प्राप्त करता है।*[200]

भगवान् कृष्ण अपने शिष्य अर्जुन को उपदेश देते हैं:

> *जो किसी के प्रति कोई दुर्भावना नहीं रखता,*
> *जो मित्रवत् और दयालु है,*
> *जो 'मैं-मेरी' के भाव से मुक्त है,*
> *जो सुख-दुःख में समभाव रखता है, जो क्षमाशील है,*

सदा सन्तुष्ट रहता है, साधनारत है, आत्म-संयमी है,
दृढ़-संकल्प वाला है,
और जिसने अपने मन और चित्त को मुझे सौंप दिया है,
मेरा ऐसा भक्त वास्तव में मुझे बहुत प्रिय है।[201]

अहंकार को, अपनी शक्ति को, अभिमान,
इच्छा, क्रोध और मोह को त्यागकर,
ममत्व के भाव को छोड़कर
और शान्त चित्त होकर वह ब्रह्मन्
के साथ एकरूप होने के
योग्य हो जाता है।[202]

यह एक सुस्थापित सिद्धान्त है कि जिसका भी आरम्भ किसी समय में होता है, उसका अन्त भी किसी समय में अवश्य होता है। चूँकि मनुष्य के मानसिक और शारीरिक व्यक्तित्व को बनानेवाले पाँचों स्कन्ध जन्म-मरण के दायरे में हैं और नाशवान् हैं, इसलिए इस नाशवान् शरीर में ऐसा कुछ भी नहीं बच जाता जो अमरत्व प्राप्त कर सके। हमारे अन्दर एक अमर शक्ति या आध्यात्मिक तत्त्व अवश्य है जिसमें अपार सामर्थ्य है, जिसे शुद्धिकरण की उचित प्रक्रिया द्वारा शुद्ध चेतना के रूप में, परम तत्त्व के रूप में पहचाना जा सकता है; जो विनाश अथवा मृत्यु से परे है और स्वयं में परिपूर्ण है।

परवर्ती बौद्ध विद्वानों ने कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जो *आत्मन्* अथवा आत्मा के विचार से मेल खाते हैं। जैसे कि *तथागत-गर्भ* (तथागत की बीजरूप में उपस्थिति), *विज्ञप्ति-मात्रता* (अत्यन्त सूक्ष्म चेतना), *आलय-विज्ञान* (चेतना का भण्डार) और वास्तविक आत्म-स्वरूप जो मिथ्या आत्म-स्वरूप के एकदम विपरीत है। चूँकि पालि शब्द 'अत्ता' संस्कृत शब्द 'आत्मन्' का पर्याय है, इसलिए हो सकता है उन्हें आत्मा की वास्तविकता को स्पष्ट रूप से

प्रकट करने में हिचकिचाहट हुई हो। इसी कारण उन्होंने आत्मा के सत्य को प्रकट करने के लिए ये पारिभाषिक शब्द बनाये होंगे।

हम जानते हैं कि बौद्धधर्म में धर्मकाय अथवा तथागत शब्दों का प्रयोग परम सत्य के लिए किया गया है। परन्तु जब तक यह हमारे भीतर साररूप अथवा बीजरूप में स्थित न हो, हम तथागत की अवस्था का साक्षात्कार नहीं कर सकते। तथागत-गर्भ के रूप में तथागत की इसी उपस्थिति को *लंकावतार-सूत्र* में स्पष्ट रूप से अहंकार से अलग कहा गया है। बोधिसत्त्व महामति और महात्मा बुद्ध के बीच हुए निम्नलिखित वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है। महामति प्रश्न करते है:

महात्मन्! तथागत-गर्भ के बारे में आपने जो उपदेश दिया है, क्या वह दार्शनिकों द्वारा बताये गये अहं-तत्त्व जैसा ही नहीं है?...

महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया: नहीं, महामति! मेरा तथागत-गर्भ दार्शनिकों द्वारा बताये गये अहंकार के समान नहीं है... यह शून्य है (माध्यमिकों का परम सत्य शून्यता है), मूल-सत्य (परम सत्य) है, निर्वाण है, अजन्मा है, सम्पूर्ण है।[203]

छठी शताब्दी में हुए भारत के बौद्ध विद्वान् भिक्षु सारमति ने अपने ग्रन्थ *रत्नगोत्रविभाग** में यह स्पष्ट किया है कि बुद्ध या तथागत का अंश हरएक में विद्यमान है। यह धारणा तथागत की बीजरूप में उपस्थिति की धारणा से किसी भी प्रकार अलग नहीं है। *रत्नगोत्रविभाग* में इस प्रकार कहा गया है:

* तिब्बत की बौद्ध परम्परा में '*उत्तरतंत्र शास्त्र*' *(Ultimate Doctrine)* के नाम से प्रसिद्ध इस पुस्तक में महात्मा बुद्ध के 'धातु' (आधारभूत तत्त्व) के विचार को, जो सभी प्राणियों में विद्यमान है, मुख्य विषय के रूप में लिया गया है। यह इस सिद्धान्त को प्रकट करता है कि बुद्धत्व का सारतत्त्व (तथागत-गर्भ), उस परम सत्ता का आधारभूत तत्त्व (धातु), सभी चेतन प्राणियों में निवास करता है। इस तत्त्व को जिसे पहले एक सक्रिय शक्ति (बीज) के रूप में बताया गया है, इस पुस्तक में उसे शाश्वत, स्थिर और अपरिवर्तनशील कहा गया है जो प्रत्येक जीवित प्राणी में शुद्ध सारतत्त्व के रूप में विद्यमान है और सभी सद्गुणों का स्रोत है।

यदि बुद्ध का तत्त्व (हरएक) में न होता
तो दुःख से कोई विरक्त न होता,
न ही निर्वाण प्राप्ति की कोई इच्छा होती,
न कोई इसके लिए प्रयास करता और
न ही इसे प्राप्त करने के लिए कोई दृढ़ संकल्प होता।[204]

अपने शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण हम दुःखी रहते हैं और इस संसार में क़ैद रहते हैं। जैसा कि एडवर्ड कॉन्ज़ ने कहा है:

सभी आध्यात्मिक परम्पराओं की एक प्रचलित एवं सामान्य बात यह विश्वास दिलाती है कि हम सब 'दुःखी आत्माएँ' हैं और हमारा वास्तविक अविनाशी स्वरूप किसी तरह इस संसार में खो गया है।[205]

इस बात की ओर संकेत करते हुए कि यह आत्मा कहाँ छिपी है और इसे कैसे खोजा जा सकता है, सरह कहते हैं:

निराकार स्वरूप इस शरीर में ही छिपा हुआ है,
जो यह जानता है, वह मुक्त हो जाता है...
'यह मैं हूँ और यह कोई और है'
इस बन्धन से मुक्त हो जाओ,
जिसने तुम्हें घेरा हुआ है,
इस प्रकार तुम स्वयं मुक्त हो जाओगे।[206]

मूसो कॉकुशि कहते हैं:

आम लोग जिसे अपना वास्तविक रूप समझते हैं, वह उनका असली रूप नहीं है... जब तक कि वे अपने व्यक्तिगत इतिहास

से पहले की वास्तविक स्थिति को नहीं देखते। ध्यान को अन्तर्मुख करना ही इस वास्तविक स्थिति को देखने की एक विधि है।[207]

डब्ल्यू. वाई. इवैंस वैंज़ ने महायान शाखा के प्रसिद्ध विद्वानों के मत को इन शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया है:

जैसा कि स्वर्गीय लामा काज़ी दावा-सामदुप और महायान शाखा के अन्य विद्वानों, जिनके साथ सम्पादक ने इस समस्या पर चर्चा की है, का मत है कि—इस प्रकार यह निराकार का सिद्धान्त जो समस्त ब्रह्मांड का सूक्ष्म रूप है, सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है या संसार में रहनेवाले प्राणियों में निवास करता है... परन्तु इस निराकार चेतनता के सिद्धान्त को किसी भी नाम से पुकारे जानेवाले शारीरिक और मानसिक स्वरूप से नहीं जोड़ा जा सकता; ये तो केवल इसकी काल्पनिक रचनाएँ हैं। यह असांसारिक है, इसे रचा नहीं जा सकता, यह अजन्मा है, यह निराकार है, मनुष्य की सोच-समझ या परिभाषा के दायरे से परे है। अतः यह समय तथा स्थान, जो सापेक्ष और शाश्वत हैं, की सीमा से बाहर है, इसका न आदि है न अन्त।[208]

ब्रह्माण्डीय चेतना का सूक्ष्म रूप में विद्यमान होने का सिद्धान्त और बौद्धधर्म में प्रचलित तथागत की उपस्थिति की धारणा—वास्तव में आत्मा की उस धारणा से भिन्न नहीं है जो बौद्धधर्म के अतिरिक्त भारत की पारम्परिक विचारधारा में आत्मा या आत्मन् के विषय में प्रचलित है। बौद्धधर्म के अतिरिक्त अन्य भारतीय साहित्य में आत्मन् को उस परम सत्ता (जिसे पुरुष, ईश्वर, स्वामी, राम अथवा शुद्ध चेतना के रूप में जाना जाता है) का 'कण' अथवा 'अंश' कहा जाता है जो प्रकट रूप से वैसा ही है जैसा कि बौद्धधर्म में तथागत अथवा शाश्वत सत्य की उपस्थिति। उदाहरण के लिए *छान्दोग्य उपनिषद्* में कहा गया है:

हे मघवन् (इन्द्र), यह सत्य है कि शरीर नश्वर है। मृत्यु इसे निगल जाती है। परन्तु यह उस मृत्युरहित, शरीररहित आत्मा का आधार है।[209]

मैत्रेयी उपनिषद् में इस शरीररहित आत्मा के विषय में कहा गया है:

यह सत्य है कि उस सूक्ष्म, अज्ञेय तथा अदृश्य शक्ति जिसे पुरुष कहते हैं, का एक अंश इस शरीर में निवास करता है।[210]

भगवद्गीता में अर्जुन के गुरु और ईश्वरीय शक्ति का अवतार माने जानेवाले भगवान् कृष्ण ने कहा है:

मेरा ही अंश जीवलोक में सनातन आत्मा है, वह प्रकृति में बसनेवाली इन्द्रियों को जिनमें मन छठा है, अपनी ओर खींचता है।*[211]

जीव रूप में आत्मा

पालि धर्म साहित्य में हमें एक और शब्द मिलता है, 'जीव' जिसे आत्मन्† का पर्याय माना जा सकता है। यह वह पारिभाषिक शब्द है जो आत्मा

* अनुवादक प्रो. राधाकृष्णन यहाँ 'मेरा ही एक अंश' के विषय में टिप्पणी करते हैं: 'इसका यह अर्थ नहीं है कि उस परम सत्ता को बाँटा जा सकता है या उसका विभाजन हो सकता है। व्यक्ति उस परम सत्ता से ही सक्रिय है, यह उस महान् अद्वैत जीवन का एक बिन्दु है। आत्मा वह केन्द्र है जिसमें विराट् रूप धारण करने की क्षमता है जो मन तथा हृदय सहित पूरे विश्व को गूढ़ रूप में समाहित कर सकता है। प्रकट रूप भले ही आंशिक दिखाई दे, परन्तु प्रत्येक आत्मा वास्तव में दिव्य है जो मनुष्य के रूप में पूरी तरह से व्यक्त नहीं हो पाती।' (भगवद्गीता, अनुवादक डॉ. राधाकृष्णन, पृ. 328)

† यह शब्द भी मूल रूप से संस्कृत भाषा के 'जीवस्' शब्द से निकला है; इसका मूल शब्द है 'जीव' यानी 'श्वास लेना'। इसका इंडोयूरोपियन मूल भी वही है, क्योंकि लेटिन भाषा के 'Vivus' शब्द का अर्थ है 'जीवित'। हिन्दुओं की भगवद्गीता में 'जीव' को अपरिवर्तनशील, शाश्वत और अनश्वर बताया गया है।

और शरीर के एक होने अथवा न होने से सम्बन्धित जाने-पहचाने 'दस अनुत्तरित प्रश्नों' में से एक है। महात्मा बुद्ध इसलिए मौन रहे, क्योंकि इन प्रश्नों का उत्तर देना 'धर्म के लिए अथवा पवित्र परमार्थी जीवन के लिए, मोहरहित होने, वैराग्य की अवस्था प्राप्त करने, मुक्त होने, शान्ति प्राप्त करने, सत्य का साक्षात्कार करने, सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने तथा निब्बान प्राप्त करने के लिए हितकारी नहीं है।'[212]

इनमें से दो प्रश्न आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध के विषय में हैं:

क्या आत्मा (जीव) शरीर से अभिन्न है?
क्या आत्मा (जीव) शरीर से भिन्न है?[213]

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ये प्रश्न आत्मा के होने या न होने के विषय को नहीं उठाते; ये केवल आत्मा और शरीर के बीच के सम्बन्ध में जानकारी चाहते हैं। अभिन्नता अथवा भिन्नता का प्रश्न तभी उठता है जब यह पूर्वधारणा हो कि शरीर तथा आत्मा एक ही समय पर अस्तित्व में होते हैं। यदि इन दोनों घटकों में से कोई एक भी वास्तव में अस्तित्व रहित होता तो दोनों के बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध का प्रश्न ही न उठता।

पालि धर्म साहित्य में ही महात्मा बुद्ध के कस्सप नाम के एक अभ्यासी शिष्य ने जीव अथवा आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि करते हुए कहा है कि इसे एक चेतन प्राणी में निहित अनश्वर सारतत्त्व के रूप में समझा जा सकता है।

पायासि नाम का राजा भिक्षु कस्सप की इस मान्यता पर विवाद करता है। राजा अपनी बात के समर्थन में यह उदाहरण देता है:

हे कस्सप! एक ऐसे चोर और अपराधी का उदाहरण लें जो रँगे हाथों पकड़ा गया हो और जिसे मेरे सामने लाया गया हो। मैं अपने आदमियों को आदेश देता हूँ कि वे उसे जीवित अवस्था में ही

एक बड़े से बरतन में डालकर, उस बरतन का मुँह बन्द करके, ऊपर से उसे गीले चमड़े से ढककर गीली मिट्टी से गाढ़ा लेप लगा दें और फिर उस बरतन को एक भट्ठी में डालकर आग जला दें... ऐसा करने पर जब हमें यह विश्वास हो जाता है कि उस व्यक्ति की मृत्यु हो गयी है, तब हम उस बरतन को नीचे उतारते हैं, उसका लेप उतारकर उसका ढक्कन खोलते हैं और बड़े ध्यान से देखते हैं कि उसकी आत्मा (अनश्वर सारतत्त्व) बाहर निकलते हुए कैसी दिखाई देती है। परन्तु हमें उसकी आत्मा बाहर निकलती हुई दिखाई नहीं देती। हे आदरणीय कस्सप! यह मेरे इस विश्वास का प्रमाण है कि न तो कोई दूसरा लोक है, न ही आत्मा, न पुनर्जन्म है और न ही अच्छे-बुरे कर्मों का फल।[214]

इस पर भिक्षु कस्सप राजा से पूछते हैं कि अपने नौकरों-चाकरों की उपस्थिति में क्या कभी सोये-सोये स्वप्न देखते हुए वे बाग़ों में, कुंजों में, पहाड़ों में अथवा किसी झील के किनारे घूमने का आनन्द लेते हैं? राजा के 'हाँ' में उत्तर देने पर भिक्षु कस्सप कहते हैं:

जब तुम्हारे जीवित होते हुए यदि कोई दूसरा यह नहीं देख सकता कि तुम्हारी आत्मा कब शरीर से बाहर जाती है और कब शरीर में फिर से प्रवेश करती है तो फिर तुम एक मृतक व्यक्ति की आत्मा (अनश्वर सारतत्त्व) को शरीर में प्रवेश करते हुए अथवा शरीर को छोड़ते हुए कैसे देख सकते हो? हे राजन्! इसे प्रमाण मानकर विश्वास कर लो कि आत्मा का अस्तित्व अवश्य है।[215]

भिक्षु कस्सप राजा को समझाते हुए कहते हैं:

हे राजन्! इन सबको स्थूल आँखों द्वारा नहीं देखा जा सकता जैसा कि तुम सोचते हो। वे श्रमण या ब्राह्मण जिन्होंने... दिव्य दृष्टि

विकसित कर ली है, वे अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा इस लोक को और परलोक को, शुद्ध आत्माओं को और उन जीवों को, जिन्होंने माता-पिता द्वारा जन्म धारण नहीं किया है, देख सकते हैं।[216]

आत्मा और निर्वाण

ईश्वर सम्बन्धी गूढ़ विषयों पर विस्तृत चर्चा न चाहते हुए भी महात्मा बुद्ध इस बात का संकेत देते हैं कि इस नश्वर संसार के अतिरिक्त एक और अवस्था है जिसे निर्वाण कहते हैं – यह एक अमर अवस्था है जो अनित्यता, दुःख और मृत्यु से परे है और जिसे प्राप्त करना हरएक का लक्ष्य है। इस प्रकार पालि धर्म साहित्य में महात्मा बुद्ध कहते हैं:

हे भिक्षु! वह अजन्मा, परिवर्तनरहित, अ-रचित और निराकार है।[217]

वह आगे स्पष्ट करते हैं:

वह अजन्मा, परिवर्तनरहित, अ-रचित और बिना गढ़ा हुआ है। यदि वह अजन्मा न होता... तो जन्म से, आवागमन से हुए और गढ़े हुए स्वरूपों से छुटकारा पाने का किसी को ज्ञान न होता।[218]

इस प्रकार महात्मा बुद्ध निर्वाण को एक पारलौकिक अवस्था मानते हैं जिसे मन तथा बुद्धि द्वारा पूरी तरह से समझा नहीं जा सकता, जिसे केवल प्रज्ञावान् स्वयं व्यक्तिगत रूप से अनुभव कर सकते हैं।[219]

आत्मा (आत्मन्) के साथ भी ऐसा ही है। नीचे दिये गये उद्धरण में महात्मा बुद्ध अदृश्य और अनन्त चेतना (विज्ञान) को एक अटल वास्तविकता के रूप में वर्णन करते हैं जो विनाशशील तत्त्वों से बने नाम और रूप के जगत् से भिन्न है। इसे जीवन की सामान्य चेतना (इसे भी

विज्ञान ही कहा जाता है) से भिन्न बताया गया है, जो निरन्तर बदलती रहती है और दु:ख का कारण है:

विञ्ञाणं अनिदस्सनं, अनन्तं सब्बतोपभं।
एत्थ आपो च पथवी, तेजो वायो न गाधति॥
एत्थ दीघं च रस्सं च, अणुं थूलं सुभासुभं।
एत्थ नामं च रूपं च, असेसं उपरुज्झति।

यह चेतना (विज्ञान) है जो अदृश्य है, अनन्त है और सर्वत्र प्रकाशमान है;
जहाँ पानी, पृथ्वी, अग्नि और हवा की पहुँच नहीं है,
जहाँ लम्बा और छोटा, अणु और स्थूल, शुभ और अशुभ का भाव,
नाम और रूप सहित नष्ट हो जाता है, कुछ भी अवशेष नहीं रह जाता;
चेतना (विज्ञान) के न रहने से यह सब नष्ट हो जाता है।[220]

प्रथम पंक्ति और अन्तिम पंक्ति में विज्ञान शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में नहीं हुआ है। पहली पंक्ति में जहाँ 'विज्ञान' को 'अदृश्य, अनन्त और सर्वत्र प्रकाशमान' कहकर वर्णन किया गया है, वह एक अवस्था है, जिसमें अन्तिम पंक्ति में वर्णित 'विज्ञान' का अस्तित्व नहीं रह जाता।

दूसरा 'विज्ञान' स्पष्ट रूप से सांसारिक चेतना के लिए प्रयुक्त हुआ है जो व्यक्तित्व का पाँचवाँ घटक है, क्योंकि निब्बान (निर्वाण) की अवस्था में सभी पाँच घटक समाप्त हो जाते हैं।[221]

अन्ततः एक *अर्हत्* (जिसे सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त हो जाता है) की सांसारिक चेतना दीपशिखा के समान बुझ जाती है और अभेद-अवस्था में आ जाती है। जिस प्रकार अग्नि तभी तक दिखाई देती है जब तक इसे

ईंधन प्राप्त होता रहता है, लेकिन जब ईंधन समाप्त हो जाता है, अग्नि बुझ जाती है अथवा दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार सांसारिक चेतना तभी तक कार्यशील रहती है जब तक इसे अन्य चार घटक आधार देने के लिए रहते हैं। जब व्यक्ति अन्य चार घटकों (तत्त्वों) से अलग हो जाता है तब विज्ञान या सांसारिक चेतना भी सक्रिय नहीं रहती, क्योंकि इसे आधार देने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता।

निर्वाण की अवस्था में सांसारिक विज्ञान निराधार (अप्रतिष्ठित) होने के कारण दिखाई नहीं देता। महात्मा बुद्ध प्रलोभक मार का हवाला देते हैं जो गोधिक और वक्कलि नाम के भिक्षुओं की मृत्यु के उपरान्त उनके विज्ञान की व्यर्थ खोज करता रहा।[222] मार अपने प्रयास में असफल रहा, क्योंकि वे भिक्षु परिनिब्बान (पूर्ण निर्वाण) प्राप्त कर चुके थे और उनके सांसारिक विज्ञान के लिए कोई आधार शेष नहीं था। 'उनकी चेतना अपने स्थूल आधार से मुक्त हो चुकी थी; उन्होंने पूर्ण निब्बान प्राप्त कर लिया था।'[223]

अदृश्य (अनिदस्सनं) अथवा आधारहीन (अप्पतिट्ठितं) विज्ञान का अर्थ है अलौकिक, अज्ञेय, भेदरहित और शुद्ध विज्ञान अथवा चेतना की वह अवस्था जिसकी तुलना बौद्धधर्म के अतिरिक्त बहुत-से अन्य भारतीय धर्मग्रन्थों में बताये गये आत्मन् या आत्मा के स्वरूप के साथ की जा सकती है।

उदाहरण के लिए, *बृहदारण्यक उपनिषद्* में इस *आत्मन्* को महान् सत्य माना गया है और "अनन्त, अपार तथा विज्ञानघन (चेतना के भंडार)"[224] के रूप में इसका उल्लेख किया गया है। आत्मन् को शुद्ध चेतना के रूप में देखा जाता है, क्योंकि यह अपने-आप में मन और माया की मलिनता से पूरी तरह मुक्त है। *श्वेताश्वतार उपनिषद्* में भी कहा गया है, "आत्मा अनन्त है और विश्वरूप है।"[225] साथ ही *मैत्रेयी उपनिषद्* के अनुसार, "उसकी प्रकाश की किरणें अनन्त हैं जो एक दीपक के समान हृदय में स्थित है।"[226]

परन्तु जैसा कि महात्मा बुद्ध ने कहा है कि आत्मा अथवा जीव को न तो देखा जा सकता है, न इसकी कल्पना की जा सकती है और न ही इसे समझा जा सकता है, क्योंकि आम तौर पर जिन्हें हम व्यक्तित्व के

पाँच दिखाई देनेवाले घटक समझते हैं, वे जीव (प्राणी) की वास्तविकता नहीं हैं। अपने वास्तविक स्वरूप को अथवा आत्मा को जानने के लिए मनुष्य को अपने अन्त:करण में गहरी डुबकी लगानी होगी और अपनी अन्तर्दृष्टि को जाग्रत करना होगा। इसी प्रकार *बृहदारण्यक उपनिषद्* में याज्ञवल्क्य जो कि वैदिक काल में भारत के एक प्राचीन ऋषि थे, अपनी पत्नी और सहयोगी विदुषी मैत्रेयी को उपदेश देते हैं:

> *मैत्रेयी, आत्मा को वास्तव में (अन्तर में) देखा जा सकता है, सुना जा सकता है, समझा जा सकता है और इसका ध्यान किया जा सकता है।*[227]

यह स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध ने हमारी सामान्य दृष्टि और सोच-समझ से परे की समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर देने से इनकार किया, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम उनके मौन का ग़लत अर्थ निकालें और यह कहें कि उन्होंने आत्मा (आत्मन्) के अस्तित्व को नकार दिया है – जिसे उपनिषदों में अमर (अमृतम्), अजन्मा (अजम्) और महान् (महानतम्) कहा गया है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति, परम सत्य का स्वरूप तथा आत्मा और शरीर के बीच के सम्बन्ध से जुड़े हुए प्रश्नों का उत्तर महात्मा बुद्ध ने नहीं दिया है। जैसा कि *बृहदारण्यक उपनिषद्* में मैत्रेयी को दिये गये उपदेश में याज्ञवल्क्य संकेत करते हैं कि जो भी पारलौकिक है, जैसे कि परमात्मा, आत्मा, परम सत्य और निर्वाण, उसकी केवल अन्तर में अनुभूति या साक्षात्कार हो सकता है। बौद्धिक स्तर पर न तो उसकी कल्पना की जा सकती है और न उसे समझा ही जा सकता है।

परमात्मा के प्रति बौद्ध दृष्टिकोण

इस संसार में आज तक जितने भी परम-ज्ञानी और अत्यन्त प्रभावशाली धर्मगुरु अवतरित हुए हैं, महात्मा बुद्ध को उनमें से एक माना जाता है। कुछ बौद्ध-विद्वानों और लेखकों ने उन्हें नास्तिक माना है। और इन

विद्वानों के कथन को आधार मानकर बहुत-से लोगों ने, जो बौद्धधर्म के अनुयायी नहीं हैं, यह विश्वास कर लिया है कि महात्मा बुद्ध ने परमात्मा के अस्तित्व को नकारा है। हालाँकि बहुत-सी अन्य धार्मिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक परम्पराओं में इस तथ्य पर बहुत अधिक बल दिया गया है कि परमात्मा का अस्तित्व है।

बुद्धत्व की प्राप्ति करनेवाले अथवा अन्तर्दृष्टि रखनेवाले दूसरे सन्त-महात्माओं का परम सत्य जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को लेकर ग़लत धारणा रखना अत्यन्त सन्देहजनक लगता है। सम्भव है कि बौद्धधर्म को माननेवाले और इसे न माननेवाले – दोनों ही जो कुछ कहते हैं, अपनी-अपनी जगह सही हों, परन्तु जो कुछ वे वास्तव में कहना चाहते थे, उसे कहीं बढ़ा-चढ़ाकर समझ लिया गया हो। वह विषय जिसकी कोई परिभाषा नहीं है और जो मनुष्य की सोच-समझ से परे है, उसके बारे में अपने विचारों को अलग-अलग ढंग से व्यक्त करने से भी भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है। सम्भव है कि 'परमात्मा' शब्द के प्रयोग में कुछ अस्पष्टताएँ रही हों? शायद इसीलिए बौद्धधर्म को माननेवाले और न माननेवाले – दोनों के बीच इस विषय पर आपसी मतभेद जैसा दिखाई पड़ता है। कभी-कभी अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग शब्दों के प्रयोग के कारण भी सतही तौर पर विचारों में मतभेद दिखाई पड़ता है, जबकि वास्तव में ये शब्द उस एक सत्य की ओर ही संकेत करते हैं।

बौद्धधर्म तथा इसके समकालीन साहित्य में परमात्मा का स्वरूप

चूँकि बहुतों के लिए परमात्मा का अस्तित्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है, अत: भारतीय दर्शन के विस्तृत प्रसंग में बौद्धधर्म का अध्ययन करने से हमें इस विषय को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिलेगी। बौद्धधर्म के आरम्भिक काल में परमात्मा के विषय में जो कहा गया है, उसकी तुलना उस समय के समकालीन साहित्य जैसे *उपनिषद्* और *भगवद्गीता* आदि में दिये गये परमात्मा सम्बन्धी कथनों से की जा सकती है। इससे हमें यह पता चल सकता है कि क्या दोनों परम्पराएँ

वास्तव में इस विषय पर पूरी तरह एक दूसरे के विपरीत अथवा परस्पर विरोधी हैं।

ऐसा माना जाता है कि पालि त्रिपिटक महात्मा बुद्ध के उपदेश का आरम्भिक विवरण है और बाद में यही बौद्ध-दर्शन के प्रारम्भिक स्वरूप के अधिकांश भाग का आधार रहा है। अत: आरम्भिक पालि धर्म साहित्य के अध्ययन द्वारा ही हमें निश्चित रूप से पता चल सकता है कि महात्मा बुद्ध को परमात्मा के अस्तित्व को नकारनेवाला क्यों कहा जाने लगा।

यह सर्वविदित है कि महात्मा बुद्ध पारलौकिक विषयों पर चर्चा करना पसन्द नहीं करते थे और उन्होंने अध्यात्म-सम्बन्धी दस प्रश्नों को टाल दिया जिनमें आत्मा से सम्बन्धित प्रश्न भी थे। परन्तु आत्मा से सम्बन्धित प्रश्नों के समान, महात्मा बुद्ध के अनुत्तरित प्रश्नों में परमात्मा सम्बन्धी प्रश्न नहीं हैं। महात्मा बुद्ध ने अपने समय में परमात्मा के सम्बन्ध में कुछ लोगों के बीच प्रचलित मत को पूरी तरह नकार दिया। नि:सन्देह, परमात्मा शब्द अनेकार्थक है और लोग कई प्रकार से इसका अर्थ लेते हैं। सौभाग्य से महात्मा बुद्ध ने जिस बात को नकारा है, उसे स्पष्ट भी किया है।

पालि धर्म साहित्य के *सुत्त पिटक* की पहली पुस्तक है *दीघ निकाय*। इसके *ब्रह्मजाल सुत्त* नामक प्रथम सुत्त में ही महात्मा बुद्ध स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार ब्रह्मा को परमात्मा माना जाने लगा। साथ ही साथ उन्होंने इस धारणा की त्रुटियों को भी उजागर किया जिसके अनुसार ब्रह्मा को सृष्टि का रचयिता माना जाता था। महात्मा बुद्ध ने यह भी बताया है कि किस प्रकार हर बार सृष्टि की रचना-प्रक्रिया के आरम्भ में, अपना जीवन काल अथवा पुण्य काल समाप्त होने पर दिव्य-लोक से एक प्राणी नीचे उतरता है और ब्रह्मा के सूने महल में जन्म लेता है।[228] वहाँ एक बहुत लम्बे समय तक अकेले रहने के बाद उसके भीतर इच्छा उत्पन्न होती है कि और प्राणी भी आकर उसके साथ रहें। और प्राणी भी अपना जीवन काल अथवा पुण्य काल समाप्त होने पर वहाँ जन्म लेते हैं। महात्मा बुद्ध के अनुसार सबसे पहले जन्म लेनेवाले प्राणी को इससे

यह भ्रम हो जाता है कि वह परमात्मा है, सृष्टि का रचयिता है, क्योंकि वह सोचने लगता है कि:

> मैं ब्रह्मा हूँ, महान् ब्रह्मा हूँ, सर्वोपरि हूँ, सर्वशक्तिमान् हूँ, सर्वदर्शी हूँ, सब पर शासन करनेवाला हूँ, सबका स्वामी हूँ, रचयिता हूँ, सृजनहार हूँ (इस्सरो कत्ता निम्माता), सर्वप्रमुख हूँ, सबका स्थान निर्धारित करनेवाला हूँ, नियन्त्रणकर्ता हूँ, जो हैं और जो आनेवाले हैं, मैं सबका पिता हूँ।[229]

> महात्मा बुद्ध कहते हैं कि इस भ्रम के कारण ही बाद में जन्म लेनेवाले प्राणी भी उसे रचयिता मान लेते हैं।[230]

महात्मा बुद्ध की इस व्याख्या से ब्रह्मा के रचयिता होने की धारणा तर्कहीन साबित हो जाती है। शायद यह मत उनके समय में प्रचलित रहा होगा कि ब्रह्मा प्रथम रचयिता थे।

महात्मा बुद्ध के अनुसार तब तो संसार की सभी बुराइयों की नैतिक ज़िम्मेदारी इस तथाकथित रचयिता, नियन्त्रणकर्ता अथवा परमात्मा पर ही आ जाती है। जैसा कि महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> ऐसे श्रमण और ब्राह्मण (ज्ञानी) हैं जिनकी यह धारणा है और जो विश्वास करते हैं कि मनुष्य अच्छा, बुरा या सामान्य, जो भी अनुभव करता है, वह सब परमात्मा द्वारा रचित कार्य होने के कारण ही होता है... यदि ऐसा है तो इसका अर्थ हुआ कि लोग हत्याएँ, चोरी, व्यभिचार आदि जो भी बुरे कर्म करते हैं, वे सब परमात्मा की सृष्टि-रचना के कारण ही होते हैं; वे परमात्मा की सृष्टि-रचना के कारण ही झूठ, फ़रेब और बेकार की बकबक में उलझे रहते हैं; परमात्मा की सृष्टि-रचना के कारण ही वे लालच, घृणा और मिथ्या विचारों के वशीभूत होते हैं।[231]

जातक कथाओं में, जो पालि धर्म साहित्य में बाद में शामिल की गयी रचनाएँ हैं, ऐसे ही तर्क देखने को मिलते हैं:

> *यदि परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टि के जीवन को बनानेवाला है – प्रतिष्ठा और पीड़ा, अच्छे और बुरे कर्म, तो मनुष्य केवल उसके आदेशों के अनुसार चल रहा है और इस प्रकार दोषी (केवल) परमात्मा ही है। (इस्सरो तेन लिप्पति)*[232]

संसार में बुराइयों के व्याप्त होने और परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास करने – इन दोनों के असामंजस्य को दिखलाते हुए *जातक* कथाओं में कहा गया है:

> *यदि ब्रह्मा सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी है और अनेक प्रकार के प्राणियों को बनानेवाला है तो उसने पूरे संसार में दुर्दशा का आदेश न देकर इसे एक सुखमय स्थान क्यों नहीं बनाया? उसने इस संसार में अन्याय, धोखा, झूठ-फ़रेब और अहंकार जैसी बुराइयाँ क्यों रखी हैं? फिर तो सभी प्राणियों का स्वामी बुराई का रूप है, क्योंकि उसने इस संसार में अधर्म का आदेश दे रखा है, जबकि यहाँ धर्म की स्थापना हो सकती थी।*[233]

इसके अतिरिक्त भी पालि धर्म साहित्य में बार-बार यह बताया गया है कि महात्मा बुद्ध ब्रह्मा से श्रेष्ठ हैं, जब कि ब्रह्मा को केवल यह भ्रम है कि वह परमात्मा है। उदाहरण के लिए, *दीघ निकाय* के *केवट्ट-सुत्त* में, सर्वज्ञ परमात्मा और सृष्टि के रचयिता होने का दावा करनेवाले ब्रह्मा के पास एक बौद्ध-भिक्षु इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए जाता है: – 'पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु – ये चारों तत्त्व अपने पीछे बिना कोई निशान छोड़े कहाँ लुप्त हो जाते हैं?' ब्रह्मा को भिक्षु के सामने यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसे इस विषय में कोई ज्ञान नहीं है। (वह अकेले में ऐसा

करता है ताकि उसकी अज्ञानता उसके दरबारियों के सामने प्रकट न हो जाये) और वह इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए भिक्षु को महात्मा बुद्ध के पास भेज देता है। महात्मा बुद्ध उस भिक्षु को अपने उत्तर से सन्तुष्ट करते हैं।[234]

दीघ निकाय के *पाथिक सुत्त* में हम यह भी देखते हैं कि ब्रह्मा के अतिरिक्त, ब्रह्मा से निचले स्तर के कुछ देवताओं को भी कुछ लोग सर्वज्ञ परमात्मा मानने लगे थे। महात्मा बुद्ध उनकी इस भूल को भी दरसाते हैं और स्पष्ट करते हैं कि वे उन सबसे अधिक ज्ञान सम्पन्न हैं, फिर भी उन्हें अपने ज्ञान पर कोई अभिमान नहीं है।[235]

पुन: *मज्झिम निकाय* के *ब्रह्मनिमन्तनिक सुत्त* में महात्मा बुद्ध बक-ब्रह्मा के लोक में जाते हैं और वहाँ ठहरते हैं ताकि वे उसे इस भ्रम से मुक्त कर सकें कि वह स्वयं और उसका लोक शाश्वत हैं। महात्मा बुद्ध की इस घोषणा से कि ब्रह्मा और उसका लोक नश्वर है, बक-ब्रह्मा अप्रसन्न होकर अपने को अदृश्य करने के लिए अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग करता है, पर वह ऐसा नहीं कर पाता। इस पर महात्मा बुद्ध, ब्रह्मा और उसके दरबारियों की उपस्थिति में अदृश्य होकर ब्रह्मा के सामने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं जब कि ब्रह्मा उन्हें ऐसा करने से रोकने का पूरा-पूरा प्रयास करता है। ब्रह्मा के दरबारी महात्मा बुद्ध का यह चमत्कार देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं।[236] आम तौर पर महात्मा बुद्ध अपनी इन दिव्य शक्तियों का प्रदर्शन नहीं करते, परन्तु यहाँ ऐसा केवल इसलिए करते हैं ताकि ब्रह्मा को अपनी सीमाओं और नश्वर-स्वरूप का ज्ञान हो सके।

महात्मा बुद्ध बक-ब्रह्मा के अतिरिक्त कई अन्य ब्रह्माओं का भी उल्लेख करते हैं, जैसे कि सहम्पति ब्रह्मा और सनतकुमार ब्रह्मा।[237] ऐसा कहा जाता है कि वास्तव में ब्रह्मा अनेक हैं और अलग-अलग स्तर के हैं। एक सहस्त्र, दो सहस्त्र, तीन सहस्त्र, दस सहस्त्र और एक लाख लोकों की व्यवस्था करनेवाले स्वामियों के रूप में अनेकों ब्रह्माओं का वर्णन आता है।[238] परन्तु सर्वोच्च ब्रह्मा भी काल की सीमाओं से बँधे हुए हैं और पुनर्जन्म के घेरे में हैं।

यह सत्य है कि देवताओं में सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले देवता ब्रह्मा का विचार कुछ *उपनिषदों* में भी वर्णित है, फिर भी इस बात को ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है कि ब्रह्मा को देवताओं में सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला देवता मानते हुए और अपने से नीचे के लोकों की रचना करनेवाला मानते हुए भी (अपने से उच्च लोकों की नहीं) बहुत-से उपनिषदों में 'ब्रह्मन्' का वर्णन किया गया है और इस 'ब्रह्मन्' को 'ब्रह्मा' से श्रेष्ठ माना गया है; इसी ब्रह्मन् को आम तौर पर ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और स्थिति का वास्तविक कारण अथवा आधार माना गया है।[239] देवताओं में सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा को रचयिता केवल इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे उच्चतर ईश्वरीय शक्ति 'ब्रह्मन्' के आदेश को पूरा करने में साधन का काम करते हैं। इसीलिए ब्रह्मा स्वयं अपने ज्येष्ठ पुत्र को 'ब्रह्मन्' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहते हैं। जैसा कि *मुण्डक उपनिषद्* में कहा गया है:

> *देवताओं में सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा सृष्टि की रचना करनेवाले और उसके प्रबन्धक हैं। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वण् को ब्रह्मन् के ज्ञान के विषय में कहा जो कि समस्त ज्ञान का आधार है।*[240]

फिर भी उपनिषदों में 'ब्रह्मन्' का वर्णन एक अवर्णनीय, अकथनीय और निराकर शक्ति के रूप में किया गया है, जो समस्त गुणों या लक्षणों से परे है।[241] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपनिषदों में ब्रह्मा को सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला देवता और इस मायिक संसार का रचयिता माना गया है, परन्तु वे बौद्धधर्म के साथ इस बात पर सहमत हैं कि 'ब्रह्मा' मूल शक्ति नहीं हैं और उनसे भी श्रेष्ठ कोई शक्ति है जिसे चाहे ब्रह्मन् कहा जाये या बुद्ध।

भगवद्गीता में भी यह कहा गया है कि 'ब्रह्मा' की उत्पत्ति अनश्वर अथवा परम शक्ति (ब्रह्मन्) से हुई है।[242] इस प्रकार यह स्पष्ट रूप

से कहा गया है कि वह परम शक्ति प्रथम रचयिता ब्रह्मा से कहीं श्रेष्ठ है।[243] भगवान् कृष्ण के विराट् स्वरूप में भी ब्रह्मा को, शिव तथा अनेक जीवात्माओं, ऋषि-मुनिओं तथा अलौकिक नागों* के साथ परमपिता परमात्मा में समाहित दिखाया गया है।[244] ब्रह्मा के लोक को प्राप्त कर लेने पर भी पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति नहीं मिल सकती।[245] इसके अतिरिक्त उस परमात्मा (ब्रह्मन्) को स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार, कारण, पिता और रचयिता कहा गया है।[246]

इस प्रकार ब्रह्मा के इस दावे को कि वह परम शक्ति है, वास्तविक रचयिता है, स्वयं परमात्मा है और सबका आधार है, न केवल महात्मा बुद्ध ने नकारा है, बल्कि *उपनिषदों* और भगवद्गीता ने भी इसे स्वीकार नहीं किया है। जब ब्रह्मा की बराबरी परमात्मा के साथ करना ही ग़लत है, तो फिर भूलवश ब्रह्मा को परमात्मा मानकर महात्मा बुद्ध अथवा बौद्धों द्वारा की गयी ब्रह्मा की आलोचना परमात्मा पर लागू नहीं होती। परमात्मा जो पारलौकिक वास्तविकता है, जो स्थान, समय और हेतु से परे है, जो कर्मों से अछूता है और इस नश्वर ब्रह्माण्ड तक ही सीमित नहीं है, उस परमात्मा के सम्बन्ध में यह समस्त आलोचना लागू ही नहीं होती।

बौद्धधर्म और उपनिषद् दोनों इस बात पर सहमत हैं कि ब्रह्मा परम शक्ति नहीं है किन्तु इस समस्या को दोनों अलग-अलग तरीक़े से प्रस्तुत करते हैं कि वह अनन्त करुणामय परम तत्त्व जिसे कुछ लोग परमात्मा कहते हैं, किस प्रकार एक ऐसे जगत् की रचना कर सकता है जिसमें बुराई विद्यमान हो। महात्मा बुद्ध सामान्यत: ब्रह्माण्ड-विषयक प्रश्नों पर इसलिए चर्चा नहीं करना चाहते, क्योंकि ऐसी सभी चर्चाएँ बौद्धिक स्तर पर समझी नहीं जा सकतीं और न ही व्यावहारिक रूप से इनका कोई लाभ है। उदाहरण के लिए, सृष्टि के आरम्भ और अन्त के विषय में वे कहते हैं:

> *सृष्टि का आरम्भ अकल्पनीय है, इसकी उत्पत्ति के पहले छोर (पुब्बाकोटि) का पता नहीं चल पाता।*[247]

---

* प्राणी जो बड़े नागों का रूप धारण कर लेते हैं।

अपनी विशाल आध्यात्मिक चेतना द्वारा महात्मा बुद्ध सृष्टि के आरम्भ अथवा मूल से सम्बन्धित किसी भी प्रश्न का उत्तर दे सकते थे। परन्तु इन प्रश्नों को अनावश्यक समझकर उन्होंने इनका उत्तर नहीं दिया, क्योंकि उनके विचार से इसकी तुलना में शिष्य द्वारा धर्म का पालन करना अधिक आवश्यक था। इससे हमें महात्मा बुद्ध के व्यावहारिक दृष्टिकोण का पता चलता है कि उन्होंने क्यों इन प्रश्नों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। जब एक श्रमण ने महात्मा बुद्ध से सृष्टि के आदि के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा:

> *मुझे अपने अनेक प्रकार के पूर्वजन्मों का स्मरण है, उदाहरण के लिए पहला जन्म, दूसरा जन्म... उनके जीवन का ढंग और उनके अनेकों रूपों का मुझे सविस्तार स्मरण है। इसलिए आदि (पुब्बनतम्) से सम्बन्धित कोई भी प्रश्न मुझसे पूछ सकते हो। मैं तुम्हें अपने उत्तर से सन्तुष्ट कर सकता हूँ। अथवा मैं किसी अन्य से आदि से सम्बन्धित प्रश्न पूछ सकता हूँ और वह मुझे इस सम्बन्ध में अपने उत्तर द्वारा सन्तुष्ट कर सकता है। अथवा इस संदर्भ में मैं उसे अपने उत्तर से सन्तुष्ट कर सकता हूँ... (इसी प्रकार हम अन्त से सम्बन्धित प्रश्नों पर एक दूसरे को सन्तुष्ट कर सकते है) परन्तु हे उदायिन्! आदि और अन्त से सम्बन्धित प्रश्नों को एक ओर छोड़ो, मैं तुम्हें धम्म का उपदेश देता हूँ।*[248]

इससे पता चलता है कि महात्मा बुद्ध द्वारा पारलौकिक विषयों से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर न देने का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण उनका व्यावहारिक दृष्टिकोण है। अपने मौन द्वारा उन्होंने स्वीकार किया है कि ये चर्चाएँ अनावश्यक और व्यर्थ हैं, क्योंकि गूढ़ विषयों पर चर्चाएँ करने और धारणाएँ बना लेने से अध्यात्म का अभ्यासी अपने असली कार्य, अर्थात् परमार्थ के मार्ग पर आगे बढ़ने से भटक जाता है। मनुष्य के मनोविज्ञान का ज्ञान रखते हुए अपनी अनन्त करुणा के कारण महात्मा बुद्ध ने यह

देख लिया था कि किस प्रकार थोड़ा-सा आध्यात्मिक अनुभव पा लेनेवाले जिज्ञासु दुविधा में पड़ जाते हैं और उन्हें ऐसे उत्तरों से कोई सहायता नहीं मिलती, जो मात्र धारणाएँ ही होती हैं। गूढ़ पारलौकिक विषयों पर चर्चाएँ करके अपने शिष्यों का समय और शक्ति बरबाद करने के बजाय उन्होंने अपने शिष्यों को यह सलाह दी कि वे अपने आप को पूरी तरह परमार्थी अभ्यास में लगायें, ताकि वे इस नश्वर और दुःखमय संसार से मुक्त हो सकें और पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकें, यानी निर्वाण की वह अवस्था प्राप्त कर सकें जो समय तथा स्थान और कार्य-कारण से परे है।

कार्य-कारण का सिद्धान्त

हालाँकि उपनिषदों में कहा गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति परम शक्ति ने की है, फिर भी बौद्धधर्म की तरह वे भी इस बात पर बल देते हैं कि यह परम शक्ति अच्छे-बुरे के द्वैत से परे है और इसे मनुष्य की बुद्धि द्वारा समझा नहीं जा सकता। पुनः बौद्धधर्म की तरह वे भी इस समस्या को सुलझाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझते हैं कि मनुष्य अपने आप को किस प्रकार द्वैतभाव से, बुराई से और दुःख से मुक्त कर सकता है।

यह समझने के लिए कि द्वैत से भरा यह संसार कार्य-कारण के सिद्धान्त के अनुसार कैसे चल रहा है, हमें कर्म सिद्धान्त (पालिः कम्म) को समझना होगा। जब हम कर्म सिद्धान्त को समझ लेते हैं तो हम यह जान जाते हैं कि किस प्रकार अच्छे-बुरे कर्म करनेवालों को अपने-अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है और क्यों मनुष्य अपने कर्मों के लिए ख़ुद ज़िम्मेदार हैं। अच्छाई-बुराई के इस लोक से परे जाने के लिए, जन्म-मरण के चक्र से, मृत्यु और दुःख से छुटकारा पाने के लिए क्यों मनुष्य को मुक्ति के मार्ग पर चलने की आवश्यकता है।

हमें याद रखना चाहिए कि बौद्धधर्म तथा अन्य भारतीय परम्पराओं में दो पूर्णतया अलग लोकों की धारणा को स्वीकार किया जाता है जिनकी परिस्थितियाँ एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। एक लोक नश्वर और दुःखों से भरा है, जबकि दूसरा लोक कालातीत और अविनाशी है। पहला लोक

जिसे संसार कहा जाता है, जन्म और मृत्यु का लोक है जो स्थान, समय और कार्य-कारण के सम्बन्ध से बँधा है और न्याय के सुनिश्चित नियम, यानी कर्म-सिद्धान्त द्वारा नियन्त्रित है। दूसरा लोक निर्वाण है जो जन्म से परे है और यह स्थान, समय और कार्य-कारण सिद्धान्त से परे तथा कर्म बन्धन से मुक्त है।

दोनों परम्पराएँ यह स्पष्ट करती हैं कि सम्पूर्ण गोचर ब्रह्माण्ड में कर्म सिद्धान्त व्याप्त है। महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> यह संसार कर्मों के कारण घूमता है,
> कर्म मानव जाति को नचाता है,
> जिस प्रकार धुरी रथ के घूमते हुए पहियों का आधार है,
> उसी प्रकार प्राणी कर्मों के आधार पर घूमता रहता है।[249]

उपनिषद् और भगवद्गीता में भी कर्म सिद्धान्त को इसी प्रकार समझाया गया है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* में कहा गया है:

> व्यक्ति जैसा कर्म करता है, जैसा व्यवहार करता है, वैसा ही बन जाता है। अच्छा कर्म करनेवाला अच्छा बन जाता है, बुरा कर्म करनेवाला बुरा बन जाता है। मनुष्य सत्कर्मों द्वारा सज्जन और दुष्कर्मों द्वारा दुर्जन बन जाता है।[250]

भगवद्गीता में भी कहा है:

> कहा जाता है कि
> अच्छे कर्मों का फल सात्त्विक और निर्मल ही होता है
> जबकि राजसिक का फल पीड़ा है
> और तामसिक का फल अज्ञान है।[251]

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि कर्म सिद्धान्त भौतिक जगत् में और स्वर्गीय लोकों में समान रूप से कार्यशील है:

> जिस प्रकार इस संसार में अर्जित किसी कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाला सुख स्थायी नहीं होता, उसी प्रकार परलोक में भी धार्मिक पुण्य-कर्मों द्वारा अर्जित किया हुआ स्वर्गिक सुख नष्ट हो जाता है।[252]

भगवद्गीता में यह बताया गया है कि प्रकृतियों* द्वारा भ्रमित हुए लोगों में 'मैं' का भाव विकसित हो जाता है और वे सोचने लगते हैं कि वे स्वयं ही सब कार्यों के कर्ता हैं।

> समस्त कार्य प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं,
> परन्तु अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाला व्यक्ति
> सोचता है, "मैं ही कर्ता हूँ।"[253]

> कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना
> एक पल के लिए भी नहीं रह सकता,
> प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा प्रेरित होकर
> सभी परवश हुए वैसा कर्म करते हैं।[254]

---

* मन तथा माया की मूलभूत प्रकृति जो अपने आप को अनेक भावों और कार्यों के रूप में प्रकट करती है और जो शरीर के विविध अंगों को भी प्रभावित करती है; इन प्रकृतियों की संख्या पच्चीस है और इनमें देह के पाँच तत्त्वों के पाँच मुख्य प्रकट रूप हैं। इस प्रकार 'प्रकृतियों द्वारा भ्रमित होने' का अर्थ है अपनी क्षणभंगुर नश्वर देह और व्यक्तित्व को सत्य समझने की भूल करना।

इस प्रकार जो लोग 'मैं-मेरी' के अहंकार के वश में होकर कर्म करते हैं, चाहे वे अच्छे हैं या बुरे अथवा अज्ञानता से भरे हैं, वे कर्म उन्हें कभी भी जन्म और मृत्यु के चक्कर से छुटकारा नहीं दिला सकते।

सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त कर्म सिद्धान्त के अधीन जो भी सुख-दुःख भोगना पड़ता है, उसके लिए अन्य कोई नहीं, बल्कि केवल हम ही उत्तरदायी हैं; क्योंकि हम पूरी तरह अपने सुख-दुःख के लिए ज़िम्मेदार हैं और हमें कर्म के नियम के अनुसार ही सुख-दुःख के अनुभवों से गुज़रना पड़ता है। महात्मा बुद्ध बड़े सरल तथा स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:

> *व्यक्ति जैसा करता है, वैसा ही फल भोगता है... प्राणी अपने कर्मों के उत्तराधिकारी हैं।*[255]

बौद्ध-विद्वान् संकेत करते हैं कि अपने जीवन की घटनाओं के लिए किसी पारलौकिक रचयिता को ज़िम्मेदार ठहराना हमारे नैतिक प्रोत्साहन और निजी प्रयास के लिए अहितकर है। ऐसे लोग एक धर्मपरायण जीवन जीने के लिए प्रयास करना छोड़ देते हैं और उसकी जगह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना का सहारा लेते हैं। *अंगुत्तर निकाय* में कहा गया है:

> *जो लोग इस बात को प्रमुखता देकर कि यह परमात्मा की बनायी गयी सृष्टि है, बैठे रहते हैं, उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इसके लिए न तो अन्तःप्रेरणा मिलती है और न वे प्रयास ही करते हैं।*[256]

पर भारतीय ईश्वरवादी परम्परा भी इस बात पर ज़ोर देती है कि अपने को प्रेरित करना आवश्यक है। सृष्टि के मूल आधार के रूप में परमात्मा में विश्वास होने का यह अर्थ नहीं है कि नैतिक प्रेरणा और निजी प्रयास का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि ये दोनों परमात्मा की कृपा का पात्र बनने के लिए बहुत आवश्यक हैं। परमात्मा तक पहुँचने का

मार्ग आलसी लोगों के लिए नहीं है; यह तो वीरों और लगनशील लोगों का मार्ग है। *ईशोपनिषद्* में बताया गया है:

> *अपने कार्य को सदा अपना कर्तव्य समझकर उसे करते हुए मनुष्य को सौ वर्ष तक जीने की कामना करनी चाहिए। अगर व्यक्ति इस प्रकार जीवन व्यतीत करता है तो कर्म उसे अपवित्र नहीं कर सकते।*[257]

भगवद्गीता में बताया गया है कि निष्काम भाव से कर्म करना ही पूजा है; भगवद्गीता में यह उपदेश दिया गया है:

> *अपने कर्मों द्वारा*
> *उसकी पूजा करते हुए*
> *मनुष्य सिद्ध को प्राप्त करता है।*[258]

भगवान् कृष्ण अपने शिष्य अर्जुन से कहते हैं:

> *तुम्हें केवल कर्म करने का अधिकार है,*
> *कभी भी फल-प्राप्ति का नहीं।*[259]

इस प्रकार बौद्धधर्म तथा ईश्वरवादी भारतीय परम्परा—दोनों के अनुसार, नैतिक नियमों का पालन तथा कठिन प्रयास किये बिना कोई भी परम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता।

परम तत्त्व तथा ब्रह्मन्

यह जानने के बाद कि बौद्धधर्म, उपनिषद् और भगवद्गीता सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मा परम तत्त्व नहीं है और हमें अपने कर्मों का उत्तरदायित्व लेते हुए अपनी दुर्बलताओं के लिए परमात्मा को दोषी नहीं ठहराना चाहिए, बल्कि स्वयं प्रयत्न करना चाहिए, अब हम

इस बात पर ध्यान दें कि किस प्रकार परम तत्त्व या पारलौकिक सत्य के बारे में बौद्धधर्म तथा *उपनिषदों* और भगवद्गीता में जो कुछ कहा गया है, उसमें समानता है।

उपनिषदों और भगवद्गीता में हमें ब्रह्मन् की भव्य और उत्कृष्ट धारणा देखने को मिलती है। ब्रह्मन् का क्षेत्र अविनाशी है और स्थान, समय, कारण-कार्य सिद्धान्त तथा कर्मों के नियम से परे है। अतः ब्रह्मा को लेकर की गयी सभी आलोचनाओं का उस परम सत्य पर कोई प्रभाव नहीं होता। उदाहरण के लिए, *छान्दोग्य उपनिषद्* में कहा गया है:

> *जिस प्रकार पानी कमल के पत्ते पर ठहर नहीं सकता, उसी प्रकार उसे (ब्रह्मन् को) जाननेवाले व्यक्ति पर बुरे कर्मों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।*[260]

केन उपनिषद् में ब्रह्मन् के प्रचलित मत में तथा उसके वास्तविक लोकोत्तर स्वरूप में अन्तर बताया गया है:

> *वह जिसे शब्दों द्वारा अभिव्यक्त न किया जा सके, परन्तु जिसके द्वारा शब्द अभिव्यक्त हों, उसे जान लो कि वही वास्तव में ब्रह्मन् है, न कि वह जिसकी लोग पूजा करते हैं। वह जिसका मन द्वारा चिन्तन न किया जा सके, परन्तु वह जिससे मन का चिन्तन किया जाता है, उसे जान लो कि वही वास्तव में ब्रह्मन् है, न कि वह जिसकी यहाँ लोग पूजा करते हैं।*[261]

इस परम तत्त्व की बात करते हुए *श्वेताश्वतार उपनिषद्* में कहा गया है:

> *वही एक परमात्मा है जो सभी प्राणियों में गुप्त है, सर्वव्यापक है, सभी प्राणियों का आन्तरिक आत्म-स्वरूप है, समस्त कार्यों को देखनेवाला, सभी प्राणियों में निवास करनेवाला, स्वयं साक्षी, ज्ञाता, अपने-आप में अकेला तथा गुणातीत है।*[262]

> *वह सूक्ष्म से सूक्ष्म, महान् से महान् है। वह आत्म-रूप में सबके हृदयरूपी गुफ़ा में निवास करता है। व्यक्ति उसे निश्चल रूप में देखता है और जब परमात्मा की कृपा से व्यक्ति उसे और उसके प्रभुत्व को देखता है, तब वह दुःखों से मुक्त हो जाता है।*[263]

ईशोपनिषद् में भी कहा गया है:

> *जिसने उस अद्वैत रूप को देख लिया है उसके लिए कैसा भ्रम, कैसा दुःख!*[264]

भगवद्गीता में भी उस परम सत्य को बताया गया है जो संसार के पाप-पुण्य से परे है:

> *सर्वव्यापक आत्मा*
> *किसी के पाप अथवा पुण्य को ग्रहण नहीं करता।*
> *अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है*
> *इसी से लोग भ्रमित होते हैं।*[265]

ब्रह्मन् को अकसर सृष्टि का कारण अथवा मूल आधार माना जाता है।[266] *उपनिषदों* में इस मूल आधार को अवर्णनीय, अकथनीय और अवैयक्तिक निराकर सत्य कहा गया है, जो सभी गुणों अथवा लक्षणों से परे है,[267] जिसका वर्णन करने के लिए शब्द अपर्याप्त हैं। ब्रह्मन् का संकेत केवल यह कहकर दिया जा सकता है कि वह क्या नहीं है: *नेति-नेति*।[268] मन इसे समझ नहीं सकता और शब्द इसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते। जैसा कि *तैत्तिरीय उपनिषद्* में कहा है:

जिसे प्राप्त किये बिना मन सहित वाणी चकित होकर लौट आती है, उस ब्रह्मन् के आनन्द को जो अनुभव करता है, वह भयमुक्त हो जाता है।[269]

नीचे दिये गये उपनिषदों से कुछ उद्धरण उस सत्य का वर्णन करते हैं जिसे ब्रह्मन् कहा गया है:

आदि में वस्तुतः ब्रह्मन् ही था।[270]

ब्रह्मन् शुद्ध चेतना और आनन्द है।[271]

वस्तुतः यह सब ब्रह्मन् ही है।[272]

भगवान् कृष्ण से उनके शिष्य अर्जुन ने पूछा कि उसका सर्वोत्तम हित किसमें है।[273] इस पर भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया:

मैं तुम्हें उसके विषय में बताता हूँ जो जानने योग्य है
और जिसे जान कर (ज्ञात्वा) अमर जीवन की प्राप्ति होती है।
वही परम ब्रह्मन् है, जो अनादि है और जिसे
न तो सत् और न असत् कहा जाता है।[274]

बौद्ध धर्मग्रन्थों में भी हमें सत्य के बारे में इसी प्रकार का वर्णन मिलता है – जो इन्द्रियों, मन और बुद्धि की पहुँच से परे है और साथ ही समय और स्थान की हमारी सामान्य धारणा की पहुँच से भी परे है। यह सत्य अज्ञेय और अवर्णनीय है, हमारी सोच-समझ और शब्दों से परे है। इस सत्य का न कोई नाम है, न कोई रूप, फिर भी महात्मा बुद्ध इसे एक अलौकिक मण्डल कहकर इसका संकेत देते हैं:

वास्तव में, वह एक ऐसा मण्डल है जहाँ न पृथ्वी है न जल, न अग्नि है न वायु, न आकाश है न चेतना... न सूर्य है न चन्द्रमा। इसे न

मैं जन्म लेनेवाला, मरनेवाला तथा स्थित रहनेवाला और न उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाला ही कहता हूँ।[275]

वहाँ न तारे चमकते हैं,
न ही सूर्य अपना प्रकाश बिखेरता है,
न वहाँ चन्द्रमा की चाँदनी है
न ही वहाँ कोई अन्धकार ही है।[276]

'निब्बान' के सम्बन्ध में एक ऐसा ही कथन हमें *मिलिन्दपञ्हा** में मिलता है:

'निब्बान' को कोई आकार, स्थान, काल अथवा माप के घेरे में नहीं लाया जा सकता – यह वह अवस्था है जो वास्तव में सत्य रूप है।[277]

बौद्ध धर्मग्रन्थों में उस परम अवस्था को ब्रह्मन् कहा गया है। ऐसा कहा जाता है कि जो निर्वाण प्राप्त कर लेता है वह ब्रह्मन् बन जाता है – 'ब्रह्मभूतो'†[278] – और जो पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह ब्रह्मन् से एकाकार हो जाता है, जैसा कि '*संयुत्त निकाय*' से लिये गये निम्नलिखित अंश में कहा गया है:

अहा! मोक्ष को प्राप्त हुए अरिहन्त ही वास्तव में आनन्द में हैं!
उनमें कोई तृष्णा नहीं है, उनका अहंभाव समूल नष्ट हो चुका है,

---

* 'खुद्दक *निकाय*' के केवल बर्मी भाषा के संस्करण में सम्मिलित एक पालि ग्रन्थ है।

† यहाँ 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो ब्रह्मन् के लिए है, इसे 'ब्रह्मा' नहीं समझना चाहिए जो कि निचले लोकों का रचयिता है।

दुविधा का जाल कट गया है। इस संसार से निर्लिप्त होकर वे ब्रह्मन् बन गये हैं (ब्रह्मभूतो)।[279]

स्वयं महात्मा बुद्ध के बारे में भी यह कहा गया है कि उन्हें ब्रह्मन् की प्राप्ति हो गयी थी—'ब्रह्मपत्त'।[280]

पालि धर्मग्रन्थों में स्पष्ट रूप से ब्रह्मन् को धर्म के समान माना गया है; इसीलिए ब्रह्मकाय और धर्मकाय को पर्याय कहा गया है। महात्मा बुद्ध वासेट्ट नाम के ब्राह्मण को स्पष्ट करते हैं कि जिसका तथागत में अटल और अचल विश्वास हो जाता है—दूसरे शब्दों में जिस व्यक्ति ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह ऐसा कह सकता है:

*मैं उस उत्कृष्ट महात्मा का सच्चा पुत्र हूँ, उसके मुख से जन्मा हूँ, धम्म से जन्मा हूँ, धम्म ने मुझे बनाया है, धम्म का उत्तराधिकारी हूँ। ऐसा क्यों है? हे वासेट्ट, क्योंकि तथागत की यही पहचान है: धम्मकाय, ब्रह्मकाय, धम्म रूप बन जाना, ब्रह्मा * रूप बन जाना।*[281]

यह कथन कि महात्मा बुद्ध स्वयं धम्म के साथ एकात्म हो गये हैं, ब्रह्मन् के साथ एकात्म हो गये हैं, पालि धर्म साहित्य में बार-बार दोहराया गया है।[282] इसमें कोई सन्देह नहीं कि *धम्मभूतो* और *ब्रह्मभूतो* अर्थात् धम्म के साथ एक होना और ब्रह्मन् के साथ एक होना, ये शब्द निब्बान की सर्वोच्च अवस्था की ओर संकेत करते हैं, क्योंकि इनके साथ पूर्ण ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था का संकेत देनेवाले कुछ और शब्द भी बार-बार प्रयोग किये गये हैं जैसे कि *चक्खुभूतो (चक्षुभूतो)* और *ञाणभूतो (ज्ञानभूतो)* अर्थात् आन्तरिक दृष्टि खुल जाना और अन्तर्ज्ञान प्राप्त होना।[283]

* यहाँ 'ब्रह्मा' का अर्थ है 'सर्वोच्च', यहाँ इसका प्रयोग इसलिए किया गया है, क्योंकि महात्मा बुद्ध ब्राह्मणों को सम्बोधित कर रहे हैं।

इसी प्रकार निब्बान की ओर ले जानेवाले अष्टांगिक मार्ग को *धम्मयान* अथवा *ब्रह्मयान* भी कहते हैं अर्थात् वह मार्ग जो धम्म अथवा ब्रह्मन् की ओर ले जाता है।[284] यह भी कहा जाता है कि ब्रह्मन् में निवास करना ही धम्म में निवास करना है।[285] और बुद्ध को धम्म या ब्रह्मन् के चक्र को प्रवर्तित करनेवाला कहा गया है।[286]

ब्रह्मन् और धम्म अथवा धम्मकाय जैसे शब्दों के अतिरिक्त हमें बौद्धधर्म में परम तत्त्व के लिए कुछ और शब्द भी मिलते हैं जो परम सत्य के निराकार होने का संकेत देते हैं। तथागत, निब्बान, बुद्धत्व, निष्प्रपञ्च, शून्यता, तथता, परमार्थ, भूत-कोटि, भूतता, अद्वैत और तत्त्व ऐसे ही कुछ शब्द हैं।[287]

बौद्धधर्म तथा अन्य भारतीय ज्ञान परम्पराएँ इस बात पर बल देती हैं कि मनुष्य द्वारा बोली जानेवाली कोई भी भाषा उस परम तत्त्व को पूरी तरह परिभाषित नहीं कर सकती, न उसका वर्णन कर सकती है और न ही उसके लक्षण बता सकती है। इसलिए उसे प्राय: अनामी कहा जाता है।

जो कुछ जाना या समझा जाता है, उससे परे जो लोकोत्तर चेतन शक्ति है, उसकी ओर इशारा करते हुए *माण्डूक्य उपनिषद्* में कहा गया है:

यह वह नहीं है जिससे आन्तरिक पदार्थों का बोध होता है, न ही वह है जिससे बाहरी पदार्थों का बोध होता है, न वह है जिससे दोनों का बोध होता है और न ही यह ज्ञान का भण्डार है। यह न तो ज्ञानात्मक है और न अज्ञानात्मक ही है। इसे न देखा जा सकता है, न इसका वर्णन किया जा सकता है, न ही इसे ग्रहण किया जा सकता है। इसका कोई विशेष लक्षण नहीं है, यह विचार से परे और अनामी है... यह वह है जिसमें सारा विश्व समाहित है। यह प्रशान्त, कल्याणकारी और अद्वैत है।[288]

माण्डूक्य उपनिषद् इस अलौकिक अवस्था को अनामी कहता है। जो वास्तव में सत्य है, जिसे नकारा नहीं जा सकता, फिर भी वह अवर्णनीय है।

जिसे हम साधारण अर्थ में जानना या वर्णन करना कहते हैं, उस अर्थ में न तो यह जाना जा सकता है और न इसका वर्णन ही किया जा सकता है।

बौद्ध धर्मग्रन्थों में उस शाश्वत सत्य का इसी प्रकार वर्णन किया गया है। नौवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् सरह, उस परम सत्य को परम-प्रभु कहते हैं और इस प्रकार उसका वर्णन करते हैं:

यह नाम और अन्य गुणों से परे है,
मैंने कहा है उसे चर्चाओं द्वारा नहीं जाना जा सकता,
तो फिर उस परम-प्रभु का वर्णन कैसे किया जाये?
यह एक कुमारी द्वारा आनन्द का अनुभव करने जैसा है।[289]

शब्दों की असमर्थता की ओर इशारा करते हुए सरह कहते हैं:

पूरा संसार शब्दों से तंग है,
और फिर भी ऐसा कोई नहीं है जो शब्दों के बिना कार्य कर सके,
परन्तु जो जितना ही शब्दों से मुक्त होता है
वास्तव में वह उतना ही शब्दों को समझ पाता है।[290]

द हेरोइक प्रोग्रेस सूत्र *(The Heroic Progress Sutra)* में उस "सूक्ष्म सारतत्त्व" को ऐसे ही शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है:

नाम अथवा वर्णन से परे वह सूक्ष्म सारतत्त्व पूर्ण रूप से स्पष्ट है।[291]

सरह आगे कहते हैं कि शब्दों तथा नामों द्वारा उत्पन्न सभी भ्रमों और विरोधों को समाप्त करने का एक ही तरीक़ा है, और वह है – सत्य के आनन्द का अनुभव करना।

मैं ग्रन्थ का पाठ किया करता था...
परन्तु मैंने अमृतपान किया और उसे भूल गया।
अब मुझे केवल एक ही शब्द याद है।
और मेरे मित्र, मैं उसका नाम नहीं जानता।[292]

महायान बौद्धधर्म में इस अनामी सत्य के लिए आम तौर पर दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये शब्द हैं 'तथता' और 'शून्य'। दोनों शब्द इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि वह शाश्वत सत्य 'जैसा है वैसा ही है' – वह किसी भी नाम, रूप अथवा लक्षण से परे है। ज़ंजीरो ताकाकुशु का, जो बौद्धधर्म के प्रसिद्ध जापानी विद्वानों में से एक हैं, यही सन्देश है। 'तथता' के बारे में ताकाकुशु कहते हैं:

महायान में परम सत्य को तथता कहा गया है... जो कुछ भी अस्तित्व में है, उसके वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में बौद्धधर्म का उपदेश है कि उसका मूल आधार तथता ही है।[293]

'तथता' ही एकमात्र शब्द है जिसे उस अवर्णनीय तथा अनामी परम तत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है।[294]

शून्य के सम्बन्ध में वे कहते हैं:

नकारात्मक दृष्टिकोण से शून्य का अर्थ है 'रिक्तता' परन्तु सकारात्मक दृष्टिकोण से इसका अर्थ है... 'बिना किसी विशेष लक्षण के'... वह बिना किसी नाम के (अख्याति) और बिना किसी लक्षण के (अलक्षण) है।[295]

अब हम दृढ़तापूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बौद्धधर्म के आरम्भिक और बाद के धर्मग्रन्थों में दिया गया निराकर परम सत्य का जो विचार है, उसमें तथा आरम्भिक भारतीय ज्ञानधाराओं के प्रमुख ग्रन्थों में दिये गये उस परम सत्य से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों में बहुत अधिक समानता है। अगर कोई यह तर्क देता है कि इन विचारधाराओं से लिये गये उद्धरणों में से कुछ प्रचलित शब्द या नाम ऐसे हैं जिनके अर्थ में थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है, तो भी इस प्रकार के कुछ अन्तर होने से इन विचारों की मूलभूत समानता में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो सकता।

उस अनामी सत्य के बारे में जब इस प्रकार की समानताएँ सामने आती हैं तो लगता है कि वह सत्य समय, स्थान, देश, संस्कृति, परम्परा, जाति और धर्म की सीमाओं से कहीं ऊपर है। हर काल और स्थान के सन्त-महात्मा सत्य के आन्तरिक स्रोत में गहरी डुबकी लगाते हैं और एक ही अमर पथ का वर्णन करते हैं, भले ही उनका उपदेश अपने-अपने समय और स्थान की परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग परिकल्पनाओं द्वारा अभिव्यक्त किया गया हो।

यहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि पूरी लगन से सत्य की खोज करनेवाले जिज्ञासुओं को सही मार्ग दिखलाने के लिए एक ज्ञान सम्पन्न और करुणामय बुद्ध की आवश्यकता पर बार-बार बल दिया गया है।

क्या परमात्मा का साकार रूप है?

बौद्धधर्म और अन्य भारतीय ज्ञानधाराओं में जिस प्रकार परम सत्य को समझा गया है, उसका अध्ययन करने के बाद अब हम इस विषय पर चर्चा कर सकते हैं कि क्या उस निराकार परम सत्य का साकार परमात्मा की धारणा से विरोध है या नहीं।

उपनिषद् और भगवद्गीता तथा विश्व के विभिन्न भागों में प्रचलित आध्यात्मिक परम्पराओं ने उस लोकोत्तर परम सत्य का निराकार तथा साकार दोनों रूपों में वर्णन किया है – जिस प्रकार ब्रिटिश लेखक एलडस

हक्सले ने ईश्वर और ईश्वरत्व में भेद किया है। ईश्वर से अभिप्राय है साकार रचयिता या प्रभु और ईश्वरत्व का अर्थ है निराकार परम सत्य। यह एक रोचक बात है कि किस प्रकार वह परम सत्य साकार और निराकार रूप में देखा जा सकता है।

बौद्धधर्म के प्रसिद्ध विद्वान डी.टी.सुज़ूकी ने धर्मकाय को ईसाई मत में वर्णित ईश्वरत्व के समान माना है।[296] ईश्वरत्व उस अवर्णनीय और अज्ञेय परम शक्ति की धारणा है जिसे बिना व्यक्तिगत बनाये और मानवीय स्तर पर वर्णन किये संकेतित किया जाता है। पर यदि उस अवर्णनीय शक्ति को केवल निराकार रूप में ही बताया जाये – जैसे धर्मकाय – तो उस स्थिति में शारीरिक सीमाओं के साथ संघर्ष करने में फँसे मनुष्य उसे समझ नहीं सकते। यद्यपि बौद्धधर्म अपनी परिशुद्धता का निर्वाह करते हुए उस परम सत्य को साकार रूप में स्वीकारने के लिए तैयार नहीं दिखता, फिर भी अपने व्यावहारिक दृष्टिकोण से वह साकार और अत्यन्त करुणामय बुद्ध को उस परम सत्य से एकरूप मानता है। बौद्धधर्म के इसी दृष्टिकोण की ओर संकेत करते हुए डी.टी.सुज़ूकी कहते हैं:

> *बुद्धत्व का सार रूप धर्मकाय है परन्तु जब तक बुद्ध अपने सार रूप में बने रहते हैं, तब तक जीवों से भरे इस संसार में निर्वाण की कोई आशा नहीं कर सकता। बुद्ध को अपना मूल धाम छोड़ना होगा और ऐसा रूप धारण करना पड़ेगा जो इस धरती पर रहनेवाले प्राणियों को ग्राह्य हो और जिसे वे समझ सकें। शब्द परम बुद्धत्व से प्रकट होता है और केवल वे ही इसे देख सकते हैं जो अपने पूर्व जन्म के संस्कारों द्वारा इसे देखने के लिए तैयार हैं।*[297]

हमने यह पहले ही कहा है कि किस प्रकार वह अवर्णनीय शक्ति बुद्ध के रूप में मानव-देह धारण करती है। अब हम कुछ उदाहरणों

द्वारा देखेंगे कि बौद्धधर्म ने उस करुणामय शक्ति को किस प्रकार प्रस्तुत किया है।

हम देखेंगे कि बौद्धधर्म में तथागत का कई स्थानों पर पिता, आदि कारण, मूल, सृष्टि का आधार और सबके स्वामी के रूप में वर्णन किया गया है। यह संकेत देते हुए कि दया तथा करुणा के उद्देश्य से तथागत बार-बार इस संसार में आते रहे हैं, *लोटस सूत्र* में कहा गया है:

> वह (बुद्ध) सदैव इस संसार में आते रहते हैं और परिस्थितियों के अनुसार अपना कार्य करते हैं। वह वास्तव में परमप्रभु हैं, धर्म के स्वामी और इस संसार में भी सर्वोच्च स्वामी हैं।[298]

एक अन्य पद्यांश में बोधिसत्त्वों को सम्बोधित करते हुए तथागत अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करते हैं:

> मैं लोकपिता हूँ, स्वयंभू हूँ, अज्ञानता के रोग का उपचार करनेवाला और सभी प्राणियों का रक्षक हूँ।[299]

सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र) के प्रसिद्ध अंग्रेज़ी अनुवादक और पाश्चात्य जगत् में इस धर्मग्रन्थ का सबसे पहले अध्ययन करनेवाले एच. कर्ण कहते हैं:

> मेरी समझ में इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि *सद्धर्म पुण्डरीक* शाक्य मुनि (महात्मा बुद्ध) को परमात्मा, देवों के देव, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ के रूप में स्थापित करना चाहता है।[300]

बौद्धधर्म ने इस तथ्य को भी स्वीकारा है कि एक आदिकालीन रचनात्मक शक्ति है। जैसा कि बौद्धधर्म के तिब्बती नियंग्मा विचारधारा के एक अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् लाँगचेनप्पा (1308-1364) अपनी पुस्तक, *द ज्यूल शिप: अ गाइड टू द मीनिंग ऑफ़ प्योर एण्ड टोटल प्रेसेंस,*

द क्रिएटिव एनर्जी ऑफ़ द यूनिवर्स (The Jewel ship: A Guide To The Meaning Of Pure And Total Presence, The Creative Energy Of The Universe) में लिखते हैं:

> सुनो, चूँकि तीनों लोकों के तुम सब प्राणी मेरे द्वारा रचे गये हो; मैं सृष्टि की सृजनात्मक शक्ति हूँ, तुम मेरी सन्तान हो, मेरे समान हो, क्योंकि तुम मुझसे अलग नहीं हो, मैं तुममें प्रकट हूँ।[301]

एडवर्ड कॉन्ज़ लिखते हैं:

> कुछ बौद्ध विद्वानों ने अपने धर्मविज्ञान में स्पष्ट रूप से आदि-बुद्ध की धारणा को प्रस्तुत किया है। आदि-बुद्ध एक प्रकार से सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ आदि-बुद्ध हैं जिन्होंने ध्यानस्थ होकर इस सृष्टि को उत्पन्न किया।[302]

यह कहा जा सकता है कि आदि-बुद्ध की *भगवद्गीता* में वर्णित आदि-देव अथवा पुराण पुरुष की धारणा से समानता है।[303] आदि-बुद्ध या आदि-युगीन बुद्ध को समन्तभद्र अथवा सर्वकल्याणकारी भी कहा जाता है और उन्हें 'सबका आधार' माना जाता है जैसा कि *द गुड विशेस ऑफ़ द ऑल गुड बुद्ध समन्तभद्र (The Good Wishes Of The All- Good Buddha Samanta-Bhadra)* में कहा गया है:

> सबका आधार अ-रचित, अमिश्रित, स्वतन्त्र तत्त्व है जो मानसिक धारणा और शाब्दिक परिभाषा से परे है।[304]

अवतंसक सूत्र में कहा गया है:

> जिस प्रकार सभी लोकों में
> सभी ठोस तत्त्वों का

कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है
फिर भी वे सर्वत्र हैं,
इसी प्रकार बुद्ध-काय
अनेक शारीरिक रूपों में
बिना आवास अथवा उत्पत्ति-स्रोत के
सभी लोकों में व्याप्त है।[305]

इस सत्य की जो तथागत, धर्मकाय अथवा ऊपर वर्णित सबका अ-रचित मूल आधार है – दो मुख्य विशेषताएँ हैं: अपार करुणा और असीम प्रज्ञा। इन विशेषताओं के कारण यह मनुष्य देह धारण कर धरती पर अवतरित होता है ताकि वह इस धरती के निवासियों को सच्चा ज्ञान दे सके और उन्हें अनन्त दुःखों से बचा सके। अपार करुणा और असीम प्रज्ञा, ये दोनों ही इस संसार में अवतरित होनेवाले बुद्ध अथवा तथागत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। इस प्रकार हम उस परम सत्य के साकार और निराकार रूप के परस्पर सम्बन्ध को देखते हैं।

बाद के बौद्धधर्म में ये विशेषताएँ दो भिन्न ईश्वरीय विभूतियों में आरोपित कर दी गयीं, जिनके नाम अवलोकितेश्वर और मन्जुश्री हैं। एडवर्ड कॉन्ज़ स्पष्ट करते हैं कि अवलोकितेश्वर का अर्थ है 'ऐसी विभूति जो इस संसार में दुःख भोगते हुए प्राणियों को करुणाभरी दृष्टि से देखे।' कॉन्ज़ ने आगे कहा है कि जहाँ अवलोकितेश्वर करुणा की मूर्ति हैं, वहाँ मञ्जुश्री, जो अवलोकितेश्वर के समान ही लोकप्रिय हैं, प्रज्ञा के मूर्तरूप हैं।[306]

बौद्धधर्म और *उपनिषद्* दोनों में उस परम सत्य के लिए विज्ञान (चेतना) शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए *बृहदारण्यक उपनिषद्* में कहा गया है:

ब्रह्मन् विशुद्ध विज्ञान (चेतना) और आनन्द है।[307]

तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ब्रह्मन् के विषय में ऐसा ही कहा गया है:

ब्रह्मन् सत्य, ज्ञान और अनन्त है।[308]

पुनः यह कहा गया है:

एकमात्र ब्रह्मन् ही है जो सत्, चित् (चेतन) और आनन्द का स्वरूप है।[309]

इसी प्रकार लामा थूबेन येशे (1935–1984 ईसवी) ने अपनी पुस्तक *रीइनकारनेशन (Reincarnation)* में सत्य और चेतना की एकरूपता का वर्णन किया है। वे कहते हैं:

तिब्बती व्याख्या इस प्रकार है: सत् और चित् (चेतन) एक दूसरे के पूरक हैं। ये दोनों पूर्णतया एक हैं।

ईसाई भी तो परमात्मा का वर्णन सर्वव्यापी कहकर ही करते हैं। वास्तव में परमात्मा सर्वव्यापक है, वह पूरी तरह से, सम्पूर्ण रूप में सत् है। ऐसा ही कहा जाता है।

और बौद्धधर्म में यह कहा गया है कि चेतना सर्वव्यापी है; यह अन्दर और बाहर से, पृथ्वी के अन्दर और आकाश में, जो कुछ भी है, सबमें समायी हुई है। अतः इस सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे चेतना द्वारा नहीं समझा जा सकता।[310]

बौद्धधर्म में निराकार तत्त्व जो कि तथागत या धर्मकाय है, इस संसार में बार-बार मानव देह धारण करके प्रकट होता है। हमने इस विषय की पुष्टि के लिए इस भाग में पहले ही *सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र)* से कुछ पद्यांश उद्धृत किये हैं। उसी पद्यांश में महात्मा बुद्ध ने इस संसार में भविष्य में प्रकट होनेवाले बहुत-से बुद्ध-महात्माओं का वर्णन किया है।[311]

इसी प्रकार डी.टी.सुज़ूकी द्वारा *लंकावतार सूत्र* पर लिखित ग्रन्थ में हम पाते हैं:

बुद्ध के (धर्मकाय के रूप को)...
ऐसा स्वरूप धारण करना पड़ेगा
जो इस धरती पर रहनेवाले प्राणियों को ग्राह्य हो
और जिसे वे समझ सकें।[312]

यदि कोई व्यक्ति वास्तव में परम तत्त्व को समझना चाहता है तो इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके साथ उसकी तुलना की जा सके। उसे जानने या समझने की एकमात्र विधि है – साक्षात् रूप से स्वयं इसका अनुभव करना। अत: महात्मा बुद्ध ने वास्तविक सत्य की स्वयं अनुभूति करने और उसकी अपने अन्तर में पुष्टि करने पर बहुत अधिक बल दिया है:

आओ और स्वयं देखो, अर्थात् यह स्वयं अनुभव करने का विषय है जिसे ज्ञानीजन व्यक्तिगत रूप से अपने अन्तर में अनुभव या साक्षात्कार करते हैं।[313]

7

प्रज्ञावान् गुरु

बौद्धधर्म का दृष्टिकोण

आध्यात्मिक गुरु के बारे में बौद्धधर्म का क्या दृष्टिकोण है, इसकी छानबीन करने से पहले 'धर्म' शब्द के अर्थ की समीक्षा करना उचित होगा क्योंकि 'धर्म' बौद्ध-दर्शन का मूल आधार है। इसके कई अर्थों में से तीन अर्थ स्पष्ट हैं:

पारमार्थिक दृष्टि से धर्म का पहला अर्थ है परम सत्य, वह सर्वोच्च शक्ति जो शाश्वत है, अ-रचित और अप्रकट है। इसे धर्मकाय भी कहते हैं।

इसका दूसरा अर्थ है 'धर्म' का बुद्ध के रूप में अपने आप को इस संसार में प्रकट करना जिसे बौद्धधर्म की महायान विचारधारा में 'निर्माणकाय' (रचित शरीर) कहा गया है। इसी कारण धर्म को बुद्ध का सारतत्त्व कहा गया है। बुद्ध धर्मकाय से अवतरित होते हैं और इस संसार में अपने आने का उद्देश्य पूरा करके पुन: धर्मकाय में ही समा जाते हैं।

तीसरी, व्यावहारिक दृष्टि से धर्म को साधन भी कहा जाता है – वह सच्चा या शाश्वत पथ अथवा मार्ग – जिसका ज्ञान केवल बुद्ध-महात्माओं को है और वे ही इसका उपदेश भी देते हैं। यह मार्ग स्वाभाविक रूप से मूल, पारमार्थिक सत्य यानी 'धर्मकाय' तक पहुँचाता है।

इस प्रकार धर्म को तीन अर्थों में लिया जा सकता है: पारमार्थिक सत्य, इसका प्रकट बुद्ध रूप, अर्थात् परम सत्य का मानव-शरीर धारण करना और वह साधन अथवा शक्ति जिसके द्वारा लोग पूर्ण ज्ञान के लक्ष्य को प्राप्त कर सकें।

आरम्भिक पालि धर्म साहित्य में इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि धर्म ही बुद्ध की वास्तविक प्रकृति अथवा सारतत्त्व है। महात्मा बुद्ध ने इसमें स्वयं कहा है कि उन्हें एक मनुष्य मात्र समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। धर्मकाय का साकार रूप होने के कारण धर्म ही उनका वास्तविक रूप है, जैसा कि वे अपने शिष्य वक्कलि से कहते हैं:

> *वक्कलि! इस नश्वर शरीर में क्या रखा है? जो धम्म को देखता है, वह मुझे देखता है; जो मुझे देखता है, वही धम्म को देखता है। वक्कलि! धम्म को देखते हुए वह मुझे देखता है, और मुझे देखते हुए वह धम्म को देखता है।*[314]

परवर्ती महायान धर्मग्रन्थ *अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता(The Perfection of Wisdom Sutra in Eight Thousand Lines)* में महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *धर्मकाय ही बुद्ध है, वही स्वामी है। परन्तु हे भिक्षुओं! तुम्हें यह नहीं सोचना चाहिए कि यह शरीर ही मेरा स्वरूप है। हे भिक्षुओं! तुम्हें यह जानना चाहिए कि धर्मकाय की प्राप्ति ही मेरी प्राप्ति है।*[315]

वास्तव में हमारे अपने मूल स्वरूप और बुद्ध के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। धर्म हमारा सारतत्त्व और असली स्वभाव भी है, परन्तु हम यह नहीं जानते कि इस सत्य का अनुभव कैसे करें। जिसे हम आम तौर पर अपना आत्म रूप समझते हैं, वह सत्य नहीं है। जिसे हम अपने

व्यक्तिगत अस्तित्व का इतिहास समझते हैं, वह हमारी वास्तविकता पर चढ़ा हुआ एक अस्थायी आवरण मात्र है।

धर्म अथवा परम सत्य को अद्वैत माना गया है। इसके साथ एकात्म होने पर द्वैत का भ्रम समाप्त हो जाता है, अहंकार नष्ट हो जाता है तथा 'मैं' और 'तू' का भेद मिट जाता है। *वज्रछेदिका प्रज्ञापारमिता (डायमंड सूत्र)* में से नीचे दिये गये पद की अन्तिम दो पंक्तियों में संकेत मिलता है कि कर्ता-कार्य अथवा ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत भाव से परे जाने पर ही धर्म का साक्षात्कार हो सकता है:

> *धर्म द्वारा ही बुद्ध को देखें;*
> *धर्मकाय ही उनके उपदेश का स्रोत है।*
> *तथापि धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा नहीं जा सकता*
> *और कोई भी इसे ज्ञेय रूप में नहीं जान सकता।*[316]

डी.टी.सुजूकी कहते हैं कि संसार के लोगों की मुक्ति के लिए बुद्ध को उस परम सत्य धर्मकाय से भौतिक स्तर पर उतरना होगा। सुजूकी पश्चिमी विचारधारा के ईसाई मत के साथ इसकी समानता को सामने लाते हैं:

> *हम ईसाई-धर्म में ईश्वरत्व की धारणा की तुलना धर्मकाय से कर सकते हैं।...बुद्धत्व का सार धर्मकाय है परन्तु जब तक बुद्ध अपने सार रूप में रहते हैं, तब तक जीवों से भरे इस संसार से निर्वाण (मुक्ति) की कोई आशा नहीं कर सकता। बुद्ध को अपना मूल धाम छोड़ना होगा और उस रूप में अवतरित होना होगा जो इस धरती पर रहनेवाले प्राणियों को ग्राह्य हो और जिसे वे समझ सकें। शब्द परम बुद्धत्व से ही प्रकट होता है और केवल वे ही इसे देख सकते हैं जो अपने पूर्व जन्मों के संस्कारों द्वारा इसे देखने के लिए तैयार हों।*[317]

इतिहास प्रसिद्ध महात्मा बुद्ध उस परम सत्य धर्मकाय के साकार रूप थे। वे धर्मकाय से प्रकट हुए और अपना वास्तविक धर्म-स्वरूप पहचानकर उन्होंने दूसरों को भी उस परम सत्य तक पहुँचने का उपदेश दिया और पुनः वापस धर्मकाय में ही समा गये। महात्मा बुद्ध इस संसार में केवल लोगों को मुक्त करने के लिए आये थे, जैसा कि वे कहते हैं:

> *मैं तथागत हूँ, कृतार्थ हूँ, अजेय हूँ। मैंने दूसरों के उद्धार के लिए इस संसार में जन्म लिया है।*[318]

प्रारम्भिक बौद्धधर्म के अनुसार गौतम बुद्ध से पहले जो बुद्ध महात्मा अवतरित हुए, उन्होंने भी वही कार्य किया जो गौतम बुद्ध ने किया। महायान बौद्धधर्म में ऐसे असंख्य बुद्ध-महात्माओं के बारे में चर्चा की गयी है जो इस संसार के पीड़ित प्राणियों के प्रति अपार करुणा से भरकर धर्मकाय से यहाँ प्रकट हुए और दया एवं करुणा का अपना उद्देश्य पूरा करने के बाद धर्मकाय में समा गये।

चूँकि सभी बुद्ध अथवा ज्ञान सम्पन्न गुरु उसी एक परम सत्य से प्रकट होते हैं, अतः वे सब वास्तव में एक ही हैं। इसलिए अगर कोई अपने समय के बुद्ध महात्मा की शरण में जाता है तो समझो वह सभी बुद्ध-महात्माओं की शरण में आ गया है। यही कारण है कि शान्तिदेव ने अपने गुरु की शरण में जाते हुए कहा कि वह सभी बुद्ध-महात्माओं की शरण में जा रहे हैं:

> *आज के दिन मैं उन विजेताओं (बुद्धों) की*
> *शरण में जा रहा हूँ जो पूरे ब्रह्माण्ड के समर्थ स्वामी हैं,*
> *सभी भय का नाश करनेवाले हैं*
> *और इस संसार की रक्षा करने के लिए तत्पर हैं।*[319]

यहाँ इस बात की ओर भी ध्यान देना होगा कि महात्मा बुद्ध किसी नये धर्म के संस्थापक नहीं थे, परन्तु वे पुरातन तथा शाश्वत धर्म को

खोजनेवाले और उसका प्रचार करनेवाले थे। सत्य सदैव अपरिवर्तनशील रहता है तथा इसकी ओर ले जानेवाला मार्ग भी सदैव एक ही रहता है। यद्यपि सिद्धार्थ गौतम के रूप में धरती पर अवतरित होनेवाले महात्मा बुद्ध से न तो धर्म की शुरुआत हुई और न ही वे इसका आधार हैं, परन्तु धर्म का प्रकाशन निश्चित रूप से उनके द्वारा हुआ। वे एक माध्यम थे जिनके द्वारा उन लोगों को धर्म का ज्ञान हुआ जो उनके सम्पर्क में आये। धर्म को प्रकट करने और उसका उपदेश देने के लिए हमें बुद्ध अथवा बोधिसत्त्व * की आवश्यकता होती है और धर्म अपने प्रकाशन के लिए बुद्ध अथवा बोधिसत्त्व पर निर्भर करता है।

पालि भाषा के आरम्भिक धर्म साहित्य में महात्मा बुद्ध यह तथ्य सामने लाते हैं कि धर्म को 'देखना और समझना' बहुत कठिन है क्योंकि यह सामान्य बुद्धि और तर्क से परे है। परन्तु साथ ही वे यह भी कहते हैं कि धर्म के अपने साक्षात् अनुभव के आधार पर ही उन्होंने दूसरों को उपदेश दिया है:

> *यह दूसरा (अलौकिक) धम्म गूढ़ है, इसे देखना और समझना कठिन है, यह प्रशान्त है, श्रेष्ठ है, बुद्धि से परे है, तथा सूक्ष्म है। इसे केवल प्रज्ञावान् ही समझ सकते हैं, इसका स्वयं अनुभव और साक्षात्कार प्राप्त करके तथागत इसका उपदेश देते हैं।*[320]

जो पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं और अपने जीवन के उद्देश्य को पूरा करना चाहते हैं, उन्हें अपने समय के प्रबुद्ध गुरु की शरण में

---

* एक बोधिसत्त्व (पालि: बोधिसत्त) – 'पूर्ण ज्ञान प्राप्त जीवात्मा' – यह नाम उसे दिया जाता है जिसके भीतर अपार करुणा से प्रेरित होकर सभी जीवित प्राणियों के कल्याण के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने की आन्तरिक इच्छा जाग्रत होती है। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की होती है कि वे तब तक जन्म-मरण के चक्र से बाहर नहीं आयेंगे जब तक अन्य सभी चेतन प्राणी निर्वाण प्राप्त नहीं कर लेते।

जाना चाहिए, जैसा कि आठवीं शताब्दी के एक महासिद्ध अनंगवज्र ने *प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि* में कहा है:

> इसलिए एक विवेकशील मनुष्य को एक सच्चे गुरु की शरण में जाना चाहिए क्योंकि पूर्ण गुरु की शरण प्राप्त किये बिना करोड़ों युगों तक भी सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। और सत्य का ज्ञान प्राप्त किये बिना परम लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता, जैसे बिना बीज के बढ़िया से बढ़िया खेत में भी पौधा उगाया नहीं जा सकता। इसलिए जब कभी अपने जीवनकाल में किसी व्यक्ति की ऐसे गुरु से भेंट हो जाए जो सत्य के ज्ञाता हैं, ज्ञान और साधन की शिक्षा देनेवाले हैं, उस अलौकिक विरासत को प्राप्त कर चुके हैं, जो हर इच्छा पूर्ण करनेवाली चिंतामणि के समान अद्भुत हैं... और उस मार्ग से भली-भाँति परिचित हैं जो दुविधाओं से मुक्त है, तो उस व्यक्ति को पूरी श्रद्धा से ऐसे सतगुरु का आदर-सत्कार करना चाहिए, यदि वह व्यक्ति पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक हो। सतगुरु की तेजस्विता के प्रभाव से ही उस अनन्त ज्ञान के परम आनन्द की प्राप्ति होती है जिसे प्राप्त करना इस चराचर त्रिलोकी के सभी प्राणियों का सर्वोच्च लक्ष्य है।[321]

एक पूर्ण ज्ञानप्राप्त गुरु से भेंट होना और उनसे दीक्षा प्राप्त करना अथवा सच्चे आध्यात्मिक मार्ग में दीक्षित होना परम सौभाग्य की बात है; और दूसरा बड़ा सौभाग्य है गुरु के बताये उपदेशानुसार पूरी लगन से अभ्यास में जुट जाना। इस प्रकार मनुष्य-जीवन की क्षमता का वास्तव में पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है। महायान बौद्धधर्म के एक प्रसिद्ध व्याख्याता शान्तिदेव बताते हैं कि दीक्षा प्राप्ति का अर्थ है – बुद्ध के आध्यात्मिक परिवार में उनके पुत्र अथवा पुत्री के रूप में नया जन्म लेना:

> अब मेरा जीवन धन्य हो गया है,
> क्योंकि मुझे मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है।
> आज मेरा बुद्ध के परिवार में पुनर्जन्म हुआ है
> और अब मैं बुद्ध का पुत्र हूँ।
> अब मेरा आचरण मेरे
> परिवार के अनुकूल होना चाहिए,
> ताकि मैं अपने निर्मल परिवार
> पर कोई कलंक न लगने दूँ।[322]

कोरियाई सतगुरु शिनूल अपनी पुस्तक *सीक्रेटस् ऑन कलटिवेटिंग द माइण्ड (Secrets on Cultivating the Mind)* में गुरु तान-सिया-जू-शुन (1064-1117 ईसवी) की वाणी *वैन-चू-यिन* से यह उद्धरण देते हुए लिखते हैं कि धर्म का, हमारे बुद्ध-स्वभाव का और हमारे सार स्वरूप का अपने अन्तर में, इस भौतिक शरीर के भीतर साक्षात्कार किया जा सकता है:

> अगर तुम बुद्ध बनना चाहते हो तो यह समझ लो कि बुद्ध ही 'मन'* है। तुम दूर कहीं मन की खोज कैसे कर सकते हो? यह शरीर से बाहर नहीं है। भौतिक शरीर मायावी है, क्योंकि यह जन्म तथा मृत्यु के दायरे में है; वास्तविक मन आकाश के समान है, क्योंकि इसका न तो अन्त होता है और न यह बदलता ही है। इसलिए कहा जाता है: "ये सैकड़ों हड्डियाँ चकनाचूर हो जायेंगी और अग्नि तथा वायु में समा जायेंगी। परन्तु एक अलौकिक शक्ति है जो दिव्य है और लोक तथा परलोक में सर्वत्र व्याप्त है।"

* यहाँ 'मन' से तात्पर्य है अपरिवर्तनशील सारतत्त्व, न कि बदलने वाला यह मन एवं शरीर, जहाँ से हमारी सोच-समझ उत्पन्न होती है।

यह बड़ी दुःखदायी स्थिति है। लोग इतने समय तक भ्रम में पड़े रहे हैं। वे नहीं पहचान पाते कि उनका मन ही वास्तव में बुद्ध है। वे नहीं समझते कि उनका अपना स्वरूप ही वास्तव में धर्म है। वे धर्म की खोज करना चाहते हैं परन्तु वे पवित्र पुरुषों को बाहर दूर-दूर तक ढूँढ़ते फिरते हैं। वे बुद्ध की खोज करना चाहते हैं, परन्तु वे अपने मन की जाँच नहीं करते... अगर तुम झूठी चीज़ों से बँधे रहने की आदत को छोड़ दोगे, तो तुम 'बुद्ध' के समान ही हो जाओगे... चूँकि यह बुद्ध-स्वभाव इस समय भी तुम्हारी देह में मौजूद है, तो फिर तुम इसे व्यर्थ में बाहर क्यों ढूँढ़ते फिरते हो?[323]

निर्वाण को प्राप्त करना कोई आसान काम नहीं है। ऐसे महात्मा जिन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया है, वे केवल हम पर दया करके उपदेश देते हैं और परम सत्य तक पहुँचने का मार्ग बताते हैं ताकि हम उसका साक्षात्कार कर सकें और उसमें समा सकें। वे हमें चेताते हैं कि हम जन्म तथा मृत्यु के विनाशकारी चक्र में फँसे हुए हैं। अतः जब तक हम अपने वास्तविक स्वरूप से अनजान बने रहते हैं, हम भीषण दुःख भोगते रहते हैं और उस परम सत्य तक पहुँचने में असफल रहते हैं जहाँ से हम आये हैं। तिब्बत के बौद्ध गुरु लोंग्चेन्पा (1308-1364 ईसवी) कहते हैं:

जिस प्रकार एक रोगी को एक चिकित्सक की आवश्यकता होती है,
जनता को शासक की, एक अकेले यात्री को मार्गदर्शक की,
एक व्यापारी को व्यापार-संघ के व्यवस्थापक की
और एक मल्लाह को किश्ती की आवश्यकता होती है,
उसी प्रकार भावनाओं को नियन्त्रित करने के लिए,
बुराई को हानिरहित बनाने के लिए,

जन्म और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए...
तुम्हें एक गुरु पर भरोसा करना होगा।[324]

द गुड विशेस ऑफ़ द ऑल-गुड बुद्ध समन्तभद्र (The Good Wishes of the All-Good Buddha Samanta-Bhadra) में दिये गये आदि-बुद्ध के धर्म-उपदेश में बुद्धत्व प्राप्त न होने तथा उस परम सत्य के साथ, जो सबका मूलस्रोत है, एकाकार न होने के दुष्परिणामों की चर्चा की गयी है:

सबका आधार स्रोत वह परम सत्य अ-रचित (अप्रकट), अमिश्रित, स्वतन्त्र, मानसिक धारणाओं तथा शाब्दिक परिभाषाओं से परे है।... उसका साक्षात्कार करना ही बुद्धत्व प्राप्त करना है। उसका साक्षात्कार न होने का अर्थ है – संसार में भटकना...

अपने मूलस्रोत उस परम सत्य को जाने बिना प्राणी पाप-कर्म करते आये हैं। वे अचेतना के अन्धकार में डूबे रहे, जिसमें से अज्ञानता और पाप की उत्पत्ति हुई। पापकर्मों में डूबा हुआ और अज्ञानता में जकड़ा हुआ 'ज्ञाता' भ्रमित और भयभीत हो गया। ऐसी स्थिति में 'मैं' और 'अन्य' की धारणाएँ उत्पन्न हुईं, साथ ही साथ घृणा की भी उत्पत्ति हुई। जब ये धारणाएँ दृढ़ हो गयीं, तब संसार के क्रमिक विकास की एक निरन्तर धारा उत्पन्न हो गयी।[325]

बौद्धधर्म के अनुसार हम दुःखों के अनन्त जाल में फँसे हुए हैं। फिर भी हम प्रकाश की खोज नहीं करते। हम इतने अन्धे और अज्ञानी हो गये हैं कि हम यह भी नहीं जानते कि हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं या हमें कहाँ जाना है, यद्यपि अपने भ्रमों के कारण हम अपने आप को बहुत योग्य और बुद्धिमान् समझते हैं और सोचते हैं कि हम स्वयं इसमें से निकल पायेंगे। इस प्रकार हम न केवल अज्ञानी ही हैं, अपितु इस तथ्य से भी अनजान हैं कि हम अज्ञानी हैं। सांसारिक रागों की

अग्नि और हमारी अज्ञानता की जटिल अवस्था को देखते हुए महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *इस संसार में हँसी-खुशी कैसे हो सकती है,*
> *आनन्द कैसे हो सकता है*
> *जबकि यह संसार हमेशा जल रह है?*[326]
>
> *सारा संसार अज्ञानता में पड़ा है, यहाँ कोई*
> *विरला ही देख सकता है।*[327]
>
> *जो व्यक्ति अपनी अज्ञानता से परिचित है*
> *उसे कम से कम इतना विवेक तो है कि वह अज्ञानी है,*
> *परन्तु जो अज्ञानी व्यक्ति अपने आप को विवेकशील समझता है*
> *वही सचमुच में अज्ञानी है।*[328]

पूरी तरह अज्ञान में पड़े हुए, अन्धकार में भटकते हुए और जन्म-मरण के चक्र में फँसे हुए हम केवल अपने प्रयासों से ही कैसे अपनी वास्तविकता को अथवा उस परम सत्य को जान सकते हैं? क्या बिना किसी प्रज्ञावान् गुरु की सहायता तथा मार्गदर्शन के हम अपने आप को दुःखों से निकाल सकते हैं और मुक्ति अथवा निर्वाण की प्राप्ति कर सकते हैं?

बुद्ध की शरण में जाना

यह जाना-माना तथ्य है कि व्यक्ति बुद्ध की शरण ग्रहण करके ही बौद्ध-संघ में प्रवेश पा सकता है। बुद्ध की शरण में आने का क्या अर्थ है? बुद्ध की शरण ग्रहण करने अथवा अपने आध्यात्मिक गुरु की शरण में आने का अर्थ है – उन पर पूर्ण भरोसा होना और उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखना। बौद्धधर्म में इस बात को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। तिब्बती बौद्धधर्म में इसे 'मार्ग का मूल' कहा जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

> *(यह) हमारे अभ्यास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। 'मार्ग का मूल' – ये शब्द हमें स्पष्ट करते हैं कि एक वृक्ष के सभी पत्ते, फल आदि उसकी जड़ों के ही परिणाम हैं। इसी प्रकार व्यक्ति का समस्त आन्तरिक ज्ञान और उसकी सभी अनुभूतियाँ उसके अपने आध्यात्मिक मार्गदर्शक के प्रति पूर्ण श्रद्धा के फलस्वरूप ही प्राप्त होती हैं।... परम सत्य के साथ एकात्म होने तक की सभी आन्तरिक अनुभूतियाँ हम तभी प्राप्त कर पायेंगे जब हमें अपने आध्यात्मिक मार्गदर्शक के प्रति पूर्ण श्रद्धा होगी। इसलिए अपने आध्यात्मिक मार्गदर्शक के प्रति आरम्भ से ही पूर्ण श्रद्धा का होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।*[329]

बौद्ध परम्परा में व्यक्ति 'त्रिरत्न' की शरण लेता है और यह 'त्रिरत्न' है – बुद्ध यानी आध्यात्मिक गुरु; धर्म यानी उपदेश; और संघ यानी आन्तरिक साधना करनेवालों का समुदाय। इस त्रिरत्न में बुद्ध अथवा आध्यात्मिक गुरु का सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि अन्य दो उसी के ऊपर निर्भर हैं। पैट्रुल रिनपोचे स्पष्ट करते हैं:

> *अपने गुरु की ओर देखो – वे आध्यात्मिक मित्र, बुद्ध हैं जो सच्चे रत्न के रूप में आपको यहीं इस संसार में और अभी इसी जीवन में उपदेश देते हैं कि क्या करना है और क्या नहीं करना है।... अपने ज्ञान सम्पन्न गुरु द्वारा कहे गये प्रत्येक शब्द को धर्मरत्न समझो... तुम्हारे लिए गुरु ही प्रमुख शरण हैं... इसलिए उन्हें त्रिरत्न के सारतत्त्व के रूप में पहचानो। पूरे विश्वास के साथ उनका अनुगमन करो और हर पल उनके आगे प्रार्थना करते रहो। याद रखो कि अपने किसी भी कार्य, वचन अथवा विचार द्वारा उन्हें नाराज़ करने का अर्थ है – समस्त शरणों को त्याग देना। इसलिए निरन्तर उन्हें प्रसन्न करने का हर सम्भव प्रयास करो। आपको चाहे कैसी भी परिस्थिति से गुज़रना पड़े, चाहे वह*

> दुःखमय हो या सुखमय, अच्छी हो या बुरी, दुःख-तकलीफ़ हो या बीमारी, अपने आप को पूरी तरह एकमात्र गुरुरूपी रत्न के हाथों में सौंप दो।[330]

वे आगे कहते हैं:

> (उनकी) शरण में आकर तुम अपने अन्तर में मुक्ति का बीज बो देते हो... अन्ततः यह तुम्हें बुद्धत्व की अवस्था तक ले जायेगा।[331]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म में मनुष्य केवल अपने प्रयासों से ही जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं पा सकता। अतः निर्वाण प्राप्त करने के लिए उसे एक प्रज्ञावान् और करुणामय गुरु की खोज करना और उनकी शरण लेना अत्यन्त आवश्यक है।

गुरु की अनिवार्यता

वे आध्यात्मिक ज्ञानी जो अपने गुरुओं की सहायता से आन्तरिक लोकों की यात्रा करते हुए परम धाम तक पहुँचे हैं, पूरे अधिकार से कहते हैं कि आन्तरिक आध्यात्मिक मार्ग में बहुत-से जोख़िम और ख़तरे हैं और जब तक एक समर्थ गुरु की सहायता और मार्गदर्शन न प्राप्त हो, लोगों का मार्ग से भटक जाना निश्चित है।

पैट्रुल रिनपोचे एक आध्यात्मिक सतगुरु की आवश्यकता के सम्बन्ध में अपने गुरु जिग्मे ग्यालवे न्यूगू के विचार प्रस्तुत करते हैं:

> जब मुक्ति तथा पूर्ण ज्ञान के मार्ग पर चलने की बात आती है तो हम उस अन्धे आदमी के समान भ्रमितचित्त हो जाते हैं जो एक सुनसान मैदान के बीचोबीच अकेला भटक रहा है।[332]

> किसी भी सूत्र, तन्त्र अथवा शास्त्र में यह चर्चा नहीं की गयी है कि किसी व्यक्ति को एक आध्यात्मिक गुरु का अनुसरण किये बिना पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति हुई हो। हम स्वयं ही देख सकते हैं कि किसी भी व्यक्ति ने इस मार्ग के प्रत्येक चरण पर केवल अपने प्रयास और योग्यता के बल पर परिपूर्णता प्राप्त नहीं की है।[333]

जापान के गुरु ऐहई दोजेन ज़ेन्जी (1200-1253 ईसवी) अपने ग्रन्थ *पॉइंट्स टू वॉच इन प्रैक्टिसिंग द वे (गाकुडो-योजिन-शु)* में कहते हैं कि केवल एक आध्यात्मिक ज्ञानी ही साधकों को वह मार्ग दिखा सकता है जो मन की सीमाओं से परे है:

> साधकों! तुम्हें समझ लेना चाहिए कि बुद्ध का मार्ग विचार, विवेक, दृष्टि, ध्यान, धारणा और बौद्धिक विश्लेषण से परे है। यदि बुद्ध का मार्ग इन मानसिक गतिविधियों के दायरे में होता तो तुम्हें अब तक जागृति क्यों नहीं प्राप्त हुई जबकि तुम सदा इस दायरे में रहते और कार्य करते रहे हो? इस मार्ग पर चलते हुए तुम्हें सोच-विचार अथवा बुद्धिमानी का सहारा नहीं लेना चाहिए। तुम जो सदैव ऐसी चीज़ों – जैसे सोच-विचार आदि से प्रभावित रहते हो, अगर तुम अपने आप को देखो तो यह बात तुम्हें वैसे ही स्पष्ट हो जायेगी जैसे एक प्रकाशमान शीशे में सब कुछ स्पष्ट दिखाई देता है। वह द्वार जिससे होकर तुम इस मार्ग में प्रवेश कर सकते हो, उसे केवल एक ऐसे गुरु ही दिखा सकते हैं जिन्होंने धर्म की प्राप्ति कर ली हो। शाब्दिक और शास्त्रीय ज्ञान रखनेवाले विद्वान् इस द्वार तक नहीं पहुँच सकते।[334]

आध्यात्मिक मार्ग के ज्ञान के लिए एक जीवित मार्गदर्शक की आवश्यकता पर पहले एक साधारण दृष्टि से ही विचार करें। अपने दैनिक जीवन से जुड़े आम दुनियावी कार्यों में भी हम देखते हैं कि किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने अथवा कोई हुनर सीखने के लिए हमें एक

मार्गदर्शक, गुरु अथवा सहायक की आवश्यकता पड़ती है। बाल्यावस्था में हमें खाना-पीना, बोलना और चलना आदि सीखने के लिए अपने माता-पिता, संरक्षकों, मित्रों और सम्बन्धियों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। जब हम बड़े होकर मोटर गाड़ी चलाना अथवा हवाई जहाज़ उड़ाना सीखना चाहते हैं तो उस समय भी हमें एक गुरु के मार्गदर्शन की ज़रूरत पड़ती है। इसी प्रकार एक डॉक्टर अथवा इंजीनियर बनने के लिए हमें एक योग्य डॉक्टर अथवा इंजीनियर के निरीक्षण में प्रशिक्षण प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती है। केवल पुस्तकें पढ़ लेने से या पहले हो चुके प्रसिद्ध चालकों (ड्राइवरों), विमान चालकों, चिकित्सकों अथवा इंजीनियरों को याद करने और उनकी प्रशंसा करने से ही हम इस संसार के किसी क्षेत्र में निपुणता प्राप्त नहीं कर सकते।

आध्यात्मिकता अन्य विषयों की तुलना में एक बहुत ही कठिन तथा जटिल विषय है, क्योंकि यहाँ हम उस परम सत्य को जानने का प्रयास कर रहे हैं जो मन तथा साधारण इन्द्रियों की पहुँच से परे है। आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में हम अपने आप को पूरी तरह से अन्धे, बहरे, खोये हुए और भ्रमित पाते हैं। बिना एक योग्य मार्गदर्शक और आध्यात्मिक ज्ञानी की सहायता तथा मार्गदर्शन के, हमारे लिए स्वयं सही मार्ग की खोज करना, जन्म-मरण से छुटकारा पाना तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।

हमारे सांसारिक जीवन से कुछ उदाहरण देकर पैट्रुल रिनपोचे एक आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता पर बल देते हुए कहते हैं:

> *रोगी एक कुशल चिकित्सक के उपचार पर भरोसा करते हैं। ख़तरों से भरे मार्ग पर चलनेवाले यात्री एक साहसी अंगरक्षक पर भरोसा करते हैं। शत्रुओं, लुटेरों अथवा जंगली जानवरों से भयभीत लोग अपनी सुरक्षा के लिए साथी से सुरक्षा की आशा करते हैं। समुद्र पार जानेवाले सौदागर जहाज़ के कप्तान पर भरोसा करते हैं। नाव में बैठकर दरिया पार करने के इच्छुक यात्री नाविक पर भरोसा करते हैं। इसी प्रकार मृत्यु, पुनर्जन्म तथा विकारों से बचाव के लिए हमें किसी गुरु, किसी आध्यात्मिक मित्र द्वारा बताये गये मार्ग पर चलना चाहिए।*[335]

और:

> *वह (गुरु) एक विशाल समुद्री जहाज़ है*
> *जो हमें भवसागर से पार ले जाता है,*
> *वह उस दिव्य मार्ग का विश्वसनीय मार्गदर्शक है,*
> *विकारों और कर्मों की दहकती आग को*
> *शान्त करनेवाले अमृत की वर्षा है,*
> *अज्ञानता का अन्धकार दूर करनेवाला*
> *सूर्य तथा चन्द्रमा है,*
> *वह अपार सहनशील धरती जैसा है,*
> *वह सहायता तथा सुख-शान्ति का स्रोत, कल्प-वृक्ष है,*
> *धर्म की निधि को सँभाले रखनेवाला श्रेष्ठ पात्र है,*
> *चिन्तामणि से भी कहीं बढ़कर सभी वस्तुओं को*
> *प्रदान करनेवाला है,*
> *वह सबको समान भाव से प्रेम करनेवाला पिता और माता है।*[336]

विक्रमशिला के प्रसिद्ध भारतीय आचार्य, अतीश (982-1054 ई.), जिन्हें दीपंकर भी कहा जाता है और जिन्होंने अपने जीवन काल के अन्तिम दस वर्ष तिब्बत में रहकर महात्मा बुद्ध के उपदेश को पुनः सक्रिय किया, उनसे किसी ने एक बार यह प्रश्न पूछा:

> *"अगर कोई मुक्ति और पूर्ण सर्वज्ञता प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण क्या है – धार्मिक ग्रन्थ और उनकी व्याख्या अथवा एक गुरु द्वारा दिया गया मौखिक उपदेश?"*

"गुरु द्वारा दिया गया उपदेश।" अतीश ने उत्तर दिया
"क्यों?"
"क्योंकि जब अभ्यास करने की बारी आती है तो भले ही तुम्हें पूरा 'त्रिपिटक' याद हो और तुम दर्शन शास्त्र में भी पारंगत हो फिर भी गुरु के व्यावहारिक मार्गदर्शन के बिना तुम धर्म के साथ नहीं जुड़ सकोगे।"[337]

किसी के लिए सतगुरु के उपदेशानुसार आध्यात्मिक अभ्यास में सफलतापूर्वक लगने के लिए पहले अपने समय के गुरु द्वारा शिष्य रूप में स्वीकार किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

यदि तुम धर्म का अभ्यास आरम्भ भी कर लो, तब भी जब तक तुम किसी आध्यात्मिक गुरु द्वारा स्वीकार नहीं कर लिये जाते, तब तक यह सब व्यर्थ है।[338]

बौद्ध योगी, सरह, के अनुसार बिना गुरु के मनुष्य द्वारा किया जानेवाला आध्यात्मिक अभ्यास व्यर्थ है और सारे धार्मिक ग्रन्थों और टीकाओं का भी कोई महत्त्व नहीं। वे कहते हैं:

जो व्यक्ति सभी कष्टों को हर लेनेवाले गुरु के अमृत-तुल्य उपदेश का रसपान नहीं करते,
वे धर्मग्रन्थों के दुःखों-भरे मरुस्थल में प्यास से व्याकुल होकर थके-माँदे मृत्यु को प्राप्त होंगे।[339]

पाबोंग्का रिनपोचे *डिस्कोर्स ऑन द पाथ टू ऐनलाइटेनमेन्ट (Discourses on the Path to Enlightenment)* में बार-बार गुरु की अनिवार्यता की चर्चा करते हैं और साथ ही यह भी स्पष्ट करते हैं कि गुरु के बिना धर्मग्रन्थों का कोई महत्त्व नहीं है। वे कहते हैं:

कुछ लोग सोचते हैं कि वे गुरु की शरण में आये बिना केवल पुस्तकें पढ़कर ही मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु केवल पुस्तकें पढ़ना ही पर्याप्त नहीं है – तुम्हें एक समर्थ गुरु पर भरोसा करना ही होगा।[340]

यदि तुम गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा नहीं रखते, तो तुम मार्ग पर थोड़ी-सी भी उन्नति नहीं कर सकते, चाहे तुम अभ्यास का कोई भी ढंग क्यों न अपनाओ।... परन्तु यदि तुम गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हो तो शीघ्र ही परम सत्य से एकात्मकता की वह अवस्था प्राप्त कर लोगे जिसे सामान्यतः प्राप्त करने में कई युग बीत जाते हैं।[341]

वे नागार्जुन द्वारा दिये गये इस आश्वासन का हवाला देते हैं:

यदि तुम गुरु की कृपा द्वारा उनके कल्याणकारी उपदेश को ग्रहण करते हो, तब तुम मुक्ति प्राप्त कर ही लोगे, भले ही तुम सोचो कि 'मैं ऐसा नहीं कर पाऊँगा'।[342]

प्रारम्भिक बौद्धधर्म के एक अत्यन्त प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ *धम्मपद* में, जिसे स्वयं बुद्ध की वाणी भी कहा जाता है, यह बताया गया है कि एक पूर्ण सतगुरु के निर्देशों का श्रद्धापूर्वक अनुसरण करने की तुलना में यज्ञ आदि साधनाएँ व्यर्थ हैं:

सौ वर्षों तक प्रत्येक महीने हज़ारों यज्ञ करने से कहीं श्रेष्ठ है वह एक क्षण जो किसी पूर्ण महात्मा के आदर-सत्कार में बिताया जाये।[343]

यहाँ एक पूर्ण महात्मा का सत्कार करने से अर्थ है – एक सच्चे अथवा पूर्ण गुरु के निर्देशों का श्रद्धापूर्वक अनुसरण करना।

इस प्रकार बौद्धधर्म के अनुसार एक प्रज्ञावान् और करुणामय गुरु की खोज करना और उनके निर्देशों का अत्यन्त श्रद्धापूर्वक पालन करना आन्तरिक यात्रा के जोख़िम तथा ख़तरों से बचने और परम लक्ष्य तक सुरक्षित पहुँचने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए गम्पोपा ने नीचे दी गयी बातों पर बहुत अधिक बल देकर इन्हें 'अनिवार्य' माना है:

> *मोक्ष के मार्ग पर मार्ग दिखलाने वाले एक समर्थ गुरु तुम्हारे लिए 'अनिवार्य' हैं...*
>
> *एक प्रज्ञावान् गुरु द्वारा दिये गये विशेष निर्देश जो तुम्हें भटकाने वाले मार्गों, प्रलोभनों, जोख़िम तथा ख़तरों से बचने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं, 'अनिवार्य' हैं।*[344]

जब हम बीमार हों तो हमें एक ऐसे योग्य चिकित्सक के पास जाना चाहिए, जो हमें इस समय उपलब्ध है। पिछले समय में हो चुके चिकित्सक, चाहे वे कितने भी योग्य क्यों न रहे हों, इस समय हमारा इलाज नहीं कर सकते। इसी प्रकार पहले हो चुके कोई भी बुद्ध इस समय हमारे आध्यात्मिक रोग का उपचार नहीं कर सकते। जैसा कि पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

> *जब लोग गम्भीर रूप से बीमार हो जाते हैं, वे एक योग्य चिकित्सक के पास जाते हैं। वे चिकित्सक के निर्देशों का पालन करते हैं, उसके द्वारा बतायी गयी दवा लेते हैं और रोग से छुटकारा पाने तथा स्वस्थ होने के लिए हर सम्भव प्रयास करते हैं। इसी प्रकार तुम्हें एक सच्चे गुरुरूपी योग्य चिकित्सक के निर्देशों का पालन करके तथा धर्मरूपी औषधि लेकर अपने कर्मों, विकारों और दुःख-सन्ताप आदि रोगों का उपचार करना चाहिए।*[345]

वे *अरेंज्ड लाइक अ ट्री सूत्र (Sutra Arranged Like a Tree)* में से निम्नलिखित उद्धरण देते हैं:

> हे साधुजन! तुम्हें सोचना चाहिए कि तुम एक रोगी हो, धर्म तुम्हारी औषधि है, तुम्हारा आध्यात्मिक गुरु तुम्हारा कुशल चिकित्सक है और लगनशील अभ्यास तुम्हारे स्वस्थ होने का साधन है।[346]

ऐसे ही विचार पाबोंग्का रिनपोचे भी व्यक्त करते हैं:

> अगर हम बीमार हो जाते हैं और हमारी बीमारी एक-दो महीने तक बनी रहती है तो हम बहुत भयभीत हो जाते हैं। लेकिन सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक हम भ्रमरूपी रोग से ग्रस्त हैं। हमारे लिए इस रोग से मुक्त होना तब तक असम्भव है जब तक हम जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं ढूँढ़ लेते।
>
> इसलिए वे विवेकशील व्यक्ति जो निर्वाण प्राप्त करने के लिए दृढ़ इच्छा रखते हैं, उन्हें अपने अहंकार का पूरी तरह दमन कर लेना चाहिए। जिस प्रकार रोगी स्वस्थ होने के लिए अपने चिकित्सकों पर निर्भर करते हैं, उसी प्रकार एक साधक को निष्ठापूर्वक किसी आध्यात्मिक गुरु पर निर्भर करना चाहिए।[347]

सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र) में बुद्ध का एक महान् चिकित्सक के रूप में चित्रण किया गया है जो विश्व में सर्वत्र फैले हुए अज्ञानता के दीर्घ रोग की अचूक औषधि लेकर इस संसार में अवतरित होते हैं:

> सर्वज्ञ तथा दयालु तथागत जो सर्वश्रेष्ठ हैं, घोर अज्ञानता से भ्रमित इस संसार में एक महान् चिकित्सक के रूप में प्रकट होते हैं।[348]

जीवित गुरु की आवश्यकता

जब हम किसी आध्यात्मिक गुरु के अनिवार्य होने की बात करते हैं तो इससे हमारा अभिप्राय एक जीवित गुरु, अर्थात् हमारे समय के गुरु से है। हम पहले ही देख चुके हैं कि बुद्ध-महात्मा धर्मकाय से अवतरित होते हैं और देह त्यागने के बाद पुनः उसी परम सत्य में समा जाते हैं। वे फिर उस परम सत्य के साथ एकाकार हो जाते हैं जिसमें से वे प्रकट होते हैं। मानव-देह धारण करके इस संसार में आने का उनका एकमात्र उद्देश्य यही है कि वे अपने समय के लोगों के सम्पर्क में आ सकें और उन्हें जन्म-मरण के दुःखदायी चक्र से मुक्त होने तथा उस परम सत्य में लीन हो जाने की युक्ति बता सकें। दया तथा करुणा का अपना उद्देश्य पूरा करने के बाद ये गुरु फिर हमें सहायता देने और मार्गदर्शन प्रदान करने के लिए उपलब्ध नहीं होते। अतः हमें अपने समय के एक जीवित सतगुरु, एक आध्यात्मिक मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है।

केवल एक मनुष्य ही दूसरे मनुष्य के साथ कारगर ढंग से बातचीत कर सकता है और अध्यात्म के गूढ़ रहस्य को समझने में उसकी सहायता कर सकता है। एक जलता हुआ दीपक ही दूसरे दीपक को प्रज्वलित कर सकता है।

बौद्धधर्म में यह स्पष्ट है कि केवल एक जीवित मार्गदर्शक ही किसी व्यक्ति का सच्चा रक्षक, गुरु और मुक्तिदाता हो सकता है। एक जीवित गुरु के निरीक्षण में अभ्यास करने की क्या आवश्यकता है – इसे ज़ेन गुरु बस्सुई ने उस समय स्पष्ट किया जब किसी ने उनसे जिज़ो नाम के एक श्रेष्ठ अभ्यासी के बारे में पूछा। जिज़ो एक प्रसिद्ध बोधिसत्त्व थे जिनका नाम पूर्वी एशिया में प्रचलित बौद्धधर्म में बड़े सम्मान से लिया जाता है। बौद्ध धर्मग्रन्थों में भी उनका वर्णन आता है:

> *"जिज़ो बोधिसत्त्व के सूत्र में लिखा है: 'उन युगों में जब बुद्ध नहीं होते हैं, बोधिसत्त्व (जिज़ो) प्रति दिन सवेरे उठकर कई तरह की समाधि में प्रवेश करते हैं और विविध प्रकार के नरकों में दुःख भोग रही साधारण जीवात्माओं को पीड़ा मुक्त करते हैं। यदि इन वचनों का यह अभिप्राय है कि छः लोकों में फँसे हुए प्राणियों के हित के लिए यह जिज़ो बोधिसत्त्व द्वारा अपनाया गया एक उपाय कौशल्य है, तो जो लोग इस बोधिसत्त्व के समक्ष पूरी श्रद्धा से प्रार्थना करेंगे, वे बुराई के मार्ग का शिकार नहीं होंगे। परन्तु फिर वे लोग निर्वाण क्यों प्राप्त करना चाहेंगे? वे तो सीधे जिज़ो से मार्गदर्शन पाने के लिए ही प्रार्थना करेंगे। इस तर्क के बारे में आपका क्या विचार है"?*
>
> *बस्सुई ने उत्तर दिया: "आपने यह प्रश्न किस उद्देश्य से किया है?"*
>
> *"जीवन तथा मृत्यु के महान् विषय को समझने के लिए।"*
>
> *"तो फिर आप बोधिसत्त्व जिज़ो से ही क्यों नहीं पूछ लेते?"*
>
> *"मैंने केवल उनका नाम सुना है, उनका चित्र तथा मूर्ति ही देखी है। मैंने स्वयं कभी उनका साक्षात् दर्शन नहीं किया है। मैं उनसे कैसे पूछ सकता हूँ?"*
>
> *"यदि वे तुम्हें इस समय जीवन और मृत्यु के महान् विषय पर उपदेश नहीं दे सकते तो आज के इस संसार के जीवों के लिए वे उपयुक्त गुरु नहीं हैं। यदि वे इस समय के संसार के लिए उपयुक्त गुरु नहीं हैं, तो संसार छोड़ने के बाद वे आपका मार्गदर्शन कैसे कर सकते हैं?"*[349]

कुछ लोग देहधारी सतगुरु की आवश्यकता पर सन्देह करते हैं या इसे मानने से इनकार करते हैं, क्योंकि उनका मानना है कि वह परम सत्य या परमात्मा निराकार धर्मकाय बुद्ध स्वयं एक देहधारी गुरु का उद्देश्य पूरा करने में समर्थ है। कुछ अन्य लोगों का यह मत है कि पहले हो चुके गुरुओं में से कोई गुरु हमेशा उनका मार्गदर्शन करता रहेगा। कुछ और लोग भी हैं जो किसी धर्मग्रन्थ या पवित्र ग्रन्थ को ही अपना गुरु

समझते हैं। बौद्ध गुरु लोगों को इन सभी भ्रमपूर्ण धारणाओं से मुक्त करने का प्रयास करते हैं।

अगर कोई पूर्वकालीन गुरु, जो निर्वाण प्राप्त करके उस परम सत्य के साथ एकाकार हो गये हैं और इस प्रकार हमारी पहुँच से बाहर हैं, इस समय हमारी सहायता तथा मार्गदर्शन कर सकते, तो ऐसी स्थिति में हम सीधे उस परम सत्य पर ही निर्भर कर सकते थे। फिर तो किसी भी समय किसी भी गुरु की आवश्यकता न होती। परन्तु यदि पूर्वकाल में कभी भी किसी गुरु की आवश्यकता थी और उस आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक गुरु मनुष्य-शरीर धारण करके यहाँ अवतरित हुए तो निश्चित रूप से वह आवश्यकता आज भी विद्यमान है। यह सोचना असंगत है कि प्रकृति का नियम बदल गया है और आज के जिज्ञासुओं की ज़रूरतें पूरी करने के लिए कोई गुरु अवतरित नहीं होंगे। यदि एक बार गुरु की ज़रूरत होती है तो हमेशा उनकी ज़रूरत होती है।

दूसरे शब्दों में, अगर हम वर्तमान समय के गुरु की आवश्यकता को नकार देते हैं, तो हमें हर युग में हर काल में गुरुओं के आने की आवश्यकता को नकारने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। परन्तु हम ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि यह सत्य है कि बहुत-से गुरु आये हैं और बौद्ध-गुरु भी इस बात पर बल देते हैं कि उस अलौकिक धर्मकाय से साक्षात्कार तभी हो सकता है जब हम एक जीवित बुद्ध-महात्मा अथवा प्रबुद्ध गुरु द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुसरण करें।

मानव-रूप में बुद्ध केवल किसी विशेष समय और स्थान पर ही प्रकट हो सकते हैं। पर अपनी अज्ञानता की अवस्था में हमारी ऐसी प्रवृत्ति होती है कि हम पहले हो चुके गुरुओं से अधिक मोहित होते हैं और आज के गुरुओं के महत्त्व को कम समझते हैं, जबकि सभी गुरु वास्तव में एक ही होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पहले हो चुके गुरु परम सत्य का साकार रूप थे, वे अपने समय के लोगों को उपदेश देने और उनका मार्गदर्शन करने के लिए पूरी तरह से समर्थ थे और उनके जीवन से हमें बहुत अधिक प्रेरणा मिलती है। परन्तु परम सत्य में लीन

हो जाने के बाद वे हमें उपदेश देने और हमारा मार्गदर्शन करने के लिए 'आज' उपलब्ध नहीं हैं।

जिन धर्मग्रन्थों में महात्मा बुद्ध तथा अन्य प्रबुद्ध गुरुओं के जीवन का उल्लेख है और उनके नैतिक तथा आध्यात्मिक उपदेशों का सार दिया गया है, वे धर्मग्रन्थ जीवित गुरु की भूमिका नहीं निभा सकते और न ही उनका स्थान ले सकते हैं। करुणा से भरे एक जीवित गुरु ही अपने शिष्यों के लिए एक प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, वे उनकी शंकाओं को दूर करते हैं, उनके प्रश्नों के उत्तर देते हैं और उन्हें स्वयं मार्गदर्शन तथा सहारा देते हैं। धर्मग्रन्थों अथवा पवित्र-पुस्तकों से निश्चित रूप से बहुत सहायता प्राप्त होती है, क्योंकि वे अध्यात्म में हमारी रुचि जाग्रत करते हैं और साथ ही साथ नैतिक तथा आध्यात्मिक उपदेशों के बारे में अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा भी देते हैं। इन्हें पढ़कर व्यक्ति को नैतिक मार्गदर्शन तथा प्रेरणा मिल सकती है, परन्तु निर्जीव होने के कारण ये ग्रन्थ लोगों के साथ सीधा संवाद नहीं कर सकते और न ही उनकी वर्तमान समस्याओं और उलझनों का समाधान कर सकते हैं।

एक चित्र अथवा मूर्ति निर्जीव होने के कारण हमारा मार्गदर्शन नहीं कर सकती। केवल जीवित मनुष्य ही दूसरे मनुष्यों से सम्बन्ध बना सकते हैं, उनसे बातचीत कर सकते हैं, उन्हें सिखा सकते हैं और उनका मार्गदर्शन कर सकते हैं। एक मृत और एक जीवित व्यक्ति के बीच किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता चाहे वह गुरु और शिष्य का सम्बन्ध ही क्यों न हो। हम पहले हो चुके गुरुओं की केवल धुँधली कल्पना ही कर सकते हैं, उनके साथ कोई बातचीत या सार्थक रूप से सम्पर्क नहीं कर सकते, क्योंकि हम उन्हें प्रत्यक्ष रूप से देखने और सुनने में असमर्थ हैं।

पाबोंग्का रिनपोचे स्पष्ट करते हैं कि आध्यात्मिक ज्ञान के वे खोजी जिन्हें गौतम बुद्ध के जीवनकाल में उनसे उपदेश ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, उनके लिए प्रबुद्ध महात्मा अब यहाँ उनके स्तर पर आते हैं। वे कहते हैं:

> बुद्ध हमारे लिए देहरूप में प्रकट हुए (श्रेष्ठ निर्माणकाय रूप में) परन्तु हमारा ऐसा सौभाग्य नहीं था कि हम (उस रूप में) उनसे धर्मोपदेश ग्रहण कर पाते। अतः हमें किसी ऐसे प्रबुद्ध गुरु के शरीर रूप की आवश्यकता है जो हमारे सौभाग्य के स्तर पर हमें धर्म का उपदेश दे सके। इस प्रकार विजेता बुद्ध हमारे हित के लिए गुरुओं के रूप में दसों दिशाओं में प्रकट होते रहते हैं।[350]

अपने जीवित गुरु पर भरोसा करने के फल की चर्चा करते हुए वे एसैंस ऑफ़ नेक्टर *(Essence of Nectar)* में से यह उद्धरण देते हैं:

> जब तुम अपने आध्यात्मिक मार्गदर्शक पर पूरा भरोसा करते हो, तो फिर तुम शीघ्र ही आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाओगे।[351]

> बुद्ध महात्मा इसे जानते हैं और अपने गुरु के प्रति हमारी पूरी श्रद्धा देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है। गुरु ही समस्त सुख और आनन्द के स्रोत हैं और इस संसार (जन्म और मरण का चक्र) तथा निम्न लोकों के दुःखों से हमें छुटकारा दिलाने का एकमात्र साधन हैं।[352]

पैट्रुल रिनपोचे भी स्पष्ट करते हैं:

> आध्यात्मिक गुरु स्वयं बुद्ध के समान होते हैं। वे पूर्वकालीन बुद्ध महात्माओं के सन्देशवाहक होते हैं, वर्तमान समय में स्वयं बुद्ध का मूर्तरूप होते हैं और अपने उपदेश के द्वारा भविष्य में होनेवाले बुद्ध-महात्माओं का स्रोत होते हैं।[353]

प्रायः लोगों का पहले हो चुके महात्मा के प्रति विशेष आकर्षण होता है। इस प्रवृत्ति से छुटकारा दिलाने के लिए पाबोंग्का रिनपोचे

हमें सदाप्ररुदित का उदाहरण देते हैं जो कुछ समय पहले एक प्रख्यात बोधिसत्त्व हुए हैं। अन्तर्दृष्टि द्वारा असंख्य बुद्ध-महात्माओं से भेंट होने के बावजूद भी उन्हें तब तक सन्तुष्टि नहीं हुई, जब तक वे अपने गुरु धर्मोद्गत से नहीं मिले। जैसा कि पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

> अगर हम एक बुद्ध से मिलते हैं और हमें यह विचार आता है कि यह बुद्ध मेरे गुरु से श्रेष्ठ हैं तो यह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। परन्तु सदाप्ररुदित असंख्य बुद्ध-महात्माओं को देखकर भी सन्तुष्ट नहीं हुए, बल्कि उन्होंने गुरु (अपने गुरु) की खोज की। यह बात ध्यान देने योग्य है। अगर हमारी ऐसे गुरु से भेंट नहीं होती जिनके साथ हमारे कर्मों का सम्बन्ध है... तो समझो हमने सबसे अधिक हितकारी पदार्थ खो दिया है।[354]

अगर हम अपने जीवनकाल में गुरु से मिलने का प्रयास नहीं करते, तो हम वह अति दुर्लभ अवसर खो देते हैं जो मनुष्य-जन्म में प्राप्त होता है और इस प्रकार हम अपना बहुत बड़ा नुकसान कर लेते हैं।

संसार में महात्माओं का सदैव विद्यमान होना

बौद्ध परम्परा के अनुसार आध्यात्मिक-लक्ष्य प्राप्त करने के इच्छुक लोगों की सहायता के लिए अलग-अलग समय पर इस संसार में अनेकों बुद्ध-महात्मा और बोधिसत्त्व अवतरित हुए हैं। युगों-युगों से निर्वाण प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों की सहायता यदि केवल एक ही बुद्ध-महात्मा अथवा बोधिसत्त्व कर सकते, तो इस संसार में किसी दूसरे बुद्ध-महात्मा अथवा बोधिसत्त्व के प्रकट होने का कोई कारण ही न होता। हम जानते हैं कि आज के रोगी पहले हो चुके चिकित्सकों से इलाज नहीं करवा सकते, भले ही वे चिकित्सक कितने ही योग्य क्यों न रहे हों? इसी प्रकार भिन्न-भिन्न समय के आध्यात्मिक खोजी भी केवल अपने समय के बुद्ध अथवा बोधिसत्त्व से ही सहायता तथा मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

लोगों को हर क्षेत्र में व्यावहारिक प्रशिक्षण की और अपने आध्यात्मिक अभ्यास के लिए भी सक्रिय मार्गदर्शन की सदैव आवश्यकता है। इस सब के लिए जीवित गुरु और शिष्य की अटूट शृंखला की आवश्यकता है। जैसा कि पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

> *हर प्रकार का आध्यात्मिक अभ्यास और मन को साधने का उपदेश गुरु द्वारा ही शिष्य को दिया जाता है और इसे तब तक आत्मसात् करने का प्रयास किया जाता है जब तक यह मनुष्य के अनुभव का अभिन्न अंग नहीं बन जाता। वस्तुतः एक समर्थ आध्यात्मिक गुरु वही होता है जिसने वास्तव में आन्तरिक साक्षात्कार कर लिया हो।... यह विरासत आज तक अटूट ढंग से एक ज्ञान प्राप्त गुरु से दूसरे तक क्रमानुसार पहुँचाई जाती रही है।*[355]

बौद्धधर्म स्पष्ट संकेत देता है कि आध्यात्मिक मार्ग या धर्म किसी विशेष बुद्ध की खोज या रचना नहीं है। धर्म पुरातन और शाश्वत है। शाक्यमुनि (गौतम बुद्ध) ने केवल इसकी खोज की और फिर दूसरों को इसका उपदेश दिया, ताकि इस उपदेश पर चलकर वे भी उस अवस्था तक पहुँच सकें जिसे उन्होंने स्वयं प्राप्त किया था। उनसे पहले भी बहुत-से बुद्ध आये और भविष्य में भी कई बुद्ध आयेंगे। इस प्रकार आध्यात्मिक-मार्ग अथवा धर्म किसी विशेष गुरु पर निर्भर नहीं है और कोई भी गुरु किसी नये मार्ग अथवा धर्म की रचना या उसके आविष्कार का दावा नहीं करता। महात्मा बुद्ध स्पष्ट रूप से कहते हैं:

> *हे भिक्षुओं! मैंने एक पुरातन मार्ग देखा है, यह वह पुरातन मार्ग है जिसका अनुगमन पूर्व काल में निर्वाण प्राप्त करनेवाले महात्माओं ने किया है।*[356]

इसी मार्ग पर चलकर पिछले युगों में मनुष्यों ने भवसागर पार किया है, वर्तमान समय में भी कर रहे हैं और भविष्य में भी ऐसा ही करेंगे।[357]

यह संकेत देते हुए कि यह मार्ग स्वयं उन पर निर्भर नहीं करता है, महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *चाहे बुद्ध अपने शिष्यों को धम्म का उपदेश दें या न दें, धम्म वही रहता है।*[358]

यही कारण है कि *लाम-रिम* (निर्वाण प्राप्ति के मार्ग के सोपान) का वर्णन करते हुए पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं कि इसका मूल स्रोत उन महान् सन्त-महात्माओं की शृंखला से सम्बन्धित है जिसका आरम्भ स्वयं बुद्ध से हुआ है। वे कहते हैं:

> *लाम-रिम की खोज जे. रिनपोचे (लामा सांग्खपा) या अतीश आदि ने नहीं की। यह शृंखला स्वयं परिपूर्ण बुद्ध से निकली है।*[359]

बौद्ध परम्परा में ऐसा माना जाता है कि महान् गुरु, मार्गदर्शक और प्रबुद्धजन समय-समय पर अवतरित होते रहे हैं। ऐसे कई गुरु हुए हैं जिन्होंने नम्रतावश स्वयं को बुद्ध कहलाने से इनकार कर दिया, परन्तु उनके शिष्यों ने उन्हें प्रबुद्ध गुरु के रूप में माना है। कहा जाता है कि बहुत-से ऐसे प्रबुद्ध गुरु अथवा 'बुद्ध' आध्यात्मिक-लक्ष्य प्राप्त करने के इच्छुक लोगों की सहायता के लिए समय-समय पर इस संसार में प्रकट होते रहे हैं। सभी रोगियों को अपने समय के चिकित्सक की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार अलग-अलग समय के आध्यात्मिक जिज्ञासु केवल अपने समय के निर्वाण प्राप्त मार्गदर्शक अथवा सच्चे गुरु से ही सहायता और मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं और यह संसार ऐसे मार्गदर्शकों या सन्त-महात्माओं से कभी ख़ाली नहीं रहा है।

जीवित गुरुओं की अटूट शृंखला

इस अपूर्ण संसार में कोई भी तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक वह उस परिपूर्ण, परम सत्य के साथ मिलाप नहीं कर लेता जो सबका आधार है। कुछ बौद्ध-गुरु उस परम शक्ति को 'आदि-बुद्ध' अथवा 'समन्तभद्र' कहते हैं। अन्य परम्पराओं में उस सर्वोच्च सत्य के लिए 'परमात्मा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं और परम्पराओं में बेशक अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया जाता है परन्तु वह शाश्वत सत्य अन्ततः विचार और वाणी से परे है।

बौद्धधर्म की इस व्याख्या के अनुसार 'आदि-बुद्ध' जो कल्याणमय हैं, अपार करुणा के भण्डार हैं और जो सबके मूलस्रोत हैं, गौतम बुद्ध सहित सभी बुद्ध-महात्माओं से पहले से हैं। ऐसा माना जाता है कि सभी बुद्ध उस 'आदि-बुद्ध' से ही प्रकट हुए हैं। अतः उन्हें 'आदि-बुद्ध' का साकार रूप माना जाता है।

डब्ल्यू. वाई. इवैंस वैंज़ संकेत करते हैं कि पूर्ण गुरु प्रेम और करुणा को प्रसारित कर पूरे संसार का कल्याण करते हैं:

> जिस प्रकार सूर्य धरती पर उगनेवाले अनाज और फल को पकाता है, उसी प्रकार पूरे संसार पर अपने सर्वव्यापी प्रेम और करुणा को विकीर्ण कर निर्वाण प्राप्त महात्मा सभी प्राणियों में निहित बौद्ध-सारतत्त्व का विकसित और परिपक्व बनाने का साधन बनते हैं।[360]

चूँकि सभी सच्चे बुद्ध-महात्माओं ने उसी एक परम सत्य का साक्षात्कार किया है, इसलिए वे वास्तव में एक ही परम शक्ति का रूप माने जाते हैं। *सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र)* में कहा गया है:

> वे (बुद्ध) हमेशा संसार में प्रकट होते रहते हैं और परिस्थितियों के अनुरूप कार्य करते हैं। वे वास्तव में परमेश्वर ही हैं, धर्म के स्वामी हैं और जो संसार में उच्चतम हैं, उनके भी स्वामी हैं।[361]

सच्चे आध्यात्मिक गुरु के विषय में चर्चा करते हुए पैट्रुल रिनपोचे स्पष्ट करते हैं:

> आध्यात्मिक गुरु स्वयं बुद्ध के समान होते हैं। वे पूर्वकालीन बुद्ध महात्माओं के सन्देशवाहक होते हैं, वर्तमान समय में स्वयं बुद्ध का मूर्तरूप होते हैं और अपने उपदेश के द्वारा भविष्य में प्रकट होनेवाले बुद्ध-महात्माओं का स्रोत होते हैं।[362]

> एक सर्वगुण सम्पन्न गुरु दशों दिशाओं के सभी बुद्ध-महात्माओं के करुणामय ज्ञान का मूर्तरूप होते हैं जो दूसरों के कल्याण के लिए एक साधारण मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं...ऐसे गुरु जिनमें ये सभी गुण हैं, एक विशाल समुद्री जहाज़ के समान हैं जिसमें बैठकर संसार-सागर को पार किया जा सकता है। एक समर्थ जहाज़-चालक के समान वे हमारे लिए मुक्ति तथा पूर्ण ज्ञान का एक निश्चित मार्ग निर्धारित करते हैं। अमृतवर्षा के समान वे पाप कर्मों और मनोविकारों की ज्वाला को शान्त करते हैं। सूर्य और चन्द्रमा के समान वे धर्म के प्रकाश का प्रसार करते हैं और अज्ञानता के घने अन्धकार को दूर करते हैं। धरती के समान वे बड़े धीरज से समस्त कृतघ्नता और निराशा को सहन करते हैं और सम्पूर्ण सृष्टि तथा इसके क्रियाकलापों को अपनी विशाल दृष्टि से देखते हैं। कल्पवृक्ष के समान वे इस जीवन में हर प्रकार से सहायता प्रदान करते हैं और परलोक में समस्त आनन्द का स्रोत हैं।[363]

पाबोंग्का रिनपोचे भी कहते हैं:

> ऐसे गुरु स्वभावतः सभी बुद्ध-महात्माओं जैसे होते हैं। तुम्हें अवश्य ही यह विश्वास करना चाहिए कि गुरु वे हस्ती हैं जिनके देहरूप में सभी बुद्ध-महात्माओं का आदि ज्ञान समाहित है।[364]

इसी कारण वे कहते हैं:

> *इसलिए आपको एक पूर्ण रूप से योग्य आध्यात्मिक गुरु पर विश्वास करना चाहिए।*[365]

क्योंकि बुद्ध परम सत्य के साथ एकाकार हो चुके होते हैं, अतः उन्हें सबसे महान् आत्मा माना जाता है। कोई उनसे अधिक शक्तिशाली नहीं हो सकता। आरम्भिक पालि धर्म साहित्य में महात्मा बुद्ध के एक बहुत ही निपुण शिष्य शारिपुत्र ने महात्मा बुद्ध की उपस्थिति में उनकी महानता के बारे में इस प्रकार कहा:

> *मुझे महात्मा बुद्ध पर इतना दृढ़ विश्वास है कि मैं सोचता हूँ कि ऐसा संन्यासी अथवा ब्राह्मण न कभी हुआ है, न कभी होगा और न ही अभी कोई ऐसा है जो आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से इस महान् आत्मा से बढ़कर हो।*[366]

महात्मा बुद्ध ने शारिपुत्र से प्रश्न किया कि वे पहले हो चुके, इस समय के और भविष्य में प्रकट होनेवाले सभी गुरुओं को जाने बिना इस प्रकार का सिंहनाद (इतनी बड़ी और साहसी घोषणा) कैसे कर सकते हैं। शारिपुत्र ने एक तुलना द्वारा इसे स्पष्ट किया। उन्होंने सर्वोच्च ज्ञान की तुलना एक राजा के ऐसे दुर्ग से की जिसका केवल एक ही दरवाज़ा है; अतः इस दुर्ग में प्रवेश करनेवाले हर व्यक्ति को इसी दरवाज़े से दुर्ग के अन्दर जाना है।[367] इसी प्रकार मार्ग और लक्ष्य एक होने के कारण कोई महात्मा पूर्ण गुरु के बराबर तो हो सकता है, परन्तु कभी भी उनसे बड़ा नहीं हो सकता। महात्मा बुद्ध ने शारिपुत्र की व्याख्या को उचित ठहराया।[368]

यह कथन कि मनुष्य को अपने समय के सच्चे आध्यात्मिक गुरु की खोज करनी चाहिए, तभी सार्थक हो सकता है यदि ऐसे गुरु हमेशा संसार में मौजूद हों। बौद्धधर्म में भी बिल्कुल ऐसा ही माना जाता है।

सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र) में महात्मा बुद्ध ने बताया है कि अपने इस जीवन में मिलने वाले गुरुओं के अतिरिक्त उन्होंने अपने पूर्वजन्मों में भी बहुत-से गुरुओं से प्रशिक्षण प्राप्त किया था:

> *पूर्वकाल में बहुत-से प्रबुद्धजनों की संगति में मैने उस मार्ग का अनुगमन किया है जो गहन और सूक्ष्म है और जिसे देखना और जानना बहुत कठिन है।*[369]

इसके बाद महात्मा बुद्ध उन गुरुओं की अटूट शृंखला की चर्चा करते हैं जो "एक के बाद एक निरन्तर क्रमानुसार प्रकट होते रहेंगे।" वे कहते हैं:

> *दया और करुणा से प्रेरित होकर वे क्रमशः अपने-अपने उत्तराधिकारी के विषय में पहले ही इस प्रकार भविष्यवाणी करेंगे, "मेरे बाद यह मेरा उत्तराधिकारी होगा और वैसे ही संसार को उपदेश देगा जैसे इस समय मैं दे रहा हूँ।"*[370]

पैट्रुल रिनपोचे भी इस तथ्य को सामने लाते हैं कि शिष्य तथा गुरु का सम्बन्ध आदिकाल से आज तक अखण्ड रूप से चलता आ रहा है।[371] वे इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं:

> *वास्तव में, प्रत्येक शताब्दी में (वर्तमान शताब्दी में भी) और हर पीढ़ी ने आध्यात्मिक महापुरुषों को जन्म दिया है।*[372]

इस प्रकार लगनशील जिज्ञासुओं के लिए मुक्ति का मार्ग हमेशा खुला रहा है। गम्पोपा कहते हैं:

> *ऐसे महात्मा भी हैं जिन्होंने बुद्धत्व की प्राप्ति कर ली है और जो इस संसार में दिव्य-अवतारों के रूप में प्रकट होकर इस भौतिक*

संसार में प्रलय-काल तक मानव जाति तथा अन्य सभी जीवित प्राणियों की मुक्ति के लिए कार्य करते रहते हैं। यह तथ्य पावन धर्म की महानता को दर्शाता है।

यह अपार आनन्द की बात है कि वह मुक्ति का मार्ग जिसका सभी बुद्ध-महात्माओं ने अनुगमन किया है, शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है और उन सभी जीवात्माओं के लिए सदैव खुला रहता है जो इस पर चलने के लिए तैयार हैं।[373]

बौद्धधर्म के अनुसार इस संसार में कम से कम एक गुरु सदैव मौजूद रहते हैं। जैसा कि पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

उनके बीच (संसार के लोगों के बीच) बुद्ध का (कम से कम) एक प्रकट रूप अवश्य होता है।[374]

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात का ध्यान रखना चाहिए: चूँकि एक सच्चे गुरु देहरूप तक ही सीमित नहीं होते, अतः वे देह त्यागने के बाद भी अपने शिष्यों की सँभाल करते रहते हैं, इस बात का उदाहरण महात्मा बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द को दिया।

अपने देहावसान से तीन महीने पहले महात्मा बुद्ध गम्भीर रूप से बीमार हो गये थे। जब वे थोड़ा ठीक हुए तो आनन्द ने उन्हें बताया कि वे (आनन्द) उनकी बीमारी से इतने परेशान और चिन्तित थे कि वे धम्म (आध्यात्मिक साधना) की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दे पाते थे। इस पर महात्मा बुद्ध ने कहा:

हे आनन्द! भिक्षुओं के संघ को मुझसे क्या अपेक्षा है? हे आनन्द! मैंने गूढ़ ज्ञान तथा जनसाधारण की समझ में आनेवाले साधारण ज्ञान में बिना कोई भेदभाव किये धम्म का उपदेश दिया है।...

हे आनन्द! निश्चय ही यदि कोई ऐसा होता जिसके मन में यह विचार होता कि उसे संघ का नेतृत्व करना चाहिए या संघ उस पर निर्भर है, तो वह संघ से सम्बन्धित किसी भी विषय पर मार्गदर्शन दे सकता था। परन्तु तथागत सोचते हैं कि वे ऐसे नहीं हैं।... इसलिए, हे आनन्द! तुम्हारे भीतर जो ज्योति है, उसे प्रज्वलित कर निवास करो, उसकी शरण लो और कोई दूसरी शरण मत ढूँढ़ो। धम्म को ही प्रकाश-रूप जानकर इसे पकड़े रहो, धम्म की ही शरण लो और अन्य किसी की नहीं।[375]

यहाँ महात्मा बुद्ध संकेत देते हैं कि जिन व्यक्तियों को उन्होंने अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया है, उन्हें कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए। उन्हें किसी अन्य गुरु की शरण लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें पूरी लगन से उस धर्म का अभ्यास करना चाहिए जिसका उन्हें उपदेश दिया गया है और अपने भीतर प्रकाश प्रज्वलित करने की कोशिश करनी चाहिए।

अपने देहत्याग के समय महात्मा बुद्ध पुनः इस बात पर बल देते हुए अपने शिष्यों से आग्रह करते हैं कि उन्हें उनके (बुद्ध के) उपदेशों पर पूरा विश्वास करना चाहिए और पूरी निष्ठा से उनका पालन करना चाहिए, क्योंकि केवल उनके उपदेश ही उनके शिष्यों का मार्गदर्शन करेंगे। वे आनन्द से कहते हैं:

हे आनन्द! हो सकता है कि मेरे देहावसान के बाद तुम ऐसा सोचो, "अब हम गुरु के वचनों से वंचित हो गये हैं; अब हमारा कोई गुरु नहीं है।" परन्तु तुम्हें ऐसा नहीं सोचना चाहिए, क्योंकि हे आनन्द! जिस उपदेश (धम्म) और अनुशासन (विनय) की मैंने तुम्हें शिक्षा दी है और जिसका पालन करने के लिए तुम्हें कहा है, वही मेरे देहत्याग के बाद तुम्हारा मार्गदर्शक होगा।[376]

गुरु का दायित्व

एक पूर्ण गुरु अपने ऊपर जो दायित्व लेते हैं, वह वास्तव में एक गम्भीर दायित्व है। केवल गुरु ही ऐसे गम्भीर दायित्व को उठाने की क्षमता रखते हैं और उसे पूरा भी कर सकते हैं। वे बड़े प्रेम से अपने शिष्यों को जन्म-मरण के जटिल चक्र से छुटकारा दिलाने की ज़िम्मेदारी लेते हैं। वास्तव में, ज्ञान और करुणा के सागर गुरु केवल इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए अपने परम आनन्द के धाम से इस दुःख-भरे संसार में अवतरित होते हैं। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार महात्मा बुद्ध ने इस संसार में अपने आने के उद्देश्य के बारे में बताया है:

> *मैं तथागत हूँ, अपना जीवन सफल बना चुका हूँ, अजेय हूँ। मैंने दूसरों के उद्धार के लिए ही इस संसार में जन्म लिया है।*[377]

करुणा के जिस भाव से प्रेरित होकर सभी बुद्ध अपना कार्य करते हैं, पाबोंग्का रिनपोचे उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं:

> *बुद्ध निश्चित रूप से सभी चेतन प्राणियों की अवस्था से परिचित हैं। एक माँ अपनी इक़लौती सन्तान से जितना प्रेम करती है, उससे भी कहीं अधिक प्रेम वे सभी प्राणियों से करते हैं और सदैव उनके लिए कल्याणकारी कार्य करने का भरपूर प्रयास करते हैं। उनके स्वभाव को देखते हुए यह कैसे हो सकता है कि वे इस समय हमारे लिए कुछ भी न करें?... बुद्ध इतने कठोर हृदय नहीं हैं कि वे हमें त्याग दें और हमारे लिए कुछ नहीं करें। वे अवश्य ऐसा करते ही हैं।*[378]

गुरु के उद्देश्य को समझाने के लिए *सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र)* में एक कहानी दी गयी है। इस कहानी में महात्मा बुद्ध समझाते हैं कि वह अपने परम आनन्द के धाम को छोड़कर मनुष्य रूप धारण करके इस संसार में अपने पुत्र की खोज में आये हैं जो अपने पिता और अपने

दिव्य मूल का ज्ञान न होने के कारण खो गया है। वह इस संसार में भटक रहा है, एक तुच्छ नौकर के रूप में काम करते हुए कष्टों से भरा जीवन बिता रहा है। इस कहानी में महात्मा बुद्ध को एक अत्यन्त धनवान् व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है जो एक साधारण मज़दूर के रूप में अपने पुत्र से मिलने आते हैं और धीरे-धीरे उसका विश्वास और सम्मान प्राप्त कर लेते हैं।

धीरे-धीरे वे अपने पुत्र में सारे आवश्यक गुणों को विकसित करके अन्ततः उसे अपने वैभवशाली महल में आने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। पुत्र के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता जब उसे पता चलता है कि अमूल्य निधियों से भरे हुए इस भव्य महल का मालिक वास्तव में और कोई नहीं उसका मज़दूर दोस्त ही है। वह यह देखकर चकित रह जाता है कि सभी उसका स्वागत धनी व्यक्ति के पुत्र के रूप में कर रहे हैं और वह उनकी समस्त सम्पत्ति का उत्तराधिकारी है।[379]

एक पूर्ण गुरु हमें मुक्ति का मार्ग बताते हैं और हमें उनके दिये गये उपदेशों का पालन पूरी लगन से करने के लिए प्रेरित करते हैं। जब हम पूरी श्रद्धा से उनके उपदेशों का पालन करते हैं तो हम मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ने लगते हैं। गुरु के आन्तरिक अनुभवों पर आधारित उनके उपदेशों के अनुसार अभ्यास करके ही शिष्य मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। गुरु कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करते, न चमत्कारों द्वारा कोई प्रदर्शन करते हैं और न ही कोई अन्य साधन अपनाते हैं। पाबोंग्का रिनपोचे स्पष्ट करते हैं:

> *महापुरुष पानी से पापों की*
> *मैल नहीं धोते,*
> *वे अपने हाथों के स्पर्श से*
> *जीवों की पीड़ा दूर नहीं करते,*
> *वे परम सत्य (तथता) के*
> *अपने अनुभव दूसरों को प्रदान नहीं करते,*

अपितु वे तथता की
वास्तविकता के बारे में उपदेश
देकर अपने शिष्यों को मुक्त करते हैं।[380]

सच्चे गुरु अपनी शक्तियों का सार्वजनिक प्रदर्शन नहीं करते जैसा कि आगे दी गयी कहानी द्वारा स्पष्ट होता है। एक बार सुनक्षत्र नाम का व्यक्ति जो हाल ही में महात्मा बुद्ध के संघ में शामिल हुआ था, महात्मा बुद्ध को यह सूचित करने आया कि चूँकि उन्होंने कोई अलौकिक चमत्कार नहीं दिखाया, इसलिए वह अब इस पावन-मार्ग का अनुसरण नहीं कर रहा है। महात्मा बुद्ध ने पूछा कि क्या उन्होंने संघ में शामिल होने के लिए सुनक्षत्र से निवेदन किया था या फिर उन्होंने उससे यह वादा किया था कि अगर वह संघ में शामिल होगा तो वे कुछ चमत्कार दिखायेंगे? स्वाभाविक ही था कि सुनक्षत्र ने दोनों प्रश्नों का 'ना' में उत्तर दिया। महात्मा बुद्ध ने फिर पूछा कि क्या कभी सुनक्षत्र ने यह कहा कि वह केवल चमत्कार देखने के लिए महात्मा बुद्ध के संघ में शामिल हो रहा है? सुनक्षत्र ने एक बार फिर 'ना' में उत्तर दिया। आख़िर में महात्मा बुद्ध ने सुनक्षत्र से पूछा कि क्या पावन मार्ग पर पूर्णता प्राप्त करने में और महात्मा बुद्ध द्वारा अलौकिक चमत्कार दिखाने या न दिखाने में क्या कोई सम्बन्ध है? सुनक्षत्र ने इस अन्तिम प्रश्न का भी 'ना' में उत्तर दिया। इस पर महात्मा बुद्ध ने कहा:

दुःखों का अन्त कर देनेवाले पावन-मार्ग पर यदि मेरे चमत्कार दिखाये बिना ही पूर्णता प्राप्त हो जाती है तो फिर मैं चमत्कार क्यों दिखाऊँ?[381]

वास्तविक चमत्कार – यदि इसे चमत्कार कहें – तो यह है कि महात्मा बुद्ध अपने शिष्य को वह मार्ग दिखाते हैं जिसका लगनपूर्वक, निष्ठा से अभ्यास करने पर दुःखों का पूरी तरह से अन्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त

पूर्ण गुरु, तथागत, जिन्होंने अपने शिष्यों की मुक्ति का बीड़ा उठाया है, उनका महान् दायित्व यह है कि वे अपने शिष्यों के जीवन की सबसे मुश्किल घड़ी में अर्थात् मृत्यु के समय उनके साथ रहते हैं। वह मृत्यु के समय उनके सामने प्रकट होकर उन्हें अपने आनन्द-धाम 'सुखावती' में ले जाते हैं। *बृहत् (लार्जर) सुखावती-व्यूह* में महात्मा बुद्ध अपने प्रिय सेवक और शिष्य आनन्द से कहते हैं:

हे आनन्द! जो निरन्तर श्रद्धापूर्वक तथागत का चिन्तन करते हैं, जो बोधि के ध्यान में मग्न होकर अपने सत्कर्मों के अनन्त भण्डार को बढ़ाते जाते हैं और जो उस लोक में जन्म लेने के लिए प्रार्थना करते हैं, ऐसी जीवात्माओं की मृत्यु के समय 'अमिताभ' यानी 'तथागत' उनकी आँखों के सामने अपने पावन, ज्योतिर्मय स्वरूप में प्रकट हो जायेंगे... और फिर भगवत् (पुण्य महात्मा) का दर्शन करके, वे ख़ुशी से भरपूर अपनी मृत्यु के पश्चात् सुखावती लोक में जन्म लेंगे।[382]

जो दायित्व एक गुरु अपने ऊपर लेते हैं और जिसे वे पूरा करते हैं, उसकी महानता एक अज्ञानी मनुष्य नहीं समझ सकता। उन शिष्यों को भी, जो अभी आन्तरिक लोकों में नहीं पहुँच सके हैं और जिन्हें इस तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है कि गुरु हमारी कितनी सहायता और रक्षा करते हैं और हम पर कितनी दया और करुणा की वर्षा करते हैं, यह शायद अविश्वसनीय-सा ही लग सकता है।

शिष्य का दृष्टिकोण

एक पूर्ण गुरु का कार्य-व्यवहार देखकर उनके शिष्य धन्य हो जाते हैं और उनका हृदय अपने सतगुरु के प्रति अपार कृतज्ञता से भर जाता है। अपने शिष्यों के कल्याण के लिए गुरु अपना परम धाम छोड़कर सब प्रकार की कठिनाइयों से भरे इस संसार में मनुष्य रूप में अवतरित होते हैं।

इसमें उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। अपने शिष्यों को चिताने, उन्हें उपदेश देने, उनका मार्गदर्शन करने तथा उनका साथ देने के लिए गुरु हर सम्भव प्रयास करते हैं। जब तक शिष्य परम धाम तक नहीं पहुँच जाते, तब तक समस्त आन्तरिक लोकों से गुज़रते हुए गुरु निरन्तर उनकी रक्षा करते हैं और उन पर अपनी दया बरसाते हैं। यह सब केवल गुरु का प्रेम और करुणा ही तो है। क्या गुरु से बढ़कर कोई और परोपकारी हो सकता है?

शिष्य अपने आप से यह सवाल कर सकते हैं कि गुरु हमारी भलाई के लिए जो कार्य कर रहे हैं, उसे आसान बनाने के लिए क्या हमें यथाशक्ति उनकी कोई सहायता नहीं करनी चाहिए? भले ही अपनी सीमाओं के कारण हम बहुत ही कम सहयोग दे सकें, तो भी क्या हमारे लिए यह उपयुक्त नहीं होगा कि हम अपना कार्य अपनी पूरी शक्ति के साथ करें? आध्यात्मिक मार्ग का अभ्यास करना ही हमें अपना परम कर्त्तव्य समझना चाहिए और शिष्य होने के नाते यह वस्तुतः हमारे लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस सम्बन्ध में गुरु और उनके उपदेश के प्रति हमारा दृष्टिकोण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सतगुरु जीवनपर्यन्त अथक रूप से अपने शिष्यों को उपदेश देते रहते हैं और उन्हें प्रेरित करते रहते हैं कि वे उनके उपदेश का पालन करें, क्योंकि मुक्ति प्राप्त करने का यही एकमात्र उपाय है। यह शिष्य का पावन कर्त्तव्य है कि वह गुरु द्वारा बताये गये आध्यात्मिक अभ्यास को पूरी निष्ठा से करे और यही एक पूजनीय गुरु की वास्तविक पूजा है। महात्मा बुद्ध के देहत्याग के समय जब पुष्प-वर्षा और चन्दन-धूलि से उनका सम्मान किया जा रहा था, तब महात्मा बुद्ध ने अपने सबसे प्रिय शिष्य आनन्द को जो अन्तिम शब्द कहे, वे इस प्रकार थे:

> *हे आनन्द! भले ही यह श्रद्धांजलि तथागत के सम्मान में दी जा रही है, परन्तु तथागत के आदर-सत्कार, मान-सम्मान और पूजा-अर्चना की यह सही विधि नहीं है। यदि भिक्षु, भिक्षुणियाँ और सभी गृहस्थ उपासक मेरे उपदेश के अनुसार जीवन व्यतीत करते रहें और दृढ़ता से मेरे उपदेश का पालन करते रहें, तो वे सही ढंग से मेरा आदर-सत्कार और मान-सम्मान कर रहे होंगे और यही मेरे प्रति उनका सच्चा सम्मान और सच्चा सत्कार होगा। इसलिए हे आनन्द! तुम्हें मेरे उपदेश के अनुसार कार्य करना चाहिए, मेरे सभी निर्देशों का पालन करना चाहिए, और यही शिक्षा दूसरों को भी देनी चाहिए। यही सर्वोच्च पूजा होगी जो मुझे सर्वाधिक प्रसन्नता देगी।*[383]

आध्यात्मिक अभ्यास में सफलता प्राप्त करने के लिए गुरु के प्रति पूर्ण भक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

> *अपने गुरु की ख़ुशी प्राप्त करने का सबसे उत्तम उपाय है कि उनके निर्देशों का पालन किया जाये।*[384]

> *सबसे पहले तुम्हें चाहिए कि तुम अपने आध्यात्मिक मार्गदर्शक के प्रति पूरी श्रद्धा रखो और उनके निर्देशों के अनुसार अभ्यास करो।*[385]

चूँकि शिष्य अज्ञानी है और गुरु पूर्ण ज्ञानी हैं, शिष्य दुर्बल है और गुरु सर्वसमर्थ हैं, शिष्य भटका हुआ है और गुरु मार्गदर्शक हैं, अतः यह बहुत आवश्यक है कि शिष्य मार्गदर्शक के पास पूरी नम्रता से जाये और पूरे विश्वास और लगन से उनके निर्देशों का पालन करे। ऐसा किये बिना शिष्य कोई प्रगति नहीं कर सकता। गम्पोपा कहते हैं:

> *शिष्य का अपने आध्यात्मिक गुरु के साथ एक लम्बे अरसे तक रहना व्यर्थ होगा अगर उसके अन्दर नम्रता और श्रद्धा नहीं हैं; और ऐसी स्थिति में उसकी कोई आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती।...*

परन्तु जिसकी अपने गुरु के प्रति अडिग नम्रता और विश्वास है, चाहे वह गुरु के पास रहे या न रहे, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता।[386]

लोंग्चेन्पा कहते हैं:

अपने गुरु को बुद्ध के रूप में देखना ही तुम्हारा प्राथमिक उद्देश्य होना चाहिए, इसके अतिरिक्त कोई और दृष्टिकोण अपनाने से मार्ग पर सफलता प्राप्त करने अथवा अपने हित की कोई सम्भावना होने में खलल पड़ जाती है।[387]

एक प्रबुद्ध गुरु को केवल एक साधारण मनुष्य के रूप में देखना बहुत बड़ी भूल है और इसके लिए अन्ततः पछताना पड़ता है। जैसा कि पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

एक पूर्ण गुरु से भेंट होना
एक साम्राज्य प्राप्त करने से कहीं अधिक
मूल्यवान है।
उनकी ओर देखो जो बिना श्रद्धा के
किस प्रकार गुरु को अपने बराबर मानते हैं![388]

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध तिब्बती बौद्धगुरु 'नारोप' के उपदेश को प्रस्तुत करते हुए *हरबर्ट ग्येन्थर (Herbert Guenther)* कहते हैं:

गुरु-शिष्य के सम्बन्ध के विषय में यह सूक्ति है कि गुरु को कभी भी मनुष्य नहीं समझना चाहिए।[389]

सभी शिष्यों के अनुभव की यह एक प्रमाणिक पहचान है कि उन्हें कभी न कभी यह अनुभव अवश्य हो जाता है कि उनके देहधारी गुरु साधारण मनुष्य से कहीं बढ़कर हैं; और तब गुरु के प्रति उनकी श्रद्धा,

सहज रूप से और अधिक बढ़ जाती है। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि किस प्रकार द्रोण नाम का ब्राह्मण महात्मा बुद्ध का दर्शन करते ही आश्चर्यचकित हो गया। महात्मा बुद्ध से प्रभावित होकर कुख्यात डाकू अंगुलिमाल का महात्मा बुद्ध के पावन-मार्ग पर आने की घटना एक और विलक्षण दृष्टान्त है जिससे हमें महात्मा बुद्ध की साकार उपस्थिति की दिव्य शक्ति का ज्ञान होता है।

अंगुलिमाल—यानी वह जो अंगुलियों की माला पहनता था—एक कुख्यात डाकू और हत्यारा था जो अंगुलिमाल के नाम से इसलिए जाना जाता था क्योंकि वह उन लोगों की अंगुलियों की माला पहनता था जिनकी वह हत्या करता था। उसने राजा प्रसेनजित के राज्य में आतंक मचा रखा था। महात्मा बुद्ध उन दिनों उस राज्य की राजधानी के पास ही रह रहे थे। एक दिन महात्मा बुद्ध उस रास्ते पर चल पड़े जो अंगुलिमाल के ख़तरनाक क्षेत्र की ओर जाता था। जिन लोगों ने महात्मा बुद्ध को उस रास्ते पर जाते देखा, उन्होंने बार-बार उन्हें आगे बढ़ने से रोका। परन्तु महात्मा बुद्ध आगे बढ़ते रहे। *मज्झिम निकाय* में इस घटना का विस्तार से वर्णन किया गया है और यहाँ हम इस घटना के कुछ उद्धरण देकर संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं:

डाकू अंगुलिमाल ने दूर से महान् पुण्यात्मा को आते हुए देखा। उन्हें देखकर उसके मन में विचार आया, 'क्या चमत्कार है, क्या शानदार दृश्य है। यह वह मार्ग है जिस पर दस, बीस, तीस, चालीस या पचास लोग झुण्ड बनाकर चलते हैं और इसके बावजूद मेरा शिकार बन जाते हैं। इस श्रमण की ओर देखो जो अकेले ही इधर आने का दुस्साहस कर रहा है। मैं निश्चय ही इसे मार डालूँगा।

डाकू अंगुलिमाल ने अपनी तलवार, ढाल और तीर-कमान सम्भाला और उस पुण्यात्मा का पीछा करने लगा।

उस समय महात्मा बुद्ध ने अपनी शक्ति का ऐसा चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन किया कि डाकू अंगुलिमाल पूरी ताक़त लगाकर दौड़ने पर

भी महात्मा बुद्ध को पकड़ नहीं सका, जबकि वे अपनी सामान्य चाल से चल रहे थे। डाकू अंगुलिमाल ने सोचा: "यह वास्तव में बहुत आश्चर्यजनक है, बहुत ही हैरान कर देनेवाला है। मैं तो पहले एक दौड़ते हुए हाथी पर हमला करके उसे पकड़ लेता था, एक भागते हुए घोड़े, एक दौड़ते हुए रथ को पकड़ लेता था, परन्तु आज मैं सामान्य चाल से चल रहे एक श्रमण को पकड़ नहीं पा रहा हूँ।" खड़े होकर उसने महात्मा बुद्ध को चिल्लाकर कहा, "हे श्रमण! रुक जाओ, श्रमण वहीं ठहर जाओ!" किन्तु महात्मा बुद्ध ने चलते-चलते यह कहा: "अंगुलिमाल मैं तो ठहर गया हूँ, तुम भी ठहर जाओ।..."

तब डाकू अंगुलिमाल ने महात्मा बुद्ध से कहा, "हे श्रमण! तुम चल रहे हो और कहते हो कि तुम स्थिर हो और मैं स्थिर खड़ा हूँ, तो तुम मुझे स्थिर हो जाने को कह रहे हो। मैं पूछता हूँ हे श्रमण! मुझे यह बात स्पष्ट करो। ऐसा कैसे है कि तुम स्थिर खड़े हो और मैं स्थिर नहीं हूँ?" महात्मा बुद्ध ने उसे समझाया, "अंगुलिमाल मैं हमेशा स्थिर रहता हूँ क्योंकि मैंने सभी प्राणियों के प्रति दण्ड (मारने-पीटने) का परित्याग कर रखा है। परन्तु तुम्हारा व्यवहार सभी जीवित प्राणियों के प्रति संयमरहित है। इसीलिए मैं खड़ा हूँ (शान्त हूँ) परन्तु तुम स्थिर खड़े नहीं हो (शान्त नहीं हो)।"[390]

महात्मा बुद्ध के साधारण किन्तु चुभते हुए शब्दों ने अंगुलिमाल के हृदय को बेध दिया। उसने अपनी तलवार और दूसरे हथियार फेंक दिये और महात्मा बुद्ध के चरणों में दण्डवत् करते हुए अपना शिष्य बना लेने की प्रार्थना करने लगा। बाद में जब राजा प्रसेनजित महात्मा बुद्ध के पास आये और वहाँ अंगुलिमाल को एक आज्ञाकारी शिष्य के समान उनके पास बैठे हुए देखा तो वे चकित रह गये। उन्होंने विस्मित होकर कहा:

प्रभु! यह चमत्कार है, आश्चर्यजनक बात है! आप कैसे अनियन्त्रित को नियन्त्रित करते हैं, अशान्त को शान्त कर देते हैं...हे प्रभु! जिसे मैं अस्त्र-शस्त्र से क़ाबू नहीं कर पाया, उसे आपने बिना अस्त्र-शस्त्र के ही क़ाबू में कर लिया![391]

ऐसा था महात्मा बुद्ध का करुणामय किन्तु सशक्त प्रभाव! यदि महात्मा बुद्ध चाहते, तो वे अत्यन्त भटके हुए अथवा हिंसक मनुष्यों को भी प्रभावित करके अपनी शरण में ला सकते थे।

शिष्य का कर्त्तव्य

- लोंग्चेन्पा के उपदेश अनुसार अपने आप को गुरु तथा आध्यात्मिक अभ्यास दोनों के प्रति समर्पित करना अति आवश्यक है।
- छः प्रकार के उपदेश जो इस मार्ग पर चलने के लिए पर्याप्त हैं, इस प्रकार हैं:
- एक जीवनकाल पूरी तरह पर्याप्त है – यह निर्णय अभी और इसी समय ले लो।
- आध्यात्मिक विकास का एक साधन पूरी तरह पर्याप्त है – अपने गुरु को बुद्ध-रूप जानो।
- केवल एक कर्म ही पूरी तरह से पर्याप्त है – अपने गुरु को बुद्ध रूप मानकर उनका ध्यान करो।
- एक प्रकार का प्रशिक्षण ही पूरी तरह पर्याप्त है – वे कर्म त्याग दो जो आध्यात्मिक नहीं हैं।
- एक ही साधन का साक्षात् परिचय प्राप्त करना पूरी तरह पर्याप्त है – मानसिक क्रियाकलापों के वास्तविक रूप का परिचय प्राप्त करना।
- एक व्यावहारिक युक्ति ही पूरी तरह से पर्याप्त है – निरन्तर 'तथता' के प्रति सचेत रहना।

यदि तुम इस उपदेश पर ध्यान दोगे, तो शीघ्र ही परमानन्द प्राप्त कर लोगे।[392]

यह देखकर एक गुरु को बहुत अधिक प्रसन्नता होती है कि उनके शिष्य अपना कर्त्तव्य पूरी ईमानदारी और लगन से निभा रहे हैं। यदि शिष्य उनकी ओर एक क़दम उठाता है तो वे शिष्य की ओर अनेक क़दम बढ़ाते हैं। कोई भी गुरु एकबारगी अपने शिष्य को परम धाम में नहीं पहुँचा देता। शिष्यों को भी अपनी ओर से शुद्धि की प्रक्रिया में अपना पूरा-पूरा सहयोग अवश्य देना पड़ता है। गुरु कहते हैं: देने का भी ज़रीया होता है, लेने का भी ज़रीया होता है। उनके उपदेश, उनका मार्गदर्शन और उनकी लगातार होनेवाली दया और कृपा ही उनके देने का ज़रीया अथवा ढंग है। उनके उपदेशों को ध्यानपूर्वक सुनना, उनके द्वारा बताये गये साधनों का लगनपूर्वक अभ्यास करना, पूरी श्रद्धा से निरन्तर उनको ध्यान में रखना, उनके वास्तविक स्वरूप को पहचानना, पूरी तरह उनकी आज्ञा में रहना और मन, वचन तथा कर्म से समर्पित होकर सेवा करना ही गुरु की अपार दया प्राप्त करने का ज़रीया है।

विभिन्न योनियों में जन्म-मरण की एक कल्पनातीत लम्बी शृंखला से गुज़रते हुए मनुष्य कर्मों की भारी परतें इकट्ठी कर लेता है। गुरु द्वारा बतायी गयी युक्ति के अनुसार पूरी श्रद्धा से नियमपूर्वक आध्यात्मिक अभ्यास करके कर्मों कि इन परतों को समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार जब शिष्य में धीरे-धीरे निर्मलता आती है और उसका हृदयरूपी बर्तन स्वच्छ और निर्मल हो जाता है, तब गुरु अपने आप उसमें सबसे पावन और दुर्लभ उपहार डाल देते हैं। गुरु की सुरक्षा और सहायता हर समय उपलब्ध रहती है और उनकी सहायता के बिना कोई अपने आप को कभी भी निर्मल नहीं कर सकता।

सच्चे गुरु तथा मार्गदर्शक अपने आप में पूर्ण होते हैं। वे अपनी ज़िम्मेदारियाँ निभाने और अपनी दात की बख़्शिश करने में न तो देर करते हैं, न हिचकिचाते हैं और न ही ग़लती करते हैं। यह तो हम हैं जो दुर्बल

और अपूर्ण होने के कारण बहुत बार सुस्त पड़ जाते हैं, लड़खड़ा जाते हैं और असफल भी हो जाते हैं। किन्तु वे हमारी ओर से निराश नहीं होते। वे हमें उबार लेते हैं और मार्ग पर पुन: लौट आने में हमारी सहायता करते हैं। इस बात पर अधिक से अधिक बल दिया गया है कि शिष्य को अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिए भरसक प्रयास करने की आवश्यकता है, साथ ही इस तथ्य के समझने पर भी बल दिया गया है कि हम अपने सीमित प्रयासों से पर्वत को नहीं हिला सकते, बल्कि गुरु की असीम अनुकम्पा और आशीष से ही ऐसा महान् कार्य पूरा हो सकता है।

एक ब्राह्मण को यह बात स्पष्ट करते हुए कि महात्मा बुद्ध के कुछ शिष्य क्यों अपने इसी जीवनकाल में निर्वाण प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं, जबकि अन्य शिष्य अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाते, महात्मा बुद्ध कहते हैं कि ऐसा इसलिए है, क्योंकि कुछ शिष्य बहुत सचेत और लगनशील हैं जबकि अन्य शिष्य आध्यात्मिक अभ्यास में लापरवाह और आलसी हैं। वे कहते हैं:

निब्बान वही है, निब्बान की ओर ले जानेवाला मार्ग भी वही है और उनका गुरु भी मैं ही हूँ। फिर भी मेरे कुछ शिष्य पूरी निष्ठा और समर्पण-भाव से मेरे उपदेश के अनुसार अभ्यास करते हैं और निब्बान प्राप्त कर लेते हैं, जबकि अन्य शिष्य ऐसा नहीं कर पाते। हे ब्राह्मण! तथागत तो केवल मार्गदर्शक हैं (जो मार्ग पर चलनेवाले मुसाफ़िर की केवल सहायता ही कर सकते हैं)।[393]

आध्यात्मिकता अभ्यास द्वारा ही विकसित होती है और कोई भी व्यक्ति निष्ठापूर्वक प्रयास किये बिना इसकी प्राप्ति नहीं कर सकता। जो शिष्य स्वयं अपने आध्यात्मिक दायित्व निभाने में आलसी अथवा लापरवाह है, वह गुरु या मार्ग को दोषी ठहराता है, परन्तु उसके लिए और कोई नहीं अपितु वह स्वयं ही दोषी है। पैटुल रिनपोचे इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं:

धर्म किसी की सम्पत्ति नहीं है। यह उसी की है जिसे इसकी तीव्र इच्छा है। महात्मा बुद्ध ने स्वयं सैकड़ों कठिनाइयों को सहन करके इस उपदेश को प्राप्त किया था।[394]

वे कहते हैं कि ग़लती से कुछ लोग ऐसा सोचते हैं:

करुणा से भरे गुरु अपने शिष्यों को दिव्य लोकों में इस प्रकार उछाल देंगे मानों पत्थर उछाल रहे हों। परन्तु जब हम यह कहते हैं कि गुरु अपनी करुणा से अपना लेते हैं, तो वास्तव में इसका अर्थ है कि उन्होंने प्रेमपूर्वक हमें अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया है, वे हमें अपना गूढ़ उपदेश देते हैं, हमें इस बात के प्रति सचेत करते हैं कि हमें क्या करना है और क्या नहीं करना है। वे हमें मुक्ति का वह मार्ग बताते हैं जिसका उपदेश अजेय महात्मा बुद्ध ने दिया है। इससे अधिक दया और क्या हो सकती है? अब यह हम पर निर्भर है कि हम इस दया से लाभ उठाते हैं या नहीं और सचमुच में मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं या नहीं... हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अन्तिम रूप से संसार तथा निर्वाण में से किसी एक का चुनाव कर लें और अपने गुरु के निर्देशानुसार अभ्यास में लग जायें।[395]

वे आगे कहते हैं:

किसी गुरु को स्वीकार कर लेना, परन्तु उनकी आज्ञा का पालन न करना ऐसा ही है जैसे अपने डॉक्टर का कहना न मानना। फिर तो डॉक्टर को आपकी बीमारी का इलाज करने का कोई उपाय ही नहीं रह जाता। धर्मरूपी औषधि का सेवन न करना, यानी धर्म का अभ्यास न करना, ऐसा ही है जैसे आपके सिरहाने अनगिनत दवाइयाँ और डॉक्टरी परामर्श पड़े हों, परन्तु आपने

उन्हें कभी छुआ तक नहीं। इससे आपकी बीमारी कभी दूर नहीं होगी।[396]

समाधिराज सूत्र में कहा गया है:

फिर भी रोगी इस अत्यन्त स्वास्थ्यवर्द्धक
और बहुमूल्य औषधि का सेवन
नहीं करता, जो इसका अचूक इलाज है।
डॉक्टर को दोषी मत ठहराओ,
औषधि में कोई दोष नहीं है,
बल्कि रोगी स्वयं इसके लिए दोषी है।[397]

अत: पाबोंग्का रिनपोचे अन्त में कहते हैं:

यह पूरी तरह आप पर निर्भर है कि आप गुरु के निर्देशों और उपदेशों के अनुसार अभ्यास करते हैं या नहीं। आपको अपने बहुमूल्य मनुष्य-जीवन को सार्थक करने तथा अपने जीवन के अन्त तक धर्म को आत्मसात् करने का अधिक से अधिक प्रयास करना चाहिए।[398]

धर्म कोई छोटा-मोटा विषय नहीं है। बौद्धधर्म में इसे जीवन-मरण का महत्त्वपूर्ण विषय माना जाता है। गुरु को खोज लेना ही पर्याप्त नहीं है। शिष्य को धर्म के अनुसार अपनी प्राथमिकताएँ निश्चित करनी होंगी। ज़ेन गुरु बस्सुई टोकुशो उपदेश देते हैं:

एक प्राचीन महात्मा (नौवीं शताब्दी के ज़ेन गुरु सोज़न हँजाकु) कहते थे: इस विषय को आत्मसात् करने के लिए उस व्यक्ति के समान बनो जिसने चावल के विनाशकारी रोगाणुओं से प्रदूषित

एक गाँव में से गुज़रते हुए पानी का एक घूँट तक नहीं ग्रहण किया – तभी आप इसमें सफल हो पाओगे।[399]

गुरु तथा उनके उपदेश को पूरी तरह मानने तथा ग्रहणशीलता का भाव रखकर उपदेश का अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है। दोजेन जेन्ज़ी *पॉइन्ट्स टू वॉच इन प्रैक्टिसिंग द वे (गाकुडो-योजिन-शु)* में कहते हैं:

एक प्रबुद्ध गुरु के निरीक्षण में अभ्यास करने से प्राप्त हुई शक्ति द्वारा धर्म का अर्थ स्पष्ट हो जाता है तथा मार्ग की प्राप्ति हो जाती है; गुरु के वचन को ध्यान से सुनो, और उन्हें अपने विचारों के अनुकूल बनाने के लिए तोड़ो-मरोड़ो नहीं। जब तक तुम गुरु के वचनों की व्याख्या अपने विचारों के अनुसार करते रहोगे, तुम अपने गुरु के धर्मोपदेश को समझ नहीं पाओगे। जब तुम गुरु के सान्निध्य में रहकर अभ्यास करते हो और धर्म के विषय में उनके निर्देश को ग्रहण करते हो, तो अपने शरीर तथा मन को पवित्र रखो और अपने कानों और आँखों को खुले रखो, (यानी पूरी तरह सचेत रहो)। अपने गुरु के धर्मोपदेश को सुनो और अपनी भावनाओं के आधार पर जाँचे-परखे बिना ही इसे स्वीकार करो। तुम्हारा शरीर और मन एकाग्र होना चाहिए (गुरु के धर्मोपदेश को ऐसे ग्रहण करो) जैसे कि पानी को एक बर्तन से दूसरे बर्तन में डाला जा रहा हो। यदि तुम ऐसे बन जाओगे तो तुम गुरु का धर्मोपदेश आत्मसात् करने में असफल नहीं होओगे।[400]

शौबोगेन्ज़ो-ज़ूमान्की (Shobogenzo-Zuimonki) में दोजेन जेन्ज़ी इसी विचार पर ज़ोर देते हुए कहते हैं:

इस संसार में बहुत-से लोग कहते हैं कि वे अपने गुरु के वचनों को सुनते हैं, परन्तु ये वचन उनके अपने विचारों से मेल नहीं खाते।

ऐसा दृष्टिकोण रखना एक भूल है। मैं समझ नहीं पाता हूँ कि वे लोग ऐसी बातें कैसे कह देते हैं। क्या वे ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि पवित्र ग्रन्थों के उपदेशों में बताये गये सिद्धान्त उनकी सोच से मेल नहीं खाते और वे यह मानने लगते हैं कि ये उपदेश सही नहीं है? यदि ऐसी बात सोचते हैं, तो वे निरे मूर्ख हैं। या फिर क्या ऐसा है कि गुरु के वचन उनकी प्राथमिकताओं से मेल नहीं खाते हों? यदि ऐसा है तो पहले वे गुरु से कुछ पूछते ही क्यों हैं? या फिर वे अपने साधारण बुद्धि-विचार के आधार पर ऐसा कहते हैं? यदि ऐसा है तो यह एक भ्रमपूर्ण विचार है जो अनादि काल से ही चला आ रहा है। मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने अहंकारपूर्ण विचारों में सुधार लाना और उनका त्याग करने की मनोवृत्ति का होना बेहद ज़रूरी है। भले ही यह आपकी अपनी प्राथमिकताओं के विपरीत ही क्यों न हो। यदि ये पवित्र धर्मग्रन्थों में वर्णित आपके गुरु के वचन हैं, तो आपको पूरी तरह इनका पालन करना चाहिए। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है जिस पर ध्यान देना मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अति आवश्यक है।[401]

शिष्य को अपने गुरु के कार्यों और वचनों को स्वीकार करना चाहिए और उनकी डाँट-फटकार अथवा नाराज़गी को अपना अपमान नहीं समझना चाहिए। पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

यदि ऐसा लगता है कि आपके
सतगुरु नाराज़ हैं तो
समझ लो कि उन्हें तुम में कोई ऐसा
दोष दिखाई दिया है जिसे दूर करना अब अत्यन्त आवश्यक है।
उनकी डाँट-फटकार से अपनी भूल को सुधारो,
अपनी भूल स्वीकार करो और
प्रतिज्ञा करो कि उसे फिर कभी नहीं दोहराओगे।

इस प्रकार विववेकशील बनो और
मार (प्रलोभक) का शिकार मत बनो।[402]

ड्रोजन सांगपा ग्यारे भी कहते हैं:

एक ज़ोरदार डाँट-फटकार
एक रोषपूर्ण सम्मोहक मन्त्र के समान है
जो प्रत्येक बाधा को दूर कर देती है।[403]

हम यह देख चुके हैं कि पाबोंग्का रिनपोचे अपने आध्यात्मिक मार्गदर्शक के प्रति ऐसे श्रद्धाभाव को ही 'मार्ग का मूल' कहते हैं और "आरम्भ से ही अपने आध्यात्मिक मार्गदर्शक के प्रति श्रद्धा रखने को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं।"[404] गुरु के प्रति प्रेम और भक्तिभाव आध्यात्मिक अभ्यास में सफलता प्राप्त करने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

प्रसिद्ध भारतीय गुरु अतीश जिन्होंने तिब्बत में बौद्धधर्म के विकास में प्रभावशाली भूमिका निभायी, कहा करते थे कि उनमें जो भी सद्गुण हैं, उनका श्रेय उनके गुरु को जाता है। अतीश के इस कथन पर, टिप्पणी करते हुए पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

उनके कहने का अभिप्राय था कि हमारे सभी सद्गुण गुरु की दया से ही प्राप्त होते हैं।[405]

प्रज्ञा पारमिता का विकास केवल गुरु के प्रति भक्तिभाव रखने से ही होता है और गुरु के प्रति भक्तिभाव होने से उनकी दया और कृपा की वर्षा होती है। जैसा कि पैट्रुल रिनपोचे ने कहा है:

वे सभी साधन जिनके द्वारा प्रज्ञा का पारमिता (पूर्णता) के रूप में विकास होना है, वे गुरु के प्रति आपकी भक्ति और उनकी दया और कृपा पर निर्भर करते हैं।[406]

येशे खरक गोशाँग कहते हैं कि गुरुभक्ति के बिना धर्मग्रन्थों का सारा का सारा अध्ययन व्यर्थ है:

तुम्हें भले ही पूरे त्रिपिटक का ज्ञान हो, परन्तु अपने गुरु के प्रति भक्तिभाव के बिना यह ज्ञान तुम्हारे किसी काम का नहीं।[407]

जब गुरु के प्रति भक्तिभाव प्रबल और गहन हो जाता है तो इससे भक्त का हृदय निर्मल होता है, यहाँ तक कि भक्त गुरु के सद्गुण ग्रहण करने लगता है। इसे 'गुरु योग' कहते हैं। जैसा कि पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

अन्त में गुरु योग आता है, यानी अपने मन को सतगुरु के मन के साथ एकात्म करना... जहाँ सतगुरु और शिष्य के सम्बन्ध की निर्मलता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है।[408]

गुरु योग का भक्तिपूर्वक किया गया अभ्यास ही एकमात्र साधन है जिसके द्वारा अपने भीतर सहज स्वाभाविक अवस्था की अनुभूति को जाग्रत किया जा सकता है। अन्य कोई साधन कारगर नहीं है।[409]

गुरु योग सभी मार्गों का सारतत्त्व है... एक प्रबुद्ध गुरु के प्रति पूर्ण निश्छल भक्तिभाव का होना सर्वाधिक निश्चित और शीघ्र उन्नति करने का मार्ग है।[410]

महायान बौद्धधर्म में गुरु को कभी-कभी 'कल्याण-मित्र' कहा गया है जिसका अर्थ है 'वह मित्र जो हमें पूर्ण कल्याण अथवा मोक्ष की प्राप्ति कराता है।' उनकी दया और मार्गदर्शन के बिना सफलतापूर्वक आध्यात्मिक यात्रा पूरी करना और मनुष्य-जीवन के दुर्लभ अवसर को सार्थक करना असम्भव है। इसीलिए शान्तिदेव ने *बोधिचर्यावतार* में कहा है:

यहाँ तक कि अपने जीवन की ख़ातिर भी अपने 'कल्याण-मित्र' को कभी छोड़ना नहीं चाहिए।[411]

गुरु की आज्ञा का पालन करने के विषय में पैट्रुल रिनपोचे बार-बार ज़ोर देकर कहते हैं:

पूर्व जन्म के कर्मों की प्रबलता के कारण जिस गुरु से तुम्हारी भेंट हुई है और जिसकी दया तुम्हें प्राप्त हुई है, वह सबसे महत्त्वपूर्ण है।...उनकी हर आज्ञा का पालन करो और सभी कठिनाइयों, सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास आदि को कोई महत्त्व न दो। पूरे विश्वास तथा श्रद्धा से उनके समक्ष प्रार्थना करो। अपना प्रत्येक कार्य उनका परामर्श लेकर करो। जो भी गुरु कहते हैं, पूरा विश्वास करके उस पर अमल करो।[412]

अपने हृदय की गहराई से उनके समक्ष प्रार्थना करते हुए और उन्हें वास्तविक बुद्ध मानते हुए तुम्हें उनके हर आदेश का पालन करना चाहिए।[413]

आज्ञा पालन के महत्त्व पर बल देते हुए वे पुनः कहते हैं:

अपने महान् गुरु के प्रत्येक शब्द को धर्म का रत्न समझो। वे जो भी कहते हैं, उसे स्वीकार करो और बिना किसी बात में फेर-बदल किये उनकी आज्ञा का पालन करो।[414]

अपने गुरु की आज्ञा का पालन करने से बड़ा अन्य कोई धर्मपूर्ण आचरण नहीं है। जैसा कि हम यहाँ देख सकते हैं, इसके अनेक लाभ हैं। दूसरी ओर उनकी आज्ञा का थोड़ा-सा भी उल्लंघन करना बड़ा भारी दोष है।[415]

बुद्ध ने जिस दृढ़ संकल्प के साथ अभ्यास करके अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त किया था, उसी दृढ़ता के साथ जो शिष्य अपने गुरु का अनुसरण करते हुए अभ्यास करते हैं, वे निश्चित रूप से सफल होते हैं, जैसा कि महात्मा बुद्ध के साथ हुआ था। जिस दृढ़ संकल्प के साथ पीपल के पेड़ के नीचे महात्मा बुद्ध समाधि में बैठे रहे, उसका वर्णन *ललितविस्तर* में उनके अपने शब्दों में इस प्रकार किया गया है:

चाहे मेरा शरीर सूख जाये, मेरी चमड़ी, हड्डियाँ और मांस गल जायें, फिर भी मेरा शरीर इस आसन से तब तक नहीं हिल सकता जब तक मैं पूर्ण ज्ञान की वह अवस्था प्राप्त न कर लूँ जिसे अनेकों युगों में भी प्राप्त करना कठिन होता है।[416]

यह स्पष्ट करते हुए कि किस प्रकार दृढ़ संकल्प से शिष्यों को अपने आध्यात्मिक गुरु की सेवा करनी चाहिए और गुरु की आज्ञा मानने से क्या फल मिलता है, पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

एक साहसी शिष्य जिसने दृढ़ संकल्परूपी कवच पहन रखा है कि वह सतगुरु को कभी नाराज़ नहीं करेगा भले ही उसके प्राण चले जायें, जो इतना स्थिरचित्त है कि बदलती परिस्थितियों से विचलित नहीं होता, जो अपने स्वास्थ्य अथवा जीवन की परवाह न करते हुए अपने सतगुरु की सेवा करता है और अपने सुख-आराम का ख़्याल न रखकर उनके हर आदेश का पालन करता है—ऐसा व्यक्ति गुरु के प्रति अपने भक्तिभाव के द्वारा सहज ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[417]

अपने गुरु की सर्वश्रेष्ठ सेवा है उनके उपदेश पर अमल करना। लेकिन शिष्य तन, मन और धन से सेवा करके भी अपने गुरु की ख़ुशी

प्राप्त करते हैं। पैट्रुल रिनपोचे तीन स्तरों पर की गयी सेवाओं का वर्णन इस प्रकार करते हैं:

> *गुरु की सेवा और उन्हें प्रसन्न करने के तीन तरीक़े हैं। सर्वश्रेष्ठ तरीक़ा है अपने अभ्यास को उन्हें समर्पित करना। इसका अर्थ है कठिनाइयों की परवाह किये बिना पूरी दृढ़ता के साथ उनके हर उपदेश का अभ्यास करना। मध्यम तरीक़ा है तन और वचन से सेवा करना, जिसमें तन, मन और वचनों के द्वारा गुरु के कहे अनुसार सेवा करना सम्मिलित है। सबसे निम्न प्रकार की सेवा है – सांसारिक पदार्थों को भेंट करना, जिसका अर्थ है अपने गुरु को सांसारिक पदार्थ, भोजन, धन आदि भेंट करके उन्हें प्रसन्न करना।*[418]

पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं कि पूरी निष्ठा से तीनों प्रकार से गुरु की सेवा करते हुए शिष्य अपने गुरु के साथ अपने मन को एकात्म कर लेते हैं। अत: वे हमें ऐसी सेवा के लिए भरसक प्रयास करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं:

> *जब वे हमारे सामने देहरूप में उपस्थित होते हैं, तब हमें गुरु की आज्ञा में रहने का पूरा प्रयास करना चाहिए और तीनों प्रकार की सेवा करके अपने मन को उनके साथ एकात्म कर लेना चाहिए।*[419]

गुरु अपने सच्चे शिष्यों के लिए सर्वेसर्वा हैं, अत: शिष्यों को चाहिए कि वे अपने गुरु को सब कुछ भेंट करने अथवा समर्पित करने के लिए तैयार रहें। जैसा कि पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

> *तुम्हें इतना उदार हृदय होना चाहिए कि जो कुछ तुम्हारे पास है, वह सब कुछ तुम गुरु को अर्पित कर दो।*[420]

पूर्ण गुरु की खोज में विवेक की आवश्यकता

दोजेन जेन्ज़ी एक सच्चे गुरु की खोज के महत्त्व के विषय में अपनी पुस्तक *पॉइन्ट्स टू वॉच इन प्रैक्टिसिंग द वे (गाकुडो-योजिन-शु)* में कहते हैं:

> *मार्ग का अभ्यास पूरी तरह इस बात पर निर्भर करता है कि आपके गुरु सच्चे हैं या नहीं। एक अभ्यासी एक अच्छी क़िस्म की लकड़ी के समान है, जबकि गुरु एक बढ़ई हैं। एक योग्य शिल्पकार के कुशल हाथों से तराशे बिना लकड़ी की सुन्दरता उभरकर सामने नहीं आ सकती। यहाँ तक कि कुशल हाथों में आने पर लकड़ी का एक बेडौल टेढ़ा-मेढ़ा टुकड़ा भी बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इस उपमा द्वारा यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आपका वास्तव में ज्ञान की प्राप्ति करना इस बात पर निर्भर करता है कि आपके गुरु सच्चे हैं या नहीं।*[421]

केवल सच्चा गुरु ही लोगों को जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा दिला सकता है। सत्य के खोजी के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह ऐसे पाखंडियों से सावधान रहे जो स्वयं भ्रमित होने के कारण अथवा मान-प्रतिष्ठा पाने के लिए या फिर धन और सत्ता के लोभ में ज्ञान सम्पन्न गुरु होने का ढोंग करते हैं। नौवीं शताब्दी में पैट्रुल रिनपोचे की गुरुगद्दी के प्रथम गुरु 'पद्मसंभव' जिन्हें गुरु रिनपोचे भी कहा जाता है, मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक जिज्ञासुओं के मार्ग में आनेवाली चुनौतियों का वर्णन इस प्रकार करते हैं:

> *भविष्य में जब पतन का अन्धकारमय युग आयेगा, तब ऐसे कुछ व्यक्ति जो अभ्यासी होने का दावा करते हैं, बिना आज्ञा पाये दूसरों को उपदेश देने की इच्छा रखेंगे। स्वयं अभ्यास किये बिना वे दूसरों को साधना का निर्देश देंगे। स्वयं मुक्ति प्राप्त किये बिना ही वे दूसरों को मुक्ति प्राप्त करने का निर्देश देने का दिखावा करेंगे।*

ख़ुद स्वार्थ का त्याग किये बिना वे दूसरों को मोह का बन्धन तोड़ने और उदार होने का उपदेश देंगे। अपने कर्मों के अच्छे या बुरे होने की लेशमात्र भी जानकारी न रखते हुए वे दूसरों के अच्छे-बुरे कर्मों का विश्लेषण करते हुए बड़ी-बड़ी भविष्यवाणियाँ करेंगे। स्वयं स्थिरचित्त न होते हुए भी वे दूसरों का कल्याण करने का दावा करेंगे। मैं समझता हूँ कि बहुत-से ऐसे होंगे जो ढोंगी, पाखण्डी तथा धोखेबाज़ होंगे और धर्म के नाम पर धोखा देंगे। भविष्य में आनेवाली पीढ़ियों के सभी लोगों को जो धर्म का अभ्यास करना चाहते हैं, भिक्षुक पद्माकर के इस लिखित धर्मग्रन्थ को पढ़ना चाहिए और स्वयं की परख करनी चाहिए।[422]

अपने गुरु का चुनाव करते समय सावधानी बरतने में ही बुद्धिमानी है, क्योंकि सच्चे गुरु दुर्लभ हैं और बड़ी मुश्किल से मिलते हैं, जबकि ढोंगी और पाखण्डी बहुत-से हैं और बड़ी आसानी से मिल जाते हैं। यद्यपि एक सच्चे गुरु की खोज करना अत्यावश्यक है, परन्तु इसमें व्यक्ति को जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इसमें बहुत बड़ा ख़तरा है। केवल एक सच्चा गुरु ही अपने शिष्यों को परमानन्द के सर्वोच्च पद तक ले जा सकता है।

पाखण्डी गुरु का अनुसरण करने के विनाशकारी दुष्परिणामों की ओर संकेत करते हुए और सच्चे गुरु से मिलनेवाले सुखद परिणाम की बात बताते हुए महात्मा बुद्ध ढोंगी अथवा अज्ञानी गुरु की तुलना एक मूर्ख चरवाहे के साथ करते हैं जो बाढ़ के पानी से लबालब भरी हुई नदी के पार अपने पशुओं को ले जाते हुए नदी के बीचोबीच ही पशुओं को डुबो देता है; जबकि एक प्रबुद्ध गुरु एक योग्य चरवाहे के समान हैं जो पशुओं को पार ले जाने के सही स्थान से परिचित हैं और सुरक्षापूर्वक अपने पशुओं को नदी के पार ले जाते हैं। महात्मा बुद्ध आगे इस प्रकार कहते हैं:

जो यह सोचता है कि अयोग्य श्रमणों अथवा ब्राह्मणों की बात सुननी चाहिए और उन पर आस्था रखनी चाहिए, तो यह उसके लिए एक लम्बे समय तक दुःख-तकलीफ़ का कारण बनेगा... इसके विपरीत जो यह सोचता है कि योग्य श्रमणों अथवा ब्राह्मणों की बात सुननी चाहिए और उन पर आस्था रखनी चाहिए, तो यह उसके लिए लम्बे समय तक उसके कल्याण और आनन्द का कारण बनेगा।*[423]

ज़ेन गुरु बस्सुई टोकुशो अपने ग्रन्थ मड एण्ड वॉटर *(Mud and Water)* में सच्चे गुरु की खोज में जिन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, उनका वर्णन करते हुए कहते हैं:

जो लोग गुरु की खोज करना चाहते हैं, उन्हें सबसे पहले यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि क्या उस गुरु द्वारा बताया गया मार्ग बुद्ध का ही मार्ग है और उन्हें इस बात की भी जानकारी कर लेनी चाहिए कि उस गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान सच्चा है या भ्रमपूर्ण। यदि गुरु एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने इस महान् मार्ग का निश्चित रूप से ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तो फिर जीवन अथवा धन-सम्पत्ति की परवाह न कीजिए—सीधे उनके पास जाइए और व्यक्तिगत रूप से उनसे उपदेश ग्रहण कीजिए। सच्चा गुरु जब कर्मों में बदलाव लानेवाले धर्म की बात करता है तब वह लोगों की दृष्टि को नष्ट नहीं करता, बल्कि वह सीधे उनके मन द्वारा उनका वास्तविक स्वरूप दिखलाता है और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है।[424]

महान् धर्म को अपनी संकीर्ण दृष्टि से समझने की कोशिश करना ऐसा ही है जैसे एक मच्छर का एक लोहे की गाय को

* महात्मा बुद्ध का यहाँ ब्राह्मण से यह तात्पर्य है: 'ब्राह्मण मैं उसे कहता हूँ जो साधनारत है, विकारों से मुक्त है और जिसका आसन स्थिर है; जिसने वह प्राप्त कर लिया है जो प्राप्त करने योग्य है; जो दोषमुक्त है और जिसने सर्वोच्च लक्ष्य पा लिया है।' (*धम्मपद* 386)

काटने का प्रयास करना। स्पष्ट है कि एक व्यक्ति का अपनी सोच-समझ द्वारा एक ढोंगी गुरु और एक सच्चे गुरु में भेद करने की कोशिश करना ऐसा ही है जैसे जुगनू की रोशनी से स्वर्ग को प्रकाशित करना। उसे उचित बोध कैसे हो सकता है! ऐसे व्यक्ति को जो अभी तक मार्ग के प्रति सचेत नहीं हुआ है, नक़ली और असली बुद्धधर्म अथवा असली और नक़ली गुरु में अन्तर समझाना बहुत कठिन है। यह ऐसा ही है जैसे किसी जन्म से ही अन्धे व्यक्ति को सफ़ेद और काले रंग में अन्तर बताने की कोशिश करना। कोई भले ही यह कहे कि उसे कुछ हद तक वचनों की समझ आ गयी, परन्तु क्या वह पूरी तरह सहमत होने की स्थिति में है? यदि मैं यह कहने का साहस करूँ कि महात्मा बुद्ध तथा उनके पूर्वजों के उपदेश युगों-युगों से एक से दूसरे तक पहुँचाये जा रहे हैं तो भी तुम्हें केवल उन्हीं पर भरोसा करना चाहिए (जो स्वघोषित गुरु नहीं है, अपितु) जिन पर प्रामाणिक रूप से प्रबुद्ध गुरु ने मुहर लगा दी है कि वे आगे उनके उपदेश का प्रसार करेंगे। सच्चा गुरु वह है जिसने अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है। परन्तु जो केवल उपदेश देता है और जिसने अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं किया है, वह सच्चा गुरु नहीं है।[425]

इसके पश्चात् मास्टर बस्सुई सच्चे गुरु के दुर्लभ होने और उनकी खोज करने के महान् महत्त्व के बारे में कहते हैं:

बोधिधर्म* ने कहा, "जो उपदेश और अभ्यास को एकरूप कर लेता है, वही परम्परागत गुरु है।" एक ऐसे महान् गुरु जिन्हें एक

* बोधिधर्म (छठी शताब्दी ईसवी के) एक बौद्ध भिक्षु थे जिन्हें परम्परागत रूप से उस उपदेश का चीन में प्रसार करने का श्रेय दिया जाता है जो ज़ेन नाम से प्रसिद्ध है।

सच्चरित्र गुरु का संरक्षण प्राप्त है, जिनके तन और मन में तालमेल है, जिन्हें अन्तर्मुखी अभ्यास और उपदेश का पूरा-पूरा ज्ञान है... जिन्होंने सच्चा 'बुद्ध मार्ग' प्राप्त कर लिया है और रेतकणों के समान असंख्य शिष्य होने पर भी जिनमें अहंकार उत्पन्न नहीं होता, से भेंट होना इतना दुर्लभ है जितना 'गूलर फूल'* का दिखना जो तीन हज़ार वर्षों में केवल एक बार खिलता है। ऐसे गुरु की खोज में तुम्हें सब कुछ, यहाँ तक कि अपना जीवन भी दाव पर लगा देना चाहिए।[426]

अगर हमें कोई सांसारिक मामलों में धोखा देता है तो हम उस नुकसान को कुछ असुविधा के साथ झेल सकते हैं और शायद हम उस नुकसान की भरपाई भी कर सकते हैं। परन्तु यदि लोगों को मुक्ति के सही मार्ग को लेकर कोई ढोंगी गुरु धोखा देता है तो वे परम ज्ञान के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के अति दुर्लभ सुअवसर से ही वंचित हो जाते हैं। इसीलिए पैटुल रिनपोचे ऐसे आधे-अधूरे गुरुओं के प्रति सावधान करते हैं जो दूसरों को धर्म का उपदेश प्रदान करने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं:

दूसरों को धर्म का उपदेश प्रदान करना वास्तव में बहुत ही कठिन कार्य है। स्वयं अनुभव प्राप्त किये बिना, दूसरों को उपदेश देने से उनकी कोई सहायता नहीं होती।[427]

एक नौसिखिया व्यक्ति जिसे न कोई अनुभव है और न कोई ज्ञान है, वह यदि दूसरों को धर्म को समझने में सहायता देने का प्रयास करता है, तो यह व्यर्थ है। ऐसा व्यक्ति उसी तरह दूसरों

* फ़ाइकस रेस्मोसा (Ficus Racemosa) जिसे 'उदुम्बर फूल' भी कहते हैं, इसका बौद्ध साहित्य में प्रायः वर्णन किया गया है। क्योंकि इस फूल को देख पाना बहुत कठिन है, अतः यह काल्पनिक कथा प्रचलित है कि यह विरले ही कभी खिलता है।

अपनाने और इनके अनुसार चलने से हानि होती है, अहित होता है, तो इन्हें छोड़ दो...परन्तु हे कलामों! जब तुम स्वयं यह जान जाओ कि ये कल्याणकारी हैं, इनमें कोई दोष नहीं है, ज्ञानीजन इनकी प्रशंसा करते हैं और इन्हें अपनाने और इनके अनुसार चलने से कल्याण और आनन्द की प्राप्ति होती है, तो इनका अनुसरण करो।[432]

बौद्धधर्म के महान् जानकार 'अतीश' ने गुरु सुवर्णद्वीपी के विषय में व्यक्तिगत रूप से छानबीन करने के लिए भारत से इण्डोनेशिया तक की 13 माह की लम्बी यात्रा की। उन्होंने गुरु सुवर्णद्वीपी के विषय में भारत में सुना था और उन्हें अपना गुरु स्वीकार करने से पहले अतीश ने उनके जीवन के बारे में पूरी-पूरी छानबीन की। अतीश के विवेचनात्मक और सावधानीपूर्ण दृष्टिकोण का हवाला देते हुए पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

वह (अतीश) हमारे सामने एक उदाहरण रख रहे थे: हमें एक गुरु के बारे में पहले अच्छी तरह छानबीन कर लेनी चाहिए।[433]

आध्यात्मिक गुरु के बारे में ध्यानपूर्वक छानबीन न करने के परिणामों की ओर संकेत करते हुए पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

पूरी सावधानी से गुरु की परख न करने पर,
श्रद्धावान् अपने एकत्रित पुण्य व्यर्थ गँवा देते हैं;
जिस प्रकार एक विषैले साँप को एक वृक्ष की
छाया समझकर मनुष्य छला जाता है,
उसी प्रकार भ्रमित होकर
मोक्ष प्राप्ति की जो स्वतन्त्रता उन्हें अन्ततः प्राप्त हुई थी,
वे उसे खो देते हैं।[434]

किसी आध्यात्मिक साधना को अपनाने से पहले हमें उस गुरु की पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए, परन्तु ऐसा करना कोई आसान काम नहीं है, क्योंकि इस संसार में ऐसे कई तथाकथित गुरु हैं जो दिखावटी आध्यात्मिकता का प्रदर्शन बड़े आकर्षक और सुन्दर ढंग से करते हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि महात्मा बुद्ध ने कहा है, हम बाहरी तौर पर देख सुनकर केवल कुछ हद तक ही ऐसी छानबीन कर सकते हैं। मार्ग पर आते ही हम सच्चे गुरु को पूरी तरह समझ नहीं सकते। जैसे-जैसे हमारा आन्तरिक ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे हमें गुरु की पहचान होती जाती है। वास्तव में एक सच्चा गुरु ही दूसरे सच्चे गुरु की सही पहचान कर सकता है।

एक सच्चे गुरु को पहचानने में हमारी जो सीमाएँ हैं, उनकी ओर संकेत करते हुए पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

हम जैसे साधारण लोग चाहे कितनी ही सावधानी से परख क्यों न करें, हम उन दिव्य महात्माओं के असाधारण गुणों की पहचान नहीं कर सकते जो अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाकर रखते हैं। पर थोथा ज्ञान रखनेवाले धोखे और फ़रेब की कला में निपुण ऐसे बहुत-से व्यक्ति हैं जो सन्त होने का ढोंग करते हैं।[435]

गुरु के विषय में धीरे-धीरे हमारे ज्ञान के गहरे होने की चर्चा करते हुए पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

अभी हमने शुरुआत की है और (हमारे लिए) गुरु साधारण व्यक्ति ही हैं। जब हम धर्म के प्रति निरन्तर एकाग्रता की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, उस समय हमारी भेंट सर्वोच्च निर्माणकाय गुरु से होती है, जब हम बोधिसत्त्व के प्रथम स्तर पर होते हैं, तब हमारी भेंट सम्भोगकाय से होती है।[436]

आगे वे कहते हैं:

> तुम इतने भाग्यशाली नहीं हो कि गुरु के वास्तविक बुद्ध स्वरूप को देख सको, क्योंकि तुम्हारी विचारधारा ऐसी सोच रखनेवाले सौभाग्यशाली व्यक्ति जैसी नहीं है। अर्थात् तुममें ऐसा अन्तर्ज्ञान नहीं है कि तुम गुरु के उस वास्तविक स्वरूप को देख सको।... केवल एक बुद्ध ही दूसरे बुद्ध के धर्मकाय (वास्तविक स्वरूप) को देख सकता है।[437]

ऐसेन्स ऑफ़ नेक्टर (Essence of Nectar) में कहा गया है:

> जब तक तुम कर्मों के आवरण और
> अन्धकार से मुक्त नहीं हो जाते,
> तब तक भले ही सभी बुद्ध महात्मा तुम्हारे सामने आ जायें,
> तो भी तुम्हारा ऐसा सौभाग्य नहीं होगा कि
> तुम उनके दिव्य चिह्नों और
> लक्षणों से सुसज्जित श्रेष्ठ स्वरूप को देख सकोगे।[438]

सच कहा जाये तो साधारण मनुष्यों के रूप में हम इतने सीमित हैं कि हम एक सच्चे गुरु की परख केवल सतही तौर पर ही कर सकते हैं। वास्तव में हमारे पूर्वकर्मों के खिंचाव का ही फल है जो हमें एक सच्चे गुरु के पास ले आता है, और वे अपनी संगति से हमें सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। जैसा कि पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

सभी गुरुओं में महानतम गुरु वे हैं जिनके साथ हमारा पूर्वजन्मों का सम्बन्ध है...क्योंकि तुम्हारे पूर्वकर्मों के आधार पर यदि अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा न होतीं तो तुम्हें किसी महान् गुरु से मिलने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता...

> आरम्भ में कुशलता से गुरु की परख करो;
> मध्य में कुशलता से उनका अनुगमन करो;
> अन्त में कुशलता से उनके ज्ञान और
> कार्य को अपने जीवन में उतारो।
> जो शिष्य यह सब करता है, वह सच्चे मार्ग पर है।[439]

श्रद्धा और भक्ति

पिछले भाग में हम देख चुके हैं कि धर्म जो निराकार परम सत्य है, अपने आप को पूर्ण प्रबुद्ध गुरु के रूप में प्रकट करता है जो परम सत्य का साक्षात्कार करने में और निर्वाण प्राप्त करने में जिज्ञासु की सहायता करते हैं। हमने यह भी संकेत दिया है कि आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए गुरु के प्रति भक्ति तथा प्रेम का होना अत्यन्त आवश्यक है।

अब गुरु के प्रति हमारे मन में प्रेम और भक्ति क्यों होनी चाहिए? गुरु जो परम सत्य के प्रकट रूप होते हैं और जो अथाह ज्ञान, प्रेम और करुणा का भण्डार होते हैं, वे अपने परम आनन्द के धाम से नीचे उतरकर इस अन्धकारमय जगत् में अवतरित होते हैं। अपने सभी दु:ख-तकलीफ़ों और असुविधाओं पर ध्यान न देकर वे एकमात्र जिज्ञासुओं को मुक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से निरन्तर अथक कार्य करते रहते हैं। इसलिए ऐसे नि:स्वार्थ आध्यात्मिक परोपकारी के लिए लोगों के मन में अपार कृतज्ञता, श्रद्धा, भक्ति, विश्वास और प्रेम का भाव होना स्वाभाविक और अत्यन्त आवश्यक भी है। एक शिष्य भी यदि सर्वोच्च आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त करना चाहता है तो उसके मन में अपने गुरु के प्रति ऐसे प्रेम, भक्ति और विश्वास का होना अत्यन्त आवश्यक है।

अब हम प्रेम, भक्ति और विश्वास के महत्त्व पर चर्चा करेंगे। बौद्धधर्म के आरम्भिक उपदेश में, जैसा कि पालि त्रिपिटिकों से पता चलता है, महात्मा बुद्ध प्रेम और विश्वास पर बहुत अधिक बल देते हैं। वे कहते हैं:

जिनका मेरे प्रति पूर्ण विश्वास है और जो मुझसे प्रेम करते हैं, वे सभी स्वर्ग के अधिकारी होंगे।[440]

वे स्पष्ट करते हैं:

हे आनन्द! यदि किसी सच्चे शिष्य को बुद्ध में विश्वास है... यदि उसे 'धम्म' में विश्वास है...और यदि उसे संघ में विश्वास है, तब वह शिष्य, अगर चाहे तो अपने भविष्य के बारे में इस प्रकार कह सकता है: 'मेरे लिए नरक का नाश हो गया है, इसी प्रकार मेरा पशु या भूत-प्रेत के रूप में पुनर्जन्म नहीं होगा, या फिर दुःखपूर्ण परिस्थितयों में जन्म नहीं होगा। मैं 'स्रोतापन्न' (वह जो आध्यात्मिक धारा में प्रवेश कर चुका है) हूँ, मेरा दुःखपूर्ण परिस्थितियों में कभी पुनर्जन्म नहीं होगा और मुझे पूरा भरोसा है कि मैं सम्बोधि प्राप्त करूँगा।'[441]

पालि त्रिपिटक में श्रद्धा (पालि: सद्धा, संस्कृत: श्रद्धा) और 'प्रेम' (पेम) शब्दों का बार-बार प्रयोग किया गया है। महात्मा बुद्ध ने कहा है कि श्रद्धा ही मानवता की सबसे बड़ी पूँजी इस संसार में है[442] और यह कहा जाता है कि श्रद्धा द्वारा ही व्यक्ति संसार-सागर से पार हो सकता है।[443] यह दुःखों के अन्त के लिए बताये गये पाँच नियमों में से पहला नियम है।[444]

प्रारम्भिक बौद्धधर्म में श्रद्धा को पहली अनिवार्य आवश्यकता माना गया है जिसके बिना धर्म में कोई भी प्रगति नहीं हो सकती। श्रद्धा वास्तव में भक्ति की नींव है, क्योंकि जब यह गहरी और पक्की हो जाती है, तब यह अपने आप प्रेम और भक्ति में परिवर्तित हो जाती है। अन्ततः यह भक्ति की पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है।

अपनी आध्यात्मिक साधना में सफलता प्राप्त करने के लिए जिज्ञासुओं को अपने गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा और विश्वास होना चाहिए और इसी भाव से उन्हें गुरु द्वारा बताये गये उपदेशों और नियमों पर

भरोसा करके गुरु की शरण में जाना चाहिए। अध्यात्म के जिज्ञासु को आध्यात्मिक-यात्रा की शुरुआत करते हुए बुद्ध, धर्म और आध्यात्मिक संघ की शरण लेना आवश्यक है। प्रज्ञावान् गुरु की शरण में जाने का अर्थ है – उनके प्रति अपने आप को समर्पित कर देना, अपने अहंकार और अहंभाव को मिटा देना और उनके निर्देशों तथा नियमों का पूरी तरह से पालन करना। इसका अर्थ है उनके उपदेश को मानना तथा अपने जीवन और आध्यात्मिक हित को उनके हाथों में सौंप देना।

पालि धर्मग्रन्थ *मिलिन्दपञ्हा* में राजा मिलिन्द प्रसिद्ध भिक्षु नागसेन से पूछते हैं कि महात्मा बुद्ध एक पापी व्यक्ति को केवल इस आधार पर कैसे बचा सकते हैं कि वह उनकी शरण में आ गया है और उसे उन पर अटूट श्रद्धा है। नागसेन ने इस प्रकार उत्तर दिया:

एक पत्थर चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, पानी में डूब जाता है परन्तु यदि हम हज़ारों टन भारी एक बड़े से पत्थर को भी जहाज़ पर रख देते हैं तो वह डूबेगा नहीं (पार हो जायेगा)।[445]

अब यह समझ लेना चाहिए कि वह आध्यात्मिक जिज्ञासु जो बुद्ध की शरण ग्रहण करता है, वह किसी मनुष्य की शरण नहीं ले रहा है। निर्वाण प्राप्त महात्मा बुद्ध स्वयं 'धर्मकाय' हैं या प्रकट रूप में 'तथागत' हैं – वे मनुष्य-रूप में परम सत्य हैं। उन्हें दूसरों को अपने उस सच्चे स्वरूप 'बुद्ध-स्वभाव' का बोध कराने की शक्ति है जो शिष्य का भी सारस्वरूप है। केवल वही महात्मा जो धर्मकाय के साथ एकाकार हो चुका है, एक शिष्य के प्रेम और विश्वास के योग्य है।

हो सकता है कि आदर, श्रद्धा और प्रेम से भरा हुआ कोई भक्त निर्वाण प्राप्त महात्मा के देहरूप की पूजा करना आरम्भ कर दे, इसलिए इसे नकारने के लिए महात्मा बुद्ध देहरूप की भक्ति को प्रोत्साहन नहीं देते। महात्मा बुद्ध के शरीर त्याग के समय जब पुष्प और चन्दन-धूलि से उनकी पूजा-अर्चना की जा रही थी, उन्होंने अपने शिष्य आनन्द को पूजा का सही तरीक़ा बताते हुए कहा:

> हे आनन्द! भले ही यह श्रद्धांजलि तथागत के सम्मान में दी जा रही है, परन्तु तथागत के आदर-सत्कार, मान-सम्मान और पूजा-अर्चना की यह सही विधि नहीं है। यदि भिक्षु, भिक्षुणियाँ और सभी गृहस्थ उपासक मेरे उपदेश के अनुसार जीवन व्यतीत करते रहें और दृढ़ता से मेरे उपदेश का पालन करते रहें, तो वे सही ढंग से मेरा आदर-सत्कार और मान-सम्मान कर रहे होंगे और यही मेरे प्रति उनका सच्चा सम्मान और सच्चा सत्कार होगा। इसलिए हे आनन्द! तुम्हें मेरे उपदेश के अनुसार कार्य करना चाहिए, मेरे सभी निर्देशों का पालन करना चाहिए, और यही शिक्षा दूसरों को भी देनी चाहिए। यही सर्वोच्च पूजा होगी जो मुझे सर्वाधिक प्रसन्नता देगी।[446]

महात्मा बुद्ध ने जिस श्रद्धा या विश्वास पर इतना अधिक बल दिया है, वह न तो अन्धविश्वास पर आधारित है, न ही वह विवेकरहित है, बल्कि यह गुरु की भली-भाँति की गयी परख और उनके उपदेशों की पूरी-पूरी समझ पर आधारित है। खुले मन से खोजबीन करना और आलोचनात्मक ढंग से विश्लेषण करना श्रद्धा या विश्वास के विरुद्ध नहीं है।[447] गुरु के प्रति, उनके सिद्धान्तों तथा उनके संघ के प्रति सन्देह होना, उन्नति के मार्ग में आनेवाली पाँच बाधाओं में से पहली तीन बाधाएँ हैं[448] जिन्हें उपदेशों के अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे हटाकर श्रद्धा या विश्वास को दृढ़ करना होगा।

हम यहाँ पर महायान बौद्धधर्म की उन विचारधाराओं की चर्चा करेंगे जो श्रद्धा और भक्ति की भावनाओं से भरी हुई हैं। उदाहरण के लिए, महायान के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ *ललितविस्तर* में महात्मा बुद्ध स्वयं अपने प्रिय शिष्य आनन्द को विश्वास दिलाते हैं:

> हे आनन्द! जिसको भी मुझ पर विश्वास होगा, मैं उसकी रक्षा करूँगा। चूँकि वे मेरी शरण में आये हैं, वे मेरे मित्र रहेंगे।[449]

अपने गुरु की शरण में आने के आधारभूत महत्त्व पर तथा इससे प्राप्त होनेवाले अपार लाभ पर बल देते हुए पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

> शरण लेना सभी आध्यात्मिक साधनाओं का आधार है। मात्र शरण लेने से ही तुम अपने अन्दर मुक्ति का बीज बो देते हो। तुम अपने आप को अपने इकट्ठे किये हुए बुरे कर्मों के भण्डार से अलग कर लेते हो और सत्कर्मों की अधिकाधिक वृद्धि करते हो। शरण लेना तुम्हारे सभी संकल्पों का आधार है और सभी सद्गुणों का स्रोत है। अन्ततः यह तुम्हें बुद्धत्व की अवस्था तक ले जायेगा।[450]

एक बार फिर से यह याद रखना आवश्यक है कि महायान बौद्धधर्म में बुद्ध अथवा तथागत को सर्वव्यापी परम सत्य माना गया है। यदि यह परम सत्य बहुत-से मनुष्यों के कल्याण और सुख के लिए छठी शताब्दी ईसा पूर्व में महात्मा बुद्ध के रूप में प्रकट हुआ तो ऐसा कोई कारण नहीं है कि वह परम सत्य उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी समय में मनुष्य रूप में प्रकट होने का साधन न पा सके। सक्रिय भक्ति और विश्वास के उत्पन्न और विकसित होने के लिए मनष्य को जीते-जागते परम सत्य के देहरूप की आवश्यकता है जिसे वह प्रेम कर सके, जिसकी आराधना कर सके। महायान बौद्धधर्म में इस आवश्यकता की भली-भाँति पूर्ति हुई है, जैसा कि एडवर्ड कॉन्ज़ कहते हैं:

> महायान में इस विचार को (सर्वव्यापी परम सत्य के भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होने को) बहुत ही विकसित किया गया है और बताया गया है कि सम्पूर्ण जगत् में... कई बुद्ध-महात्मा और बोधिसत्त्व साकार रूप में प्रकट हुए हैं जिनके प्रति प्रेम और श्रद्धा के भाव को सँजोया जा सकता था।[451]

बुद्ध ही सभी प्राणियों में निवास करते हैं जैसा कि एडवर्ड कॉन्ज़ कहते हैं:

> *महायान बौद्धधर्म इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि वास्तव में हमारे अन्दर स्थित बुद्ध ही खोज करते हैं और हमारे अन्दर का बुद्ध-स्वभाव ही हमें बुद्धत्व की खोज के लिए प्रेरित करता है।*[452]

कॉन्ज़ ने महायान बौद्धधर्म के जिस विचार की व्याख्या की है, वह हमें भारतीय ईश्वरवादी धारणा की याद दिलाता है जिसके अनुसार हमारी आत्मा जो हमारे भीतर परमात्मा का अंश रूप है, उसका अपने स्रोत उस ईश्वर की ओर स्वाभाविक रूप से खिंचाव है। जैसे ही यह अपने कर्मों के बोझ को दूर करती है, यह स्वत: अपने स्रोत की ओर खिंची चली जाती है।

जब तक निराकार धर्मकाय, वह परम शक्ति, मनुष्य देह धारण करके एक मार्गदर्शक अथवा गुरु के रूप में प्रकट नहीं होती, एक जिज्ञासु न तो उनके आध्यात्मिक उपदेश सुन सकता है, न ही उसके मन में उनके प्रति प्रेम और श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो सकता है। सार्थक प्रेम और भक्ति का भाव केवल उन्हीं के बीच उत्पन्न हो सकता है जो एक दूसरे को देख सकते हैं और एक दूसरे से बातचीत कर सकते हैं। जैसा कि एडवर्ड कॉन्ज़ कहते हैं:

> *इस संदर्भ में 'प्रेम' यानी 'भक्ति' का अर्थ है किसी व्यक्ति के साथ निजी सम्बन्ध जिसका मनुष्य न केवल सम्मान करता है और उसे हृदय में बसाये रखना चाहता है, बल्कि उसके निकट रहना चाहता है, उसे खोना नहीं चाहता और चाहता है कि वह सदा बना रहे।*[453]

बौद्धधर्म का यह विचार कि जिनके प्रति जिज्ञासु के मन में प्रेम और सम्मान है, उनका वह दर्शन करना चाहता है और उनके निजी सम्पर्क

में आना चाहता है, यह विचार ईश्वरवादी भारतीय परम्परा में भी अति आवश्यक माना गया है। उस निराकार परम शक्ति को चाहे तथागत कहें, या धर्मकाय, परमात्मा अथवा परम सत्य कहें, उस परम शक्ति को इस जगत् के प्राणियों के लिए एक प्रबुद्ध गुरु अथवा मार्गदर्शक के रूप में प्रकट होना ही होगा। धर्मकाय अर्थात् परम सत्य के साकार रूप के सम्पर्क में आये बिना अमरत्व अथवा अविनाशी अवस्था प्राप्त करना असम्भव है। एक सच्चे गुरु का दर्शन किये बिना, उनके प्रति प्रेम और भक्ति का भाव रखे बिना मनुष्य आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता। जैसा कि पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

> *यदि तुम्हारे मन में गुरु के प्रति भक्तिभाव नहीं है तो तुम मार्ग पर थोड़ी-सी भी उन्नति नहीं कर सकते, चाहे तुम अभ्यास का कोई भी ढंग क्यों न अपनाओ।... परन्तु यदि तुम्हारे मन में गुरु-भक्ति है, तो तुम शीघ्र ही परम सत्य से एकात्मकता की अवस्था प्राप्त कर लोगे जिसे प्राप्त करने में सामान्यत: कई युग लग जाते हैं।*[454]

फिर वे कहते हैं:

> *अत: बुद्ध-महात्मा साधारण प्राणियों के रूप में अवतरित होते हैं ताकि चेतन प्राणियों को उनका दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हो।*[455]

कठिन ज्ञान मार्ग की तुलना में भक्ति मार्ग को अथवा गुरु की शरण में आने को सहज मार्ग कहा गया है। महायान के प्रसिद्ध भाष्यकार नागार्जुन का हवाला देते हुए एडवर्ड कॉन्ज़ कहते हैं:

> *नागार्जुन श्रद्धा या भक्ति के सहज मार्ग को ज्ञान के कठिन और दुष्कर मार्ग से अलग बताते हैं।*[456]

ज्ञान अथवा बुद्धि के द्वारा मनुष्य का अपनी मंज़िल तक सफ़र करना ऐसा है जैसे पैदल बहुत दूर तक चलकर जाना, जबकि विश्वास अथवा भक्ति के द्वारा यात्रा करना ऐसा है जैसे एक समुद्री जहाज़ पर सवार हो जाना जिसका उस मंज़िल तक आना-जाना लगा रहता है।

चूँकि 'बुद्ध' बिना किसी भेदभाव के हरएक के भीतर निवास करते हैं, अतः विश्वास और भक्ति का मार्ग हर उस व्यक्ति के लिए खुला है जो बुद्धत्व प्राप्त करना चाहता है, चाहे वह व्यक्ति पुण्यात्मा हो या पापी। जापानी बौद्धधर्म में उस करुणामय प्रभु की अमिदा (अमित) 'जो अनन्त प्रकाश से भरपूर है' के रूप में पूजा की जाती है। इसीलिए जापान में अधिकांश रूप से प्रचलित भक्ति मार्ग की शाखा को अँग्रेज़ लेखकों ने अमिदा अथवा अमित – धार्मिक विचारधारा का नाम दिया है। बौद्धधर्म की इस भक्तिपूर्ण विचारधारा के सम्बन्ध में एडवर्ड कॉन्ज़ कहते हैं:

> *सभी मनुष्य, चाहे वे ईमानदार हैं अथवा अपराधी, बिना किसी भेदभाव के अमिदा के स्वर्ग में प्रवेश पा सकते हैं। वहाँ प्रवेश के लिए केवल एक ही शर्त है और वह है अमिदा की कृपा पर विश्वास। हम सभी समान रूप से पापी हैं और अमिदा करुणा और प्रेम से परिपूर्ण परमात्मा हैं।*[457]

हालाँकि मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि अमिदा (अमित) में विश्वास रखना केवल दिखावटी औपचारिकता है। जैसा कि ज़ंजीरो ताकाकुशु कहते हैं:

> *अमित में विश्वास होना केवल बुद्ध-स्वभाव की उच्च ध्यानावस्था का ही परिणाम है।*[458]

इस सम्बन्ध में *सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र)* हिन्दुओं के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ भगवद्गीता के साथ विशेष समानता रखता है। *सद्धर्म पुण्डरीक* में

जिस रूप और वातावरण में बुद्ध प्रकट हुए, वह अलौकिक है। भगवद्गीता में भगवान कृष्ण के विराट् स्वरूप के समान भगवान् बुद्ध के रूप को भी देदीप्यमान प्रकाश बिखेरते हुए चित्रित किया गया है, जिसके कारण नरक से लेकर बुद्ध के अट्ठारह हज़ार मण्डलों तक का विशाल क्षेत्र जगमगा रहा है।[459] असंख्य देवता और देवदूत उनमें समाये हुए हैं और स्वर्ग से निरन्तर उनके ऊपर पुष्प-वर्षा हो रही है। पुनः, जैसा कि भगवद्गीता में बताया गया है, करुणामय प्रभु (बुद्ध) की शरण में आ जाने पर एक पापी की भी सँभाल हो जाती है। भगवान् बुद्ध अपने भक्तों की रक्षा करते हैं और उनके सत्कार्यों तथा पूजा-भक्ति से बहुत प्रसन्न होते हैं।[460]

एक सच्चा भक्त पूरे दीन-भाव से अपने आप को गुरु को सौंप देता है और अपने आप को दास, अज्ञानी और मूढ़ कहता है। अपने गुरु की दया और करुणा पर भरोसा करके वह आत्मसमर्पण कर देता है, उनकी शरण ले लेता है और पूरी लगन से उनकी सेवा में जुट जाता है। बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों (उस परम सत्य 'धर्मकाय' अथवा 'तथागत' के साकार रूप) के प्रति विशुद्ध और गहरी श्रद्धा और भक्ति, पूर्ण तथा अटल समर्पण और अपने आप को गुरु के ऊपर न्योछावर कर देना तथा उन पर बिना शर्त पूरा भरोसा तथा विश्वास रखना, महायान बौद्धधर्म की कुछ ख़ास विशेषताएँ हैं। महायान के एक प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ *बोधिचर्यावतार* में से लिये गये कुछ उद्धरण बौद्धधर्म के भक्तिभाव की इन विशेषताओं को और अधिक स्पष्ट करते हैं। इस धर्मग्रन्थ के लेखक शान्तिदेव कहते हैं:

> *मैं अत्यन्त दीन हूँ, मुझमें कोई गुण नहीं है,*
> *तुम्हारी पूजा में अर्पण करने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है।*
> *हे प्रभु! आप परोपकार करने के उद्देश्य से यहाँ आये हैं,*
> *दया करो, मुझे अपनी शरण में ले लो,*
> *मैं हर तरह से अपने आप को पूर्ण रूप से जिनों*
> *(अजेय बुद्ध-महात्माओं)*
> *और बोधिसत्त्वों के आगे समर्पित करता हूँ।*

हे करुणा के मूर्तरूप, मुझे स्वीकार करो,
पूरी भक्ति से आपके दास के रूप में
मैं अपने आप को तुझे समर्पित करता हूँ।[461]

बुद्ध-महात्माओं की सुरक्षा के बिना मृत्यु के समय उन्हें जिस भयानक स्थिति का सामना करना पड़ेगा, उससे भयभीत हुए शान्तिदेव पुनः कहते हैं:

जब मैं मृत्यु के भयंकर दूतों द्वारा पकड़ा जाऊँगा,
और मैं नितान्त डर से बेबस,
मल-मूत्र में लिपटा हुआ,
चारों दिशाओं की ओर
दयनीय दृष्टि से देखूँगा
कि कोई आकर इस भयावह
स्थिति से मेरी रक्षा करे,
तब उस समय कौन-से सन्त मेरी
रक्षा के लिए आयेंगे?
कहीं से भी किसी को आते न देख
मैं पुनः अचेत हुआ
उस भारी डरावने स्थान पर क्या करूँगा?
यही सोचकर मैं आज ही उन अजेय (बुद्ध-महात्माओं)
की शरण लेता हूँ,
जो विश्व के समर्थ स्वामी हैं,
हर प्रकार का भय नाश करनेवाले हैं
और इस जगत् की रक्षा के लिए तत्पर हैं।[462]

महात्मा बुद्ध द्वारा स्वयं सहायता प्राप्त करके उन्हें यह बोध हो गया कि दूसरों की सहायता करने का क्या महत्त्व है; अतः शान्तिदेव दृढ़

संकल्प से दूसरों की भलाई और सेवा-कार्य के प्रति समर्पित हो गये। जैसा कि वे कहते हैं:

तथागत की पूजा के लिए,
मैं आज अपने आप को इस जगत् के प्रति
दास के रूप में समर्पित करता हूँ।
हज़ारों लोग मेरे सिर पर ठोकर मारें और मुझे पीटें,
परन्तु हे जगत् के स्वामी! बस आप मुझ पर प्रसन्न रहें।
इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं है कि
वे करुणामय प्रभु अपनी दया से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ
एकात्म हो गये हैं।
वास्तव में यह प्रभु ही
अनेक प्राणियों के रूप में दिखाई दे रहे हैं।
अतः उनकी सेवा करने में अपमान कैसा?[463]

गहरे अन्तर्मुखी अभ्यास के फलस्वरूप मनुष्य को अपने भीतर और बाहर बुद्ध की उपस्थिति का भान हो जाता है। यह जानकर कि वही एक प्रभु सभी प्राणियों में निवास करता है, शिष्य अपने अनादर और अपमान की परवाह किये बिना एक दास के रूप में सबकी सेवा के लिए तत्पर हो जाता है। उसके लिए दूसरों की सेवा करने का अर्थ है सर्वव्यापी तथागत की सेवा और आराधना करना।

चूँकि सभी बुद्ध और बोधिसत्त्व उसी एक तथागत अथवा धर्मकाय के साकार रूप होते हैं, अतः एक सच्चा बौद्ध समझता है कि अपने समय के बुद्ध के प्रति उसकी श्रद्धा और भक्तिभाव मानों सबके प्रति उसकी श्रद्धा और भक्ति है; ठीक वैसे ही जैसे कोई श्रद्धालु यदि विशाल समुद्र में एक स्थान पर स्नान करता है तो समझता है कि वह उस विशाल सागर में स्नान कर रहा है जो पूरे विश्व में फैला हुआ है।

यह विषय तिब्बती बौद्ध परम्परा में, विशेषकर गुरु योग की धारणा में बड़ी अच्छी तरह खोलकर समझाया गया है। गुरु योग से अभिप्राय है गुरु के प्रति ऐसा गहरा भक्तिभाव जिससे गुरु और शिष्य के मध्य एक गूढ़ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस योग की चर्चा करते हुए पैटुल रिनपोचे कहते हैं:

> *विशेषकर गुरु योग सभी मार्गों का सारतत्त्व है...एक प्रबुद्ध गुरु के प्रति पूर्ण निश्छलता और भक्तिभाव का होना शीघ्र उन्नति करने का सर्वाधिक विश्वसनीय साधन है... आध्यात्मिक गुरु स्वयं बुद्ध के समान होते हैं। वे पूर्वकालीन बुद्ध महात्माओं के सन्देशवाहक होते हैं, वर्तमान समय में स्वयं बुद्ध का मूर्तरूप होते हैं और अपने उपदेश के द्वारा भविष्य में प्रकट होनेवाले बुद्ध महात्माओं का स्रोत होते हैं।*[464]

आगे वे कहते हैं:

> *इसलिए पूर्ण अटल विश्वास, जो असाधारण श्रद्धा और भक्ति से पैदा होता है, अत्यन्त आवश्यक है।*[465]

जापान में बौद्धधर्म का सर्वाधिक प्रचलित स्वरूप 'अमित के प्रति भक्ति' है। जैसा कि ज़ंजीरो ताकाकुशु कहते हैं:

> *अमित-भक्ति से जुड़े सभी स्कूलों को मिलाकर जापान की आधी से अधिक जनसंख्या इसकी अनुयायी है...मनुष्य को पूर्ण रूप से केवल और केवल 'अमित' पर भरोसा करना चाहिए, क्योंकि केवल विश्वास ही निर्वाण प्राप्ति का साधन है...यहाँ तक कि यह विश्वास की भावना भी बुद्ध की दया से ही प्राप्त होती है और बुद्ध का ध्यान करना तथा उनके नाम का जाप करना उनके प्रति आभार व्यक्त करने की एक निशानी मात्र है।*[466]

नाम के सुमिरन में इतनी शक्ति होने और इसका इतना अधिक महत्त्व होने का जो कारण एडवर्ड कॉन्ज़ ने हमें संक्षेप में बताया है, उसकी ओर हमें ध्यान देना चाहिए। वे कहते हैं:

> *चूँकि नाम में ही बुद्ध-महात्माओं और बोधिसत्त्वों की शक्ति समायी हुई है, अतः इसका जाप करना सबसे अधिक गुणकारी साधना है।*[467]

वे आगे कहते हैं:

> *मनुष्य को बुद्ध-महात्माओं तथा बोधिसत्त्वों के साकार रूप को देखने की कल्पना द्वारा उन्हें देखने की आदत डालनी चाहिए और बुद्ध-जगत् के इन्द्रियग्राह्य सौन्दर्य का अनुभव करने के लिए अपने देखने, सुनने तथा सूँघने की इन्द्रियों को अभ्यस्त करना चाहिए।*[468]

दूसरे देशों में प्रचलित महायान बौद्धधर्म की बहुत-सी विचारधाराओं में अमित-भक्ति के ये लक्षण देखने को मिलते हैं।

चूँकि बहुत-से महायानी धर्मग्रन्थों में श्रद्धा अथवा भक्ति पर बहुत अधिक बल दिया गया है, इसलिए बहुत-से देशों में महायान के अनुयायी श्रद्धा अथवा भक्ति को निर्वाण प्राप्ति का या 'सुखावती' में स्थान पाने का सबसे प्रिय साधन मानते हैं।

एडवर्ड कॉन्ज़ स्पष्ट करते हैं कि क्यों अपने अलग अहंभाव और अहंकार जो निर्वाण प्राप्ति के मार्ग की सबसे कठिन बाधाएँ हैं; को मिटाने का सर्वोत्तम और सबसे अधिक प्रभावशाली साधन श्रद्धा अथवा भक्ति ही है। वे कहते हैं:

> *वास्तव में भक्तिभाव रखने से मनुष्य को केवल अपने आत्म-बल पर भरोसा रखने और स्वयं ही अपने जीवन की दिशा को*

निर्धारित कर, उस पर नियन्त्रण रखने और निर्वाण प्राप्त कर सकने का भाव दूर हो जाता है... श्रद्धा में अपने आप को समर्पित करने के लिए अपनी अलग हस्ती को बहुत कुछ मिटाना पड़ता है, क्योंकि अंशत: मनुष्य ख़ुद देखता है कि वह केवल अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं कर सकता और फिर अंशत: उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि उसके पूरे मनोयोग से किये गये सभी निजी प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं, तब वह मुक्ति के मार्ग पर किसी के सहारे आगे बढ़ना स्वीकार कर लेता है... थोड़ी-सी प्रारम्भिक विनम्रता द्वारा ही हमें यह बोध हो जाता है कि हम चाहे योग्य होने का कितना ही दावा क्यों न करें, परन्तु बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों और उनकी सहयोग-शक्ति के साथ हमारी कोई तुलना हो ही नहीं सकती... हमारी बुद्धि का सारा अभिमान या हमारे हृदय की पवित्रता का सारा अभिमान दूसरों के सामने हमारी एक अलग हस्ती खड़ी कर देता है। यदि हमें अपने बुद्धि की निस्सारता और हृदय की मलिनता का बोध हो जाये तो इस अहंभाव का नाश हो जाता है। केवल उस परम शक्ति की दया ही हमें पार लगा सकती है, हमारी अपनी युक्तियों और प्रयासों का कोई महत्त्व नहीं है।[469]

ऊपर दिये गये विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भिक और परवर्ती बौद्धधर्म में किसी न किसी रूप में श्रद्धा अथवा भक्ति का महत्त्व रहा है; परन्तु परवर्ती महायान बौद्धधर्म में इसका पूर्ण विकसित रूप दिखाई देता है और यह स्पष्ट है कि निर्वाण प्राप्ति में इसकी अधिक प्रबल तथा महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

8

निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग

दृष्टिकोण और अभ्यास विधियाँ

बौद्धधर्म ऐसे आचरणों और विचार-दृष्टियों को विकसित करने के लिए व्यापक मार्गदर्शन करता है जो निर्वाण-प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। यह उपदेश ऐसी जीवन-शैली को प्रस्तुत करता है जिसमें उन सभी मूलभूत प्रश्नों और चुनौतियों को सुलझाने की क्षमता है जिनका सत्य के सभी खोजियों को अपने अन्तर में अथवा बाहर इस संसार में अवश्य सामना करना पड़ता है। इस अध्याय में हम इन्हीं कुछ मूलभूत विषयों पर विचार करेंगे।

आध्यात्मिक मार्ग पर क़दम बढ़ाने के लिए दो आधारभूत शर्तों को पूरा करना आवश्यक है। पहला मनुष्य-जन्म प्राप्त होना और दूसरा किसी प्रबुद्धगुरु की खोज कर उनका अनुसरण करना। मनुष्य सभी प्राणियों में अनुपम है और उसे विवेक की शक्ति प्राप्त है। इस विवेक-शक्ति के कारण केवल हम मनुष्य ही आध्यात्मिक-जीवन का अनुसरण करने में समर्थ हैं और वास्तव में आध्यात्मिक-जीवन को अपनाना और उस परमलक्ष्य को प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है। अत: एक बार इस अनमोल मनुष्य-जन्म के प्राप्त होने पर हमारा सर्वोपरि हित

इसीमें है कि हम जहाँ तक सम्भव हो सके अपने परम आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पूरी लगन से जुट जायें। मनुष्य-जीवन के दुर्लभ अवसर की उपेक्षा करना हमारी बहुत बड़ी मूर्खता होगी। महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *जागरूकता मनुष्य को अमरत्व की ओर ले जाती है,*
> *और प्रमाद या ग़फ़लत मृत्यु की ओर ले जाती है।*
> *जो जागरूक हैं वे मृत्यु को प्राप्त नहीं होते,*
> *जो प्रमादी हैं वे तो मानो पहले से ही मृतक-समान हैं।*[470]

अपना लक्ष्य प्राप्त करने यानी दुःखों से पूर्णतया छुटकारा पाने के लिए अपने जीवनकाल में लगनपूर्वक प्रयास करना अत्यन्त आवश्यक है। *बोधिचर्यावतार* में शान्तिदेव कहते हैं:

> *मनुष्य-जीवनरूपी नाव प्राप्त करके*
> *दुःखरूपी भयानक नदी को पार कर ले।*
> *हे मूर्ख! यह सोने का समय नहीं है;*
> *इस नाव (मनुष्य-जन्म) को पुनः प्राप्त करना कठिन है।*[471]

त्रिरत्न

बौद्धधर्म में अध्यात्म-मार्ग पर क़दम बढ़ाने वालों के लिए ये त्रिरत्न अत्यन्त आवश्यक हैं – बुद्ध, बुद्ध का सच्चा उपदेश (धर्म) और आध्यात्मिक अभ्यासियों का समूह (संघ)। इन त्रिरत्नों में 'बुद्ध' अथवा सच्चे गुरु का सबसे अधिक महत्त्व है, क्योंकि एक सच्चे गुरु के बिना कोई भी अपने जीवन में धर्म को धारण नहीं कर सकता, और न आध्यात्मिक अभ्यासियों का संघ बना सकता है। निःसंदेह धर्म और संघ का भी अपना महत्त्व है, क्योंकि जब एक बुद्ध-महात्मा उपदेश देते हैं तो जिज्ञासुओं को धर्म का अनुसरण करने के लिए अभ्यास करना पड़ता है और इस

अभ्यास में अन्य आध्यात्मिक अभ्यासियों का संग बड़ा कल्याणकारी सिद्ध होता है।

यहाँ बौद्धधर्म के दृष्टिकोण से एक पूर्ण और देहधारी गुरु के महत्त्व पर पुनः संक्षिप्त चर्चा करना सहायक होगा। पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

> *गुरु मुख्य शरणदाता हैं... अतः उनमें त्रिरत्नों की सारभूत एकात्मकता को पहचानो...पूर्ण विश्वास से उनका अनुसरण करो और हर समय उनसे प्रार्थना करने की कोशिश करते रहो। याद रखो कि अपने मन, वचन अथवा कर्म से सतगुरु को नाराज़ करने का अर्थ है, उनकी शरण को त्यागना। अतः हमेशा उन्हें प्रसन्न करने का हर प्रयास करते रहो।*
>
> *चाहे कुछ भी हो, दुःख हो या सुख, परिस्थितियाँ अच्छी हों या बुरी, बीमारी हो या कष्ट, हर हाल में गुरुरूपी रत्न के हाथों में अपने आप को समर्पित कर दो।*[472]

बोधिधर्म (440-528 ईसवी) कहते हैं:

> *बुद्ध की खोज करने के लिए तुम्हें केवल अपनी मूल प्रकृति (स्वभाव) की ओर ध्यान देना है। तुम्हारी प्रकृति बुद्धरूप है और बुद्ध वह है जो मुक्त है: क्रियाकलापों से मुक्त है, चिन्ताओं से मुक्त है। यदि तुम अपनी प्रकृति की ओर ध्यान नहीं दोगे और पूरा समय कहीं इधर-उधर ढूँढ़ते फिरोगे, तो तुम्हें बुद्ध कभी प्राप्त नहीं होंगे। सत्य तो यह है कि ढूँढ़ने के लिए कुछ भी नहीं है। परन्तु ऐसी ज्ञानावस्था प्राप्त करने के लिए तुम्हें गुरु की और आत्मबोध के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता है। जीवन और मृत्यु दोनों का अपना महत्त्व है। इन्हें व्यर्थ न गँवाओ। अपने आप को धोखा देने से कोई लाभ नहीं होगा। भले ही तुम्हारे पास रत्नों के अम्बार लगे हों और गंगा के रेतकणों के समान असंख्य*

नौकर-चाकर हों, पर तुम उन्हें तभी तक ही देख पाओगे, जब तक तुम्हारी आँखें खुली हैं। परन्तु जब तुम सदा के लिए आँखें बन्द कर लोगे, तब क्या होगा? तब तुम्हें एहसास होगा कि जो भी तुम देख रहे हो, यह सब एक सपना अथवा छलावा है।

यदि तुम्हारा शीघ्र ही किसी गुरु से मिलाप नहीं होता तो तुम्हारा यह जीवन व्यर्थ ही चला जायेगा। यह सत्य है कि तुम्हारी बुद्ध-प्रकृति है। परन्तु एक गुरु से मिलाप के बिना तुम अपनी बुद्ध-प्रकृति को पहचान नहीं पाओगे।[473]

सच्चे आध्यात्मिक गुरु बुद्ध के परम सत्य स्वरूप 'धर्मकाय' से प्रकट हुए हैं, अत: निश्चय ही वे स्वयं बुद्ध हैं। स्वयं प्रबुद्ध जीवात्मा होने के कारण, केवल वे ही हमें हमारी वास्तविक प्रकृति की पहचान कराने में सहायक हो सकते हैं। जैसा कि पैट्रुल रिनपोचे ने कहा है:

गुरु का अनुसरण करने के लिए तुम्हें उन पर इतना विश्वास होना चाहिए कि तुम उन्हें वास्तविक बुद्ध-रूप ही जानो।[474]

मूल तथ्य तो यह है कि बुद्ध और बोधिसत्त्व धर्म यानी उपदेश और धर्मकाय यानी परम सत्य, दोनों के मूर्तिमान रूप हैं। इसलिए उस धर्मोपदेश को देने की योग्यता केवल उन्हीं के पास है जिनके द्वारा अभ्यासी धर्मकाय के साथ पूर्ण साक्षात्कार कर सकते हैं। जिज्ञासु बुद्ध के देहस्वरूप की शरण इसीलिए लेते हैं, क्योंकि ये देहस्वरूप धर्म के मूर्तरूप हैं; अन्यथा एक मनुष्य का किसी दूसरे मनुष्य की शरण में जाने का कोई तर्काधार ही नहीं है।

बौद्ध गुरु पूरी तल्लीनता से गुरु का दर्शन करने, तथा उनके आध्यात्मिक उपदेश को ध्यानपूर्वक और पूर्ण एकाग्रचित्त होकर सुनने पर बहुत अधिक बल देते हैं। प्रसिद्ध महायान-ग्रन्थ *गण्ड-व्यूह* का उद्धरण देते हुए शान्तिदेव अपने ग्रन्थ *शिक्षासमुच्चय* में अपने गुरु के दर्शन के दुर्लभ अवसर की महानता पर बहुत अधिक बल देते हैं:

लाखों करोड़ों युगों में भी
एक बुद्ध-महात्मा का उपदेश सुनना बहुत दुर्लभ है,
उनके दर्शन की तो बात ही क्या है!
उनका दर्शन सभी उलझनों को दूर करने की परम औषधि है;
जिसे सभी धर्मों का ज्ञान हो गया है,
जो त्रिलोकी के उस पार ले जा सकता है,
और जो सभी जीवों को पवित्र करता है,
उस जगत् के प्रकाश का दर्शन परम कल्याणकारी है।[475]

अपने गुरु के आध्यात्मिक उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनने का कितना अधिक महत्त्व है, इसके विषय में चर्चा करते हुए शान्तिदेव अपने ग्रन्थ *बोधिचर्यावतार* में कहते हैं:

जिन्हें सौभाग्य से अपने गुरु का सान्निध्य प्राप्त है,
जो उनकी आज्ञा में रहते हैं
तथा उनके प्रति भय और भक्तिभाव रखते हैं,
उनमें सहज ही सच्ची जागरूकता उत्पन्न हो जाती है।[476]

अपने गुरु के सान्निध्य में रहना और उनके उपदेश को पूरी तरह धारण करना एक आध्यात्मिक अभ्यासी के लिए बहुत सहायक होता है। इसीलिए पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

एक सुंदर सरोवर में तैरते हुए हंस के समान
अथवा फूलों के रस का स्वाद लेती हुई
मधुमक्खी के समान,
अपने गुरु के सान्निध्य में रहने से कभी न उकताओ;
अपितु उनसे प्रेरणा लो और
सदैव उनकी आज्ञा में रहो।

ऐसा भक्तिभाव रखने से तुम
उनके सभी गुणों का अनुभव प्राप्त कर लोगे।[477]

बुद्ध का देहरूप उनके शिष्यों के देहरूप के समान ही नश्वर है, परन्तु एक बुद्ध-महात्मा में जो धर्म समाहित होता है, वह अनश्वर है। इसीलिए दीक्षा के समय एक जिज्ञासु केवल बुद्ध-महात्मा की ही शरण नहीं ग्रहण करता, अपितु वह धर्म की भी शरण ग्रहण करता है। गुरु के इस नश्वर शरीर का त्याग कर देने पर भले ही यह पहली शरण शिष्यों की पहुँच से बाहर हो जाती है, तो भी शिष्यों को अपनी दूसरी शरण, धर्म, का अनुसरण नये विश्वास और अडिग संकल्प के साथ करना चाहिए। अपने गुरु के देह त्याग कर देने के बाद उनके शिष्यों को किसी अन्य गुरु की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है। धर्म के अभ्यास द्वारा वे बुद्ध की दया-मेहर का अनुभव करते रहेंगे और धर्म पर उनका विश्वास ही उन्हें अपने लक्ष्य की ओर ले जायेगा। महात्मा बुद्ध के अनुसार उनके प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करने का सबसे उत्तम साधन है उनके उपदेशों का पूरी निष्ठा से पालन करना।

तीसरी शरण संघ की, जो आध्यात्मिक अभ्यासियों का संगठन है, अर्थ पहले समझ लेना चाहिए। जैसे-जैसे महात्मा बुद्ध अपने उपदेश का प्रसार करते गये, बहुत-से पुरुषों तथा स्त्रियों को भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के रूप में दीक्षा दी गयी। जब उनकी संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी तो महात्मा बुद्ध तथा उनके उत्तराधिकारियों ने भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के संघ के लिए विस्तार से नैतिक नियम निर्धारित कर दिये। बाद में इन नैतिक नियमों को *विनय* नाम के धर्मग्रन्थ में संकलित कर लिया गया। इस नैतिक नियमावली का प्रमुख उद्देश्य साधकों का संघ बनाकर उन्हें मिल-जुलकर रहने के लिए प्रेरित करना था। इस नियमावली का तथा इसका पालन करनेवालों का पूरा सम्मान करना सबके लिए आवश्यक था। संघ की शरण में आने का अर्थ है, साधकों तथा नियमों दोनों के प्रति सम्मान तथा निष्ठा रखना।

संघ साधकों को अपना आध्यात्मिक अभ्यास करने के लिए अनुकूल परिवेश और वातावरण प्रदान करता है। सभी प्राणियों में से मनुष्य में सीखने, समझने और आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता है। परिणामस्वरूप मनुष्य जिस संगति में रहता है उससे वह बहुत अधिक प्रभावित होता है। गुरु की पावन उपस्थिति में समूचा वातावरण आध्यात्मिकता से जीवन्त हो उठता है और एक ज्ञान-सम्पन्न गुरु के प्रवचन जिज्ञासुओं को प्रेरणा देते हैं और उनके मन को ऊँचा उठाते हैं। दूसरी ओर दुनियावी लोगों की संगति प्रायः आध्यात्मिक खोज के अनुकूल नहीं होती। यही कारण है कि सत्य के खोजियों को संघ की शरण में रहने का उपदेश दिया जाता है।

जिस स्थान पर प्रबुद्धजन निवास करते हैं, उस स्थान पर निवास करना आत्मिक-उत्थान के लिए कितना सहायक होता है और उनके संघ में सम्मिलित होना कितने सौभाग्य की बात है, इस बात की ओर संकेत करते हुए महात्मा बुद्ध कहते हैं:

गाँव हो या वीरान
पठार हो या मैदान,
आनन्दपूर्ण है वह स्थान
जहाँ बुद्ध का निवास है।[478]

बुद्ध का प्रकट होना आनन्दमय है,
सच्चे धर्म पर उनका प्रवचन आनन्दमय है;
संघ में मिल-जुलकर रहना आनन्दमय है,
और आनन्दमय है संघ के प्रेमपूर्ण वातावरण में रहकर
आध्यात्मिक अभ्यास करना।[479]

दूसरी ओर मूर्खों की संगति में रहने से प्रतिकूल प्रभाव होता है और दुःख-कष्ट बढ़ जाते हैं:

आर्यजनों का दर्शन करना और उनकी
संगति में रहना सदैव आनन्दपूर्ण है।
जिसका मूर्खों से पाला नहीं पड़ता
वह सदा सुखी रहता है।
जो मूर्खों की संगति करता है
वह लम्बे समय तक दुःख भोगता है।
मूर्खों का संग शत्रु के संग के समान
सदैव कष्ट देनेवाला होता है।
जबकि विवेकी मनुष्य का संग
बंधुजनों से भेंट होने के समान
आनन्द देनेवाला होता है।[480]

बोधिचित्त

बौद्धधर्म का चरम लक्ष्य जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाना और सच्चे ज्ञान या बुद्धत्व की प्राप्ति करना है जिसे बौद्धधर्म में वस्तुओं को उनके यथावत् रूप में देखना कहकर समझाया गया है। महायान बौद्धधर्म में इस उद्देश्य को निस्सवार्थ प्रेरणा के साथ जोड़ दिया गया है ताकि सभी चेतन प्राणियों को बुद्धत्व की प्राप्ति के योग्य बनाया जा सके। इसी द्विपक्षीय उद्देश्य को 'बोधिचित्त' अर्थात् 'जाग्रत चित्त' कहा गया है।

सही प्रेरणा वह है जिसका किसी अस्थायी, भौतिक अथवा व्यक्तिगत लक्ष्य के साथ कोई सम्बन्ध न हो। यदि आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की हमारी इच्छा का उद्देश्य हमारे सीमित अहंभाव के साथ जुड़ा हुआ है तो वह इच्छा ज़्यादा देर तक नहीं ठहर सकेगी, क्योंकि हमारे अहंभाव का विचार नश्वर है। इसलिए उस अविनाशी परम सत्य के साथ जुड़ना अत्यन्त आवश्यक है। पैट्रुल रिनपोचे अपने ग्रन्थ *वर्डस ऑफ़ माय परफ़ेक्ट टीचर (Words of My Perfect Teacher)* में स्पष्ट करते हैं:

यहाँ पर "धर्म में प्रवेश करने का" अभिप्राय केवल कुछ उपदेश प्राप्त करने के लिए निवेदन करने और उसे ग्रहण करने से ही नहीं है। मुक्ति के मार्ग पर शुरुआत करने का अर्थ है—इस धारणा को दृढ़ करना कि समस्त संसार अर्थहीन है और सच्चे हृदय से यह संकल्प करना कि इस संसार से छुटकारा प्राप्त करना है। महायान के मार्ग पर चलने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है 'बोधिचित्त' को सच्चे अर्थ में जाग्रत करना। कम से कम इन तीन अमूल्य रत्नों पर ऐसा अटल विश्वास होना कि मनुष्य अपने प्राणों की ख़ातिर भी कभी उनका त्याग न करे। इसके बिना केवल प्रार्थना को दोहराते रहना और पीले वस्त्र धारण करना इस बात का प्रमाण नहीं है कि आपने धर्म में प्रवेश कर लिया है।[481]

महात्मा बुद्ध का दृष्टिकोण व्यावहारिक था—उन्होंने अपने शिष्यों से परिपूर्ण होने की माँग नहीं की; उन्होंने असम्भव की अपेक्षा नहीं रखी। उन्होंने तो केवल यह उपदेश दिया कि मुक्ति प्राप्त करने तथा इसमें दूसरों की सहायता करने के लिए उनके शिष्यों को सच्ची लगन के साथ तत्पर रहना चाहिए। हमारा संकल्प ही मार्ग पर उन्नति का आधार है। पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

किसी कार्य को अच्छा या बुरा क्या बनाता है?
यह नहीं कि वह कार्य बड़ा है या छोटा
अथवा कैसा दिखता है!
अपितु यह कि इसके पीछे आपकी प्रेरणा कैसी है,
अच्छी है या बुरी![482]

हमें तो बस अपने गुरु के निर्देशों से पूरा-पूरा लाभ उठाना है और गुरु द्वारा बताये गये अन्तर्मुखी आध्यात्मिक अभ्यास में पूरी निष्ठा से

जुट जाना है। अपनी कमियों की ओर ज़्यादा ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है—हम अपनी कमियों को स्वीकार करके इस मार्ग पर चलने की शुरुआत कर सकते हैं। गुरु का उद्देश्य है हमें वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप की पहचान करने और अपने सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार करने में हमारी सहायता करना। यदि हम अपने सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार कर लेते हैं, तो समझो हमने अपना मनुष्य-जन्म सार्थक कर लिया।

अष्टांगिक-मार्ग के प्रमुख अभ्यास

बौद्धधर्म की सम्पूर्ण अभ्यास-प्रक्रिया अष्टांगिक-मार्ग में निहित है। इसके आठ अंग इस प्रकार हैं:

1. सम्यग् दृष्टि
2. सम्यक् संकल्प
3. सम्यग् वाक्
4. सम्यक् कर्मान्त
5. सम्यग् आजीव
6. सम्यग् व्यायाम
7. सम्यक् स्मृति
8. सम्यक् समाधि[483]

इन आठ प्रकार की अभ्यास-क्रियाओं को तीन वर्गों में बाँटा गया है और इन तीनों वर्गों को प्राय: तीन सम्पदाएँ अथवा तीन 'खण्ड' कहा जाता है। ये हैं—शील, समाधि तथा 'पञ्ञा' (प्रज्ञा)। ज्ञान सम्पन्न भिक्षुणी धम्मदिन्ना एक गृहस्थ उपासक विसाख को इनके बारे में इस प्रकार समझाती है:

> *मित्र विसाख! सम्यग् वाक्, सम्यक् कर्मान्त और सम्यग् आजीव 'शील' के अंग हैं, सम्यग् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि 'समाधि' के अंग है तथा सम्यग् दृष्टि और सम्यक् संकल्प 'पञ्ञा' (प्रज्ञा) के अन्तर्गत आते हैं।*[484]

अष्टांगिक-मार्ग के ये सभी अभ्यास उस जीवन-शैली के लिए आवश्यक हैं जो मुक्ति की ओर ले जाती है। फिर भी हम यहाँ सातवें अभ्यास, सम्यक् स्मृति की अलग से चर्चा कर सकते हैं। बौद्धधर्म के उपदेश के अनुसार जीवन व्यतीत करने के लिए यह अभ्यास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। थिश हैत् हैन कहते हैं: "सम्यक् स्मृति को विकसित करने का अर्थ है... अपने भीतर बुद्ध को जाग्रत करना, शब्द को जाग्रत करना।"[485] चेतना की उस सीमा तक सजग रहते हुए निरंतर विकसित और विस्तृत होने का अभ्यास ही सम्यक् स्मृति (जागरूकता) है जब तक कि अंत में जिज्ञासु परमचेतन तत्त्व अर्थात् वास्तविक बुद्ध के साथ एकरूप नहीं हो जाता।

सभी मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से ही ध्यान लगाने की शक्ति (मनस्कार) निहित है, परन्तु हम हमेशा कभी एक वस्तु तो कभी दूसरी वस्तु की ओर ध्यान देते रहते हैं। बुद्धत्व की प्राप्ति के इच्छुक जिज्ञासुओं के सामने प्रश्न यह है कि सही अर्थ में ध्यान को कैसे एकाग्र किया जाये—एकाग्रता को किस प्रकार विकसित किया जाये कि हम सत्य का साक्षात्कार कर सकें। 'सम्यक्-स्मृति' के अभ्यास का अर्थ है अपना ध्यान पूरी तरह वर्तमान में स्थिर करना, यानी मन को ऐसी जाग्रत और सचेत अवस्था में लाना कि वह जो कुछ वर्तमान में—यहाँ और अभी है—उसे यथावत् रूप में जान ले और आत्मसात् कर ले, चाहे वह हमारी देह, हमारी भावनाएँ हों, या हमारा मन तथा मन के विषय हों।[486]

सम्यक् स्मृति अष्टांगिक मार्ग के अन्य सभी अभ्यासों में सहायक है और अन्य सभी अभ्यास इसके सहायक हैं, परन्तु विशेष रूप से यह सम्यक् स्मृति की गहरी अवस्था ही है जो समाधि की अवस्था प्राप्त करने का आधार बनती है। अन्तर्मुखी स्मृति अंतत: शून्य तथा प्रशान्त अवस्था की ओर ले जाती है और इस शून्यावस्था में चेतनस्तर पर जो अनुभूति होती है वह 'ज्यों का त्यों, वैसी ही है'। वह सत्य और शाश्वत है।

निर्वाणपद की प्राप्ति की ओर ले जानेवाला सर्वोच्च ज्ञान समाधि द्वारा ही प्राप्त होता है और समाधि की अवस्था प्राप्त करने के लिए शील

तथा संयम द्वारा मन को पवित्र बनाना आवश्यक है। इस प्रकार बौद्धधर्म में शील और संयम, स्मृति और समाधि, सर्वोच्च आन्तरिक ज्ञान तथा परम निर्वाणपद एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं और साधना के इस मार्ग पर उन्नति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सूचक हैं। जिज्ञासु पहले अपने अन्दर शील को विकसित करते हैं, फिर एकाग्रचित्त होने का प्रयास करते हैं जिसके द्वारा ज्ञान तथा अन्तर्बोध प्राप्त होता है।[487] पूर्ण प्रज्ञा प्राप्त करके वे परम निर्वाणपद को प्राप्त करते हैं।[488]

"शील से ही प्रज्ञा अलंकृत होती है।"[489] शील और प्रज्ञा के बीच जो घनिष्ठ और परस्पर पूरक सम्बन्ध है, उसे महात्मा बुद्ध के प्रसिद्ध उपदेश में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है:

> *शील से प्रज्ञा की शुद्धि होती है और प्रज्ञा शील को निर्मल करती है; जहाँ शील है, वहाँ प्रज्ञा है और जहाँ प्रज्ञा है, वहाँ शील है; शीलवान् मनुष्य प्रज्ञावान् होता है और प्रज्ञावान् मनुष्य शीलवान् होता है; अत: शील और प्रज्ञा की इस जगत् में सर्वाधिक महिमा है।*[490]

बौद्धधर्म का अष्टांगिक मार्ग एक व्यापक और सन्तुलित आध्यात्मिक अभ्यास का मार्ग प्रस्तुत करता है जो कठोरता से मुक्त है। किसी भी अवस्था में एक जिज्ञासु को असावधान अथवा आलसी नहीं होना है अपितु निर्वाणपद तक पहुँचने के लिए उसे सदैव दृढ़संकल्प को बनाये रखना है। महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *हे भिक्षुओं! जब तक तुम विकारों का नाश नहीं कर लेते, आराम से मत बैठो।*[491]

> *आपको ऐसा आभास हो सकता है... 'इतना पर्याप्त है, इतना प्राप्त कर लेना ही काफ़ी है, हमारा आध्यात्मिक-जीवन धन्य हो गया है, अब कुछ भी करना शेष नहीं है', और ऐसा सोचकर आप सन्तुष्ट हो सकते हो। हे भिक्षुओं! मैं यह घोषणा करता हूँ, तुम्हें निर्देश देता हूँ कि अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए जब तक आप इसके अंतिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाते, आगे बढ़ते रहो, रुको मत, कहीं आपसे कुछ करना बाक़ी न रह जाये।*[492]

एक आध्यात्मिक अभ्यासी का छोटे से छोटे दूषित विचार और कर्म के प्रति सावधान रहना अति आवश्यक है।[493] महात्मा बुद्ध एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण देते हैं जो विषाक्त तीर से बिंधा है। तीर तो निकाल लिया गया है, परन्तु उसके बाद भी अपने खुले घाव की मरहमपट्टी किये बिना वह बेखटके इधर-उधर घूमता रहता है। परिणामस्वरूप उसे कष्ट उठाना पड़ता है।[494] दूसरी ओर महात्मा बुद्ध यह संकेत देते हैं कि मार्ग पर पूरी सावधानी तथा सतर्कता से दृढ़संकल्प होकर चलने से बड़ी शक्ति प्राप्त होती है:

> *एक आन्तरिक अभ्यासी जो सावधानी-पूर्वक*
> *चलने में प्रसन्न होता है*
> *और जो लापरवाही से बहुत डरता है*
> *वह आग के समान रास्ते में आनेवाली*
> *सभी छोटी-बड़ी बाधाओं को लाँघते हुए आगे बढ़ता जाता है।*[495]

पंचशील अथवा पंच संयम

अपनी आध्यात्मिक यात्रा में आगे बढ़ना ही मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य है, परन्तु यह कार्य अत्यन्त चुनौतीपूर्ण भी है। अत: जिज्ञासुओं के लिए एक सम्बोधि प्राप्त गुरु की शरण में आना अत्यन्त आवश्यक है। एक बार गुरु की शरण में आ जाने पर शिष्य उनके निर्देशानुसार सही मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं। हम 'बोधिचित्त' यानी सम्यक् प्रेरणा को विकसित करने के महत्त्व को समझ चुके हैं। अब हम उन पूर्व अपेक्षित नियमों की ओर ध्यान देंगे जिन्हें महात्मा बुद्ध ने इस मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक बताया है।

बौद्धधर्म के जिज्ञासु पाँच मूलभूत नियम (पंचशील) अपनाकर अपने आध्यात्मिक अभ्यास की शुरुआत करते हैं। ये पाँच मूलभूत संयम हैं: जीव हिंसा से परहेज़, जो वस्तु दी नहीं गयी, उसे लेने से परहेज़ (चोरी न करना), कामवासना में लिप्त होने से परहेज़, झूठ बोलने से परहेज़ और नशीले पदार्थों से परहेज़।[496] इनका दृढ़ता से पालन करना हर आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए बहुत आवश्यक है। इनमें से किसी एक का भी उल्लंघन आध्यात्मिक मार्ग में बाधा माना जाता है।

ऐसा माना जाता है कि अगर मन पंचशील के अनुसार जीवन व्यतीत करना सीख लेता है तो यह सहज भाव से उस कार्य को करता है जो उचित और कल्याणकारी है। जैसे-जैसे शिष्य मार्ग पर उन्नति करता जाता है, उसका मन और अधिक निर्मल होता जाता है। तब उसका मन स्वाभाविक रूप से सद्गुणों और करुणा से भर जायेगा। फिर वह शिष्य परोपकार में जुट जायेगा। हालाँकि मुक्ति प्राप्त करने के लिए केवल इन नियमों का पालन करना ही पर्याप्त नहीं है। समाधि या अन्तर्मुखी साधना द्वारा ही मन धीरे-धीरे शुद्ध होता है और मनुष्य गूढ़ ज्ञान तथा अन्तर्बोध प्राप्त करता है। यही कारण है कि पंचशील का उपदेश देने के बाद महात्मा बुद्ध यह भी कहते हैं:

> *जब मन एकाग्र, शुद्ध, निर्मल, दोषों से रहित, विकारों से मुक्त, ग्रहणशील, आज्ञाकारी, शान्त और स्थिर हो जाता है, तभी कोई साधक अपने मन को अन्तर्बोध तथा उच्चतर ज्ञानप्राप्ति की ओर मोड़ता है।*[497]

> *इस तरह से मुक्तावस्था प्राप्त करने के पश्चात् उसके अन्तर में यह ज्ञान जाग्रत होता है कि वह बन्धनरहित हो चुका है, उसके लिए पुनर्जन्म नष्ट हो गया है; उसने अपने आध्यात्मिक जीवन को निभा लिया है और जो कुछ करना था, उसे वह पूरा कर चुका है; इसके पश्चात् कुछ भी शेष नहीं है।*[498]

बौद्धधर्म के अनुसार यह आन्तरिक अभ्यास ही है जिसके द्वारा पूर्ण शुद्धि, अन्तर्बोध तथा गूढ़ ज्ञान की प्राप्ति होती है और अंततः सांसारिक बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है। पंचशील में बताये गये पाँचों संयम इस मार्ग में प्रवेश पाने के लिए पूर्व अपेक्षित आवश्यक नियम हैं जबकि इन पाँच नियमों के पालन के साथ-साथ आन्तरिक अभ्यास ही मार्ग है। यह आन्तरिक अभ्यास ही है जिसके द्वारा साधक पूर्ण रूप से उस कार्य को पूरा करने में समर्थ होता है जो पूरा करने योग्य है।

यहाँ इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि बौद्धधर्म में वर्णित आरम्भिक पाँचों संयम भले ही देखने में नकारात्मक लगेंगे – क्योंकि ये संयमों के रूप में हैं – तथापि ये सकारात्मक उपलब्धियों का आधार बनते हैं। यह सोचना अनुचित है कि बौद्धधर्म नकारात्मक गुणों पर बल देता है; नकारात्मकता को दूर करके ही उसके विपरीत सकारात्मकता को विकसित किया जा सकता है। हमें महात्मा बुद्ध के निम्नलिखित कथन पर ध्यान देना चाहिए:

> *समस्त बुराई से बचना,*
> *अच्छाई को विकसित करना,*
> *और अपने मन को विशुद्ध बनाना,*
> *यही बुद्ध-महात्माओं का उपदेश है।*[499]

बौद्धधर्म के ये मूलभूत संयम और उपदेश आध्यात्मिक साधकों को सही मार्ग पर बनाये रखने में सहायक होते हैं। इन नियमों का पालन किये बिना समाधि की साधना या आन्तरिक अभ्यास फलदायक नहीं हो सकता। पर केवल इन नियमों का पालन, आध्यात्मिक ज्ञान, अन्तर्बोध या मुक्ति नहीं दिला सकता। परन्तु यदि अपने गुरु द्वारा दिये गये निर्देशों तथा विधियों का सहारा लेकर पूरे विश्वास और श्रद्धा से आध्यात्मिक अभ्यास किया जाये, तो इच्छित फल की प्राप्ति निश्चित रूप से होगी। गुरु बस्सुई कहते हैं:

बुद्ध के महल में प्रवेश पाने के लिए ये नियम शीघ्रता से ले जानेवाले मार्ग हैं। ये धर्मरूपी रत्न की रक्षा करनेवाले दुर्ग की खाई और दीवार हैं जो छः विरोधियों* को दुर्ग से दूर रखते हैं। यदि दुर्ग सुरक्षित नहीं है तो शत्रु इसका नाश कर देंगे और वे शत्रु हैं – जीवन और मृत्यु। तुम्हें अन्धकार के राजा के सामने लज्जित होना पड़ेगा और फिर नरक के सबसे निकृष्ट भागों में अनन्त पीड़ा झेलनी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त ये नियम इस जगत् के मानदण्ड निर्धारित करते हैं। जब शाही मार्ग के इन नियमों का पालन किया जायेगा तो चारों ओर शान्ति का साम्राज्य होगा। परन्तु जब मानवता तथा न्याय का हनन होगा तब संसार कलहग्रस्त हो जायेगा। जब हवा और वर्षा अपने स्वाभाविक रूप से कार्य करेंगे, तब देश में अमन और शान्ति का वातावरण रहेगा। परन्तु जब कृषि के नियमों का पालन नहीं होगा, तब पाँच अनाजों की उपज नहीं होगी। तो फिर बुद्ध के इस संसार में स्थिति इससे बढ़कर और क्या कुछ नहीं हो सकती? उदाहरण के लिए, यदि आपको बोधिज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है परन्तु यदि आप पूरी निष्ठा से नियमों का पालन करते हैं और सत्कर्म करते हुए बुरे कर्मों का बोझ इकट्ठा नहीं करते तो आप सौभाग्य से या तो मनुष्य-जन्म प्राप्त करेंगे या फिर देवयोनि प्राप्त करेंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जो साधक बाहर से नियमों का पालन कर रहा है और साथ ही अन्तर में अपने वास्तविक स्वरूप की खोज में लगा हुआ है, उसे निश्चित रूप से बुद्ध-मार्ग की प्राप्ति वैसे ही होगी जैसे पानी में पानी मिल जाता है।[500]

* ये छः विरोधी हैं: देखना, सुनना, स्वाद, स्पर्श और गन्ध का अनुभव करना तथा इन पर आधारित परिकल्पना करना जो इन्द्रियों की वृत्ति के कारण होते हैं।

पहला निर्देश – जीव हिंसा से परहेज़ करना, बौद्धधर्म में अहिंसा के महत्त्व को दर्शाता है। इसका अर्थ है – हिंसा से परे रहना और इस विचार को पोषण देना कि केवल मानव-जीवन ही नहीं, बल्कि समस्त जीवन अत्यन्त मूल्यवान् है। बौद्धधर्म के बहुत से अनुयायियों के लिए इस निर्देश का अर्थ है कि हमें किसी भी प्रकार का मांसाहार नहीं करना चाहिए। आम तौर पर लोग या तो स्वयं खाने के लिए या फिर दूसरों के खाने हेतु बेचने के लिए जानवरों की हत्या करते हैं। बात चाहे मांसाहार की हो अथवा जीव हत्या की – जीव हत्या न करने का उपदेश किसी भी सूरत में मांसाहार के प्रश्न को ही समाप्त कर देता है। हालाँकि बौद्धधर्म के कुछ अनुयायी महात्मा बुद्ध के समय में भिक्षा पर निर्भर रहनेवाले भिक्षुओं के भोजन से सम्बन्धित सूत्रों के कुछ अंशों की व्याख्या करते हुए यह कहते हैं कि महात्मा बुद्ध का पहला उपदेश मांसाहार से सम्बन्धित नहीं है। हम इस विषय पर बाद में विस्तार से विचार करेंगे।

यह समझना कठिन नहीं है कि बौद्धधर्म का दूसरा, तीसरा और चौथा नियम यानी चोरी न करना, काम-वासना और बेईमानी से परहेज़ करना – ये सब नैतिक जीवन का सुदृढ़ आधार बनाते हैं। इन तीन निर्देशों के आधार पर ही वह नियम बनता है जो आध्यात्मिक अभ्यासियों के कार्य-व्यवहार को दिशा देता है। पाँचवाँ नियम नशीले पदार्थों से परहेज़ करने का है। यह हर उस व्यक्ति के लिए आवश्यक है जो मन को नियन्त्रित और स्थिर करना चाहता है, क्योंकि मन की स्थिरता बौद्धधर्म के अभ्यास का मुख्य बिन्दु है। इन पाँच आधारभूत नियमों के पालन से बल प्राप्त कर जिज्ञासु फिर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नियम के प्रति अपने आप को पूरी तरह समर्पित कर सकता है और वह महत्त्वपूर्ण नियम है – दृढ़ संकल्प और विश्वास से समाधि की साधना या आन्तरिक अभ्यास करना।

चीनी महायान धर्मग्रन्थ *सूत्र ऑफ़ परफ़ेक्ट एनलाइटनमेंट (Sutra of Perfect Enlightenment)* में कहा गया है:

एकाग्रता का उत्पन्न होना नैतिक संयम पर निर्भर है; ज्ञान की उत्पत्ति एकाग्रता पर निर्भर है – यही आन्तरिक अभ्यास का क्रम है। नैतिक संयम के बिना पूर्ण एकाग्रता की स्थिति प्राप्त नहीं होती और एकाग्रता के बिना ज्ञान प्रकट नहीं होता।[501]

जीवन के प्रति समादर तथा शाकाहार

यद्यपि महात्मा बुद्ध अपने पहले नियम में 'जीव हिंसा से परहेज़' की बात करते हैं, तो भी अकसर यह दलील दी जाती है कि उसका अर्थ मांसाहार से परहेज़ करना नहीं है। अब हम देखेंगे कि महात्मा बुद्ध और अन्य बौद्ध गुरु इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं।

हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि महात्मा बुद्ध भारत के जिस भाग में रहे और अपने उपदेश का प्रचार किया, वहाँ उस समय मांसाहार का आम प्रचलन नहीं था। वास्तव में, भारत में लम्बे समय से शाकाहार की एक परम्परा चली आ रही है और अभी भी काफ़ी हद तक इसका प्रचलन है। अत: स्वाभाविक रूप से एक प्रतिष्ठित गृहस्थ द्वारा किसी साधु को मांसाहार परोसना और उसके बाद जान-बूझकर साधु द्वारा ऐसा भोजन ग्रहण करना धर्म निषिद्ध समझा जाता था।

महात्मा बुद्ध तथा एक भद्रपुरुष जीवक कोमारभच्च के बीच हुए इस वार्तालाप से यह बात स्पष्ट हो जाती है। कोमारभच्च प्रश्न करते हैं:

हे महात्मा! मैंने यह सुना है कि वे लोग श्रमण गौतम के लिए जान-बूझकर पशु-पक्षियों को मारते हैं और श्रमण गौतम अपनी इच्छा से इन मारे गये पशु-पक्षियों के मांस का प्रयोग करते हैं जो मांस उनके लिए विशेष रूप से लाया जाता है। महात्मा! जो ऐसा कहते हैं, क्या वे सत्य बोलते हैं या फिर ऐसा करके वे आप पर मिथ्यारोप लगा रहे हैं?

महात्मा बुद्ध उत्तर देते हैं:

हे जीवक! जो ऐसा कहते हैं वे मुझ पर इस बात का मिथ्यारोप लगा रहे हैं जो न तो सत्य है, न इसका कोई प्रमाण है।...

हे जीवक! जो तथागत अथवा तथागत के किसी शिष्य के लिए जान-बूझकर किसी जीवित प्राणी की हत्या करता है, वह पाँच प्रकार से पाप का भागी होता है। जब वह कहता है, 'जाओ और फ़लाँ जीवित प्राणी को ले आओ', तो ऐसा कहने भर से ही वह पहले भारी पाप-कर्म का संग्रह करता है। जब वह जीवित प्राणी लाया जा रहा होता है तो उसे कष्ट और गले में घुटन महसूस होती है जिसके कारण दूसरी बार वह भारी पाप-कर्म का संग्रह करता है। फिर जब वह कहता है: 'जाओ इसकी हत्या कर दो' – तो तीसरी बार वह भारी पाप-कर्म कमाता है। जब इस जीवित प्राणी की हत्या की जाती है और इसे कष्ट तथा पीड़ा होती है तो चौथी बार वह भारी पाप-कर्म का बोझ बढ़ा लेता है। फिर यदि वह तथागत अथवा तथागत के किसी शिष्य को निषिद्ध आहार परोसता है तो फिर पाँचवीं बार वह भारी पाप-कर्म का संग्रह करता है। हे जीवक! जो तथागत के लिए अथवा तथागत के किसी शिष्य के लिए जान-बूझकर किसी जीवित प्राणी की हत्या करता है, वह इन पाँच तरीक़ों से भारी पाप का भण्डार इकट्ठा कर लेता है।[502]

महात्मा बुद्ध तीन बातें स्पष्ट करते हैं। पहली यह कि हम नैतिक रूप से उस कार्य के लिए ज़िम्मेदार होते हैं जो जान-बूझकर अथवा अपनी इच्छा से किया जाये। वे कहते हैं कि जब किसी ने तन, मन अथवा वाणी से जान-बूझकर (संचेतनिकं) कोई कर्म किया है तो उसके अनुसार उसे सुख, दु:ख अथवा न सुख और न ही दु:ख की अनुभूति होगी।[503]

दूसरी बात यह है कि ऐसा व्यक्ति जिसमें अपने इरादे और इच्छा के अनुसार काम करने की क्षमता है, यदि वह जान-बूझकर मांस खाता है तो महात्मा बुद्ध के अनुसार उस व्यक्ति को नैतिक रूप से किसी भी प्रकार से निर्दोष नहीं कहा जा सकता। तीसरे, केवल वे ही व्यक्ति जीव हिंसा के लिए उत्तरदायी नहीं हैं जो एक जीवित प्राणी को मारते हैं, अपितु वे भी इस हिंसा के लिए उत्तरदायी हैं जो अपने मांसाहार द्वारा इसकी माँग को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि उनकी माँग पूरी करने के लिए ही जीव हिंसा की जाती है।

नीचे दिये गये महात्मा बुद्ध के कुछ कथन हमें इस विषय पर गम्भीरता से विचार करने के लिए बाध्य करते हैं:

> *सभी दण्ड से डरते हैं, सभी मृत्यु से कम्पित होते हैं।*
> *दूसरों को अपने समान समझते हुए*
> *व्यक्ति को न तो स्वयं हत्या करनी चाहिए,*
> *और न दूसरों द्वारा हत्या करानी चाहिए।*[504]
>
> *जो अपने सुख की ख़ातिर*
> *अन्य प्राणियों को दुःख देता है,*
> *जो (उसी के समान) सुख की चाह रखते हैं,*
> *उसे मृत्यु के पश्चात् सुख नहीं मिलता।*[505]

पालि त्रिपिटक की एक और पुस्तक *अंगुत्तर निकाय* में महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *हे भिक्षुओं! जो इन तीन प्रकार के कर्मों को करता है, उसे अपने कर्मफल के अनुरूप नरक में भेजा जाता है। कौन-से तीन प्रकार के कर्म? जीव हिंसा करना, जीव हिंसा के लिए दूसरों को प्रोत्साहित करना तथा जीव हिंसा की स्वीकृति देना।*[506]

इसके पश्चात् महात्मा बुद्ध जीविका के निषिद्ध साधनों को गिनाते हुए कहते हैं:

> *जीविकोपार्जन के इन पाँच साधनों को निषिद्ध माना गया है: (1) हथियार बेचना (2) पशुओं अथवा मनुष्यों को बेचना (3) मांस बेचना (4) नशीले पेय-पदार्थ बेचना और (5) ज़हर (विष) बेचना।*[507]

महात्मा बुद्ध का कहना है कि लोगों को इस बात पर विचार करना चाहिए कि जीव हिंसा के क्या परिणाम होते हैं:

> *एक निष्ठावान् शिष्य इस प्रकार विचार करता है: जीव हिंसा के कारण उत्पन्न हुए कर्म-बंधनों से छुटकारा पाने और उनसे मुक्त होने के लिए मैं पवित्र जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। यदि मैं फिर जीव हिंसा करूँ तो मेरी अपनी अन्तरात्मा मुझे कचोटेगी; बुद्धिमान् लोग भी उचित विचार कर मुझे ही दोष देंगे और जीव हिंसा के कारण मेरी मृत्यु के पश्चात् जब यह शरीर नष्ट हो जायेगा तो नियति अपने भयानक रूप में मेरी प्रतीक्षा में होगी। जीव हिंसा करना निःसन्देह अपने पाँवों में बेड़ियाँ डालना है। यह वास्तव में एक बहुत बड़ी बाधा है... परन्तु वह व्यक्ति जो जीव हिंसा से परहेज़ करता है, उसके लिए ऐसे विनाशकारी और पीड़ादायक विकार या रोग उत्पन्न नहीं होते।*[508]

महात्मा बुद्ध ब्राह्मणों के एक समूह को सम्बोधित करते हुए कहते हैं:

> *माता-पिता, भाई-बन्धु और अन्य सम्बन्धियों के समान गायें भी हमारी श्रेष्ठ मित्र हैं जो हमें अनेक औषधियाँ प्रदान करती हैं। वे भोजन और शक्ति देनेवाली हैं, इसी प्रकार वे स्वस्थ रूप-रंग और*

सुख देनेवाली हैं; यह सब जानते हुए वे (पूर्वकाल के ब्राह्मण) गोहत्या नहीं करते थे।[509]

सुत्त-निपात के तीसरे अध्याय में महात्मा बुद्ध स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य कर्मों द्वारा ही (जन्म द्वारा नहीं) सच्चा ब्राह्मण बनता है। इस सन्दर्भ में महात्मा बुद्ध स्पष्ट करते हैं कि एक ब्राह्मण केवल स्वयं ही जीव हिंसा से परहेज़ नहीं करता, बल्कि वह दूसरों से भी जीव हिंसा नहीं करवाता। वे कहते हैं:

कमज़ोर या भयभीत अथवा शक्तिशाली – सभी प्राणियों के प्रति जिसने हिंसा का त्याग कर दिया है, जो न हिंसा करता है, और न करवाता है, उसे मैं (सच्चा) ब्राह्मण कहता हूँ।[510]

इतने पर भी कुछ लोग यह कहकर मांसाहार को उचित ठहराते हैं कि महात्मा बुद्ध ने अपने अन्तिम भोजन में जानते हुए सूकर-मांस खाया था। अपने मत के समर्थन में वे यह कहते हैं कि चुन्द ने महात्मा बुद्ध द्वारा इच्छा प्रकट करने पर ही उन्हें सूकर-मांस परोसा था। परन्तु विवरण के अनुसार जब चुन्द ने महात्मा बुद्ध और उनके साथ आये भिक्षुओं को अपने घर आने का निमन्त्रण दिया, उस समय उसने तरह-तरह के उत्कृष्ट पकवान तैयार करवाये जिसमें स्वादिष्ट दूध में पकाया गया चावल यानी सूकर-मद्दव भी था। महात्मा बुद्ध ने चुन्द को अपने लिए केवल सूकर-मद्दव परोसने को कहा।[511]

यह व्याख्या कि महात्मा बुद्ध के अन्तिम भोजन सें सूअर का मांस था, सूकर-मद्दव और सूकर-मांस, इन दो शब्दों पर आधारित है। पहले का अर्थ है – स्वादिष्ट सुपाच्य भोजन – जो पोषण तथा ताक़त के लिए विशेष रूप से अच्छी क़िस्म के चावल और ढेर सारे दूध से बनाया

जाता है। सूकर-मद्दव को कभी-कभी ग़लती से सूकर-मांस का पर्याय मान लिया जाता है।*

भारत के जिस भाग में महात्मा बुद्ध ने अपना अन्तिम भोजन लिया, वहाँ बौद्धधर्म से जुड़े हुए अथवा अन्य सन्त-महात्माओं के विषय में ऐसा उल्लेख मिलता है कि उन्हें दूध-भात और अन्य मिष्टान्न परोसे गये, परन्तु कहीं पर भी ऐसा वर्णन नहीं है कि उन्हें कभी मांस भी परोसा गया। अतः महात्मा बुद्ध को मांसाहारी बताना तथ्यहीन है। हमने देखा है कि महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट रूप से गृहस्थों को मना किया है कि वे जान-बूझकर भिक्षुओं को मांस न परोसें और भिक्षु जान-बूझकर मांस न खायें। महात्मा बुद्ध जिन्होंने पहला नैतिक उपदेश ही अहिंसा का दिया है, उनके बारे में क्या यह सोचा जा सकता है कि वे मांसाहारी भोजन परोसने के लिए कहेंगे?

प्रसिद्ध महायान ग्रन्थ *लंकावतार सूत्र* में मांसाहार की भर्त्सना की गयी है। इसमें महात्मा बुद्ध बोधिसत्त्व महामति के सामने अपना जो विचार व्यक्त करते हैं उसमें से कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं:

भगवान् बुद्ध ने उनसे ये शब्द कहे: महामति बोधिसत्त्व! जो स्वभाव से करुणामय हैं, उन्हें अनेक कारणों से मांस नहीं खाना चाहिए। मैं वे कारण स्पष्ट करता हूँ।

हे महामति! यहाँ (इस जगत् में) एक भी जीवित प्राणी ऐसा नहीं है जो आवागमन की इस लम्बी अवधि के दौरान शरीर धारणकर कभी न कभी तुम्हारा माता-पिता, भाई-बहन, बेटा अथवा बेटी न रहा हो... और फिर किसी दूसरी योनि

---

* *दीघ निकाय* (अनु. टी. डब्ल्यू रिज़ डेविड्ज़) में पालि शब्द सूकर-मद्दव का उल्लेख है। उन्होंने इस शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस शब्द के दो अर्थ हैं: एक अर्थ है सूकर-कंद (गुद्देदार जड़ वाला कन्द जिसे पकाकर या उबालकर खाया जाता है) अथवा भत्त (पकाया हुआ चावल)। दोनों ही शाकाहारी भोजन हैं। (*डायलॉग्स ऑफ़ द बुद्ध*, भाग-2, पृ. 137)

में एक जानवर, एक पालतू पशु, एक पक्षी अथवा एक गर्भ से उत्पन्न प्राणी के रूप में या फिर किसी अन्य सम्बन्ध के रूप में तुम्हारे सम्पर्क में न आया हो। (ऐसी स्थिति में) वे बोधिसत्त्व-महासत्त्व जो सभी जीवित प्राणियों को अपना ही रूप समझते हैं और बोधिसत्य का अभ्यास करते हैं, वे कैसे किसी दूसरे जीवित प्राणी का मांस खा सकते हैं, जबकि वे भी उन्हीं के समान हैं?... कुछ विशेष परिस्थितियों में भी एक सम्मानित बोधिसत्त्व के लिए मांस खाना करुणापूर्ण नहीं है।... हे महामति! ज्ञानीजनों के लिए वही भोजन लेना उचित है जो ऋषि-मुनि (पुरातन महात्मा) खाया करते थे, इसमें मांस और रक्त शामिल नहीं था। अतः हे महामति! एक बोधिसत्त्व को मांसाहार से परहेज़ करना चाहिए।...

हे महामति! मैंने जिस प्रकार का भोजन (अपने शिष्यों को) लेने की अनुमति दी है, वह सभी ज्ञानीजनों को मान्य है, परन्तु जो अज्ञानी हैं, वे इसे नहीं मानते; इसके अनेक लाभ हैं। यह कई बुराइयों से दूर रखता है, और पुरातन ऋषिओं ने इसे उचित ठहराया है। इसमें चावल, जौ, गेहूँ, राजमा, फलियाँ, दालें आदि तथा घी, तेल, शहद, गुड़, शीरा, गन्ना, मोटी चीनी आदि शामिल हैं। इन पदार्थों से पकाया गया भोजन उचित भोजन है। हे महामति! भविष्य में कुछ ऐसे मूढ़ व्यक्ति हो सकते हैं जो अपने को भिन्न प्रकार का मानेंगे, तथा जो नैतिक अनुशासन के लिए अपना अलग सिद्धान्त बनायेंगे और जो मांसाहारी जातियों की बुरी आदतों से प्रभावित होकर स्वाद के लोभ में मांसाहार की ओर लालायित होंगे। ऊपर जो भोजन मैंने निश्चित किया है, वह इनके लिए नहीं है। हे महामति! बोधिसत्त्व महासत्त्व के लिए मैं इसी प्रकार के भोजन का अनुरोध करता हूँ।

हे महामति! भविष्य में कुछ ऐसे अज्ञानी हो सकते हैं जो स्वादेन्द्रिय के वशीभूत होकर मांसाहार के प्रति लालायित होंगे

और कई प्रकार से बड़ी-बड़ी दलीलें देकर मांसाहार को उचित ठहरायेंगे... परन्तु हे महामति! सूत्रों में कहीं पर भी मांसाहार को स्वादिष्ट बताकर इसे खाने की इजाज़त नहीं दी गयी है और न बताये गये खाद्य-पदार्थों में इसे उचित ही ठहराया गया है।

इसके अतिरिक्त अपने आप मृत्यु को प्राप्त हुए पशुओं के मांस के सम्बन्ध में दसगुना प्रतिषेध बताया गया है। परन्तु इस सूत्र में तो इसे (मांसाहार को) किसी भी स्थान पर, किसी भी ढंग से और किसी भी रूप में बिना शर्त सदैव सभी के लिए निषिद्ध माना गया है। इस प्रकार हे महामति! मैंने किसी को भी मांसाहार की आज्ञा नहीं दी है, न ही मैं इसकी आज्ञा देता हूँ और न ही ऐसी कोई आज्ञा दूँगा। हे महामति! मैं कहता हूँ कि गृह-त्याग करनेवाले भिक्षुओं के लिए मांसाहार करना उचित नहीं है। हे महामति! कुछ ऐसे व्यक्ति होंगे जो तथागत की मानहानि के विचार से ऐसा कहेंगे कि तथागत ने मांसाहार किया था। महामति! ऐसे अज्ञानी व्यक्ति अपने कर्मों की बाधावश बुराई की ओर प्रवृत्त होंगे और ऐसे लोकों को प्राप्त होंगे जहाँ ऐसी लम्बी रात काटनी पड़ती है जिसमें न कोई सुख है, और न कोई आनन्द ही...।

करुणा के मार्ग पर चलनेवालों के लिए मैंने हर जगह और हर समय मांसाहार की मनाही की है; जो मांसभक्षी हैं वे शेर, चीते, भेड़िये आदि के रूप में वैसे ही स्थान पर जन्म लेंगे।

अतः मांस मत खाओ क्योंकि मांसाहार मुक्ति के सच्चे मार्ग में बाधा डालता है; मांसाहार से परहेज़ करना – यह एक ज्ञानी व्यक्ति की पहचान है।[512]

पालि तथा संस्कृत के धर्मग्रन्थों में से उद्धरण देने के बाद अब हम मांसाहार के विषय में तिब्बती बौद्ध-गुरुओं के कथन से उद्धरण देकर इस विषय का समापन करते हैं। पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

जीव हिंसा का अर्थ है किसी दूसरे के प्राण हरने के उद्देश्य से जान-बूझकर कुछ ऐसा कार्य करना, चाहे वह मनुष्य हो, पशु हो अथवा कोई अन्य जीवित प्राणी... हममें से कुछ व्यक्ति यह सोचकर कि केवल अपने हाथों से मारना ही जीव हिंसा है, यह मान लेते हैं कि हम तो निर्दोष हैं...

अतः वास्तव में हम सभी मनुष्य पूरा समय राक्षसों की भाँति जीव हिंसा करते रहते हैं। अगर हम विचार करें कि किस प्रकार हम उनके मांस के स्वाद की ख़ातिर उन पशुओं की निर्मम हत्या करते हैं, जो जीवन भर हमारी सेवा करते हैं और माँ के समान अपने दूध से हमारा पोषण करते हैं, तो हम समझ सकेंगे कि हम तो राक्षसों से भी बदतर हैं।[513]

इसी प्रकार पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

मैं समझता हूँ कि तिब्बत में बौद्ध दीक्षा प्राप्त लोग यह कहकर दूसरों से पशु हत्या करवाते हैं, 'वे तो हमारे दास हैं।' परन्तु मारनेवाला और मरवानेवाला – दोनों ही जीव हिंसा के लिए उत्तरदायी हैं... हम सोच सकते हैं कि हमने वास्तव में एक जीवित प्राणी को मारने का पाप तो किया नहीं। परन्तु हमने अवश्य पाप किया है; क्योंकि अपने लिए दूसरों से जीव हिंसा करवाना भी बहुत बड़ा पाप है।[514]

यह जानते हुए कि महा करुणा महायान मार्ग का मूल आधार है... तुम्हें इस बात पर अवश्य विचार करना चाहिए कि एक भेड़ की किस प्रकार मृत्यु होती है... उसकी आँखों में आँसू भरे होते हैं और वह कसाई के चेहरे को एकटक ताकती रहती है।[515]

परम आदरणीय चौदहवें दलाई लामा यह घोषणा करते हैं:

इस धरती पर पशुओं की अनेक भिन्न-भिन्न प्रजातियों में से मनुष्य सबसे बड़ा कष्टदायक है। यह बात तो स्पष्ट है। मैं सोचता हूँ कि यदि इस धरती पर मनुष्य न होता तो यह उपग्रह अधिक सुरक्षित होता! निश्चित रूप से लाखों मछलियाँ, मुर्गे और दूसरे छोटे-छोटे पशु एक प्रकार से सच्ची स्वतन्त्रता का आनन्द ले पाते![516]

अहिंसा अथवा किसी को कष्ट न पहुँचाने के सिद्धान्त के अनुसार, जो बौद्ध नीतिशास्त्र का केन्द्र बिन्दु है, किसी भी प्रकार से या किसी भी रूप में मांसाहार से परहेज़ करने के महाव्रत का दृढ़तापूर्वक पालन अनिवार्य है।

मन पर नियन्त्रण

आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करने में मन को सबसे बड़ी बाधा कहा जाता है। परन्तु हमें इस बात की समझ ही नहीं है कि मन है क्या। ऐसी स्थिति में हम इस पर नियन्त्रण कैसे कर सकते हैं, इसे कैसे अपना मित्र और सहायक बना सकते हैं? मन से हम इतने अपरिचित हैं, फिर भी यह हमारे कितना नज़दीक है, यह कितना चंचल और निरंकुश है, फिर भी वास्तव में यह कितना शान्त है और इसमें गम्भीर रहने की कितनी क्षमता है। यह कितनी उथल-पुथल और पीड़ा उत्पन्न करता है, फिर भी अपने मूलरूप में यह कितना निर्मल और आनन्दमय है। यह हमारा सबसे बड़ा शत्रु है, परन्तु सबसे बड़ा मित्र भी है। मन की दो विपरीत अवस्थाएँ हैं। अपनी मूल पवित्र अवस्था में यह सकारात्मक है, परन्तु अपनी परिवर्तित मलिन अवस्था में यह नकारात्मक हो जाता है। *विमलकीर्ति निर्देश* में कहा गया है:

मन मूलरूप में प्रकाशमान है (*चित्तं प्रभास्वरम्*), परन्तु यह विकारों से दूषित हो सकता है अथवा विकारों से मुक्त भी हो सकता है।[517]

पालि त्रिपिटक के *संयुत्त निकाय* में महात्मा बुद्ध कहते हैं:

एक लम्बे अरसे से यह मन काम, क्रोध और मोह के वशीभूत होकर अपवित्र हो गया है। हे भिक्षुओं! एक अपवित्र मन प्राणियों को अपवित्र बना देता है और एक पवित्र मन प्राणियों को पवित्र बना देता है।[518]

संयुत्त निकाय के एक अन्य भाग में, इन शब्दों द्वारा मन की महान् शक्ति की ओर संकेत किया गया है:

मन ही जगत् को चला रहा है, मन ही इसे मार्ग दिखला रहा है,
यह मन ही है जो सबको अपने अधीन कर लेता है।[519]

पालि त्रिपिटक के *अंगुत्तर निकाय* में यह कहा गया है:

जो भी बुरा है, बुराई से जुड़ा है, बुराई से सम्बन्धित है (यही स्थिति अच्छाई से जुड़े होने पर भी होती है) – यह सब मन से ही उत्पन्न होता है।[520]

मन की चंचलता के बारे में *संयुत्त निकाय* में कहा गया है:

जिस प्रकार एक बन्दर किसी वन में खेलते हुए एक वृक्ष की कोई शाखा पकड़ लेता है, फिर उसे छोड़कर कोई दूसरी शाखा पकड़ लेता है, उसी प्रकार दिन और रात के समान लगातार बदलते हुए इस मन में भी विचार-तरंगे उठती हैं और शान्त हो जाती हैं।[521]

धम्मपद के पहले दो पदों में महात्मा बुद्ध कहते हैं:

मन सभी (कर्मों के) पहले रहता है;
मन ही प्रधान है,
सभी (कर्म) मन के द्वारा ही होते हैं
यदि कोई व्यक्ति विकारग्रस्त मन से कुछ कहता या करता है,
तो दुःख उसी प्रकार उसका पीछा करता है जिस प्रकार
गाड़ी का पहिया गाड़ी खींचनेवाले पशु के पीछे-पीछे चलता है,
परन्तु यदि कोई व्यक्ति निर्मल मन से कुछ कहता या करता है
तो सुख उसी प्रकार उसके पीछे आता है
जिस प्रकार उसकी परछाईं उससे कभी अलग नहीं होती।[522]

महात्मा बुद्ध *धम्मपद* के अन्य पदों में मन को वश में करने के बारे में और अधिक विस्तार से चर्चा करते हैं:

जिस प्रकार एक तीरन्दाज़ अपना तीर साधता है
उसी प्रकार एक ज्ञानी मनुष्य अपने
चंचल और अस्थिर मन को साधता है,
जिसे वश में करना और जिसकी चौकसी करना कठिन है...

मन को नियन्त्रित करने में ही भलाई है
जिसे वश में करना कठिन है।
यह चंचल है और अपनी इच्छानुसार भ्रमण करता रहता है,
नियन्त्रित मन ही आनन्द देनेवाला होता है...

यदि किसी व्यक्ति का मन स्थिर नहीं है,
यदि उसे सच्चे धर्म का ज्ञान नहीं है,
यदि उसके मन की शान्ति भंग हो जाती है,
तो समझो उसका ज्ञान पूर्ण नहीं है...

यह जानते हुए कि शरीर मिट्टी के बर्तन के समान
टूटने-फूटनेवाला है,
मनुष्य को चाहिए कि वह अपना मन एक दुर्ग के समान
सुदृढ़ बनाये,
और मार (प्रलोभक) के साथ अपने ज्ञानरूपी हथियार से
लड़ाई करे,
और विजयी बनकर वह जो कुछ भी प्राप्त करता है,
उसकी अनासक्त होकर रक्षा करे...

जिससे मनुष्य घृणा करता है, उसके साथ वह जो कुछ भी
कर सकता है,
अपने शत्रु के साथ वह जो कुछ भी कर सकता है
उससे भी अधिक हानि बुराई की ओर प्रवृत्त मन किसी को
पहुँचा सकता है।

किसी व्यक्ति के लिए उसके माता-पिता
अथवा सम्बन्धी जो कुछ कर सकते हैं,
उससे कहीं अधिक उसका हित, अच्छाई की
ओर प्रवृत्त मन कर सकता है।[523]

परमार्थ की चाह रखनेवालों के लिए मन पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। *बोधिचर्यावतार* में शान्तिदेव कहते हैं:

यदि मनरूपी उन्मत्त हाथी को जागरूकतारूपी
रस्सी से हर ओर से बाँध दिया जाये
तो मनुष्य यह भरोसा कर सकता है कि
उसके समस्त भय समाप्त हो गये हैं
और उसके सभी हितों का आगमन हो गया है।...

यह सत्य के ज्ञाता
(बुद्ध) की घोषणा है कि
समस्त भय और अनन्त दुःख
केवल मन से ही उत्पन्न होते हैं...

पूरी पृथ्वी को ढकने के लिए
मुझे पर्याप्त चमड़ा कहाँ से मिलेगा?
परन्तु चमड़े के एक जोड़ी जूते पहनकर
मैं पूरी पृथ्वी का चक्कर लगा सकता हूँ।

इसी प्रकार मैं बाहरी परिस्थितियों को तो बदल नहीं सकता
मैं केवल अपने मन पर नियन्त्रण रखूँगा –
किसी अन्य चीज़ को रोकने से भला मुझे क्या लेना-देना?[524]

बौद्धधर्म में मन के नियन्त्रण पर बहुत अधिक बल दिया गया है, क्योंकि मन पर नियन्त्रण होने से शेष सब कुछ बहुत आसानी से हो जाता है। ऐसा न होने पर किसी भी वाञ्छनीय पदार्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती।

अनासक्त-भाव

सभी सन्त-महात्मा मन को अन्तर्मुख करने तथा पूर्ण एकाग्रता द्वारा इसे बाहरी जगत् से अनासक्त करने पर ज़ोर देते हैं। वे हमें उपदेश देते हैं कि

हमें इस संसार में रहना है, परन्तु संसार का बनकर नहीं रहना है। जब तक हमारा मन सांसारिक पदार्थों तथा इस जगत् के झूठे एवं क्षणभंगुर विषय-भोगों के मोह में फँसा हुआ है और उन्हें पाने की दौड़ में है, तब तक हमें मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

महात्मा बुद्ध द्वारा बताये गये आध्यात्मिक अष्टांगिक-मार्ग का उद्देश्य मन पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करना, इसे क्रमशः विशुद्ध बनाना तथा सभी प्रकार के मोह-बंधनों से मुक्त करना है। जब मन पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है, यह निर्मल बन जाता है और मोह के बंधनों से मुक्त हो जाता है, तब साधक अपनी आध्यात्मिक यात्रा पूरी करने और परमपद की प्राप्ति करने के योग्य हो जाते हैं।

पूर्ण अनासक्ति प्राप्तकर बुद्ध संसार में रहते और विचरण करते हुए भी विकार मुक्त बने रहते हैं। इस सन्दर्भ में महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *हे भिक्षुओं! जिस प्रकार जल में उत्पन्न और विकसित होकर एक नीलकमल अथवा श्वेतकमल जल के ऊपर रहता है और जल से अछूता बना रहता है; उसी प्रकार हे भिक्षुओं! तथागत भी इस संसार में जन्म लेकर और इसमें विकसित होकर भी इस संसार से ऊपर उठ जाते हैं और अनासक्त भाव से विकार मुक्त होकर संसार में विचरण करते हैं।*[525]

मज्झिम निकाय के प्रथम सूत्र में महात्मा बुद्ध स्पष्ट करते हैं कि बुद्धत्व की प्राप्ति करनेवाला महात्मा सभी विकारों से मुक्त होकर और सभी वस्तुओं की वास्तविकता को सभी प्रकार से समझकर इस संसार से तथा इसके पदार्थों से अनासक्त हो जाता है और इस प्रकार जागृतावस्था को प्राप्त कर लेता है।[526]

> *हे भिक्षुओं! इस प्रकार देखकर एक दीक्षित आर्यजन रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान से उपराम हो जाता है। उपराम होने के बाद, वह इनसे विरक्त हो जाता है। विरक्त होने के बाद, वह इनसे मुक्त हो जाता है। मुक्त होने से उसके भीतर यह ज्ञान जाग्रत होता है कि वह मुक्त हो गया है। 'पुनर्जन्म समाप्त हो गया है, उसका आध्यात्मिक जीवन सफल हो गया है, उसने जो कुछ करना था, कर लिया है और इसके परे और कुछ नहीं है'– ऐसा उसे ज्ञान हो जाता है।*[527]

अपनी इच्छाओं से, जो मोह की जड़ हैं, ऊपर उठ जाने पर ही हम इस संसार से विरक्त या अनासक्त हो सकते हैं। हमारी इच्छाएँ ही हमें इस संसार से बाँधे रखती हैं और हमारी इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। *ग्रेट प्ले सूत्र (Great Play Sutra)* में कहा गया है:

> *हे राजन्! यदि किसी को*
> *सारे स्वर्गिक आनन्द,*
> *सारे सांसारिक विषय-भोग*
> *प्राप्त हो जायें,*
> *तो भी ये उसके लिए पर्याप्त नहीं होंगे;*
> *वह और अधिक की चाह रखेगा।*[528]

यदि हम अपनी इच्छाओं से ऊपर उठ जाते हैं, तो हम अपने आप मुक्त हो जाते हैं:

> *मनुष्य अपनी इच्छाओं द्वारा ही बाँधा जाता है और इन्हीं इच्छाओं पर विजय प्राप्त करके वह मुक्त होता है।*[529]

जीवन में आनेवाली कठिनाइयों का उपयोग किस प्रकार अपने भीतर विरक्ति जाग्रत करने के लिए किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में मूसो कॉकुशी कहते हैं:

जब लोग तुम्हारे प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाते और इस संसार के कार्य-व्यवहार तुम्हारी इच्छा के अनुकूल नहीं होते, उस समय तुम्हें आवागमन के चक्र और लाभ-हानि के झमेलों से स्वयं को विरक्त या अनासक्त करने के विचार को ग्रहण करने में सहायता मिल सकती है।[530]

जो इस संसार की वस्तुस्थिति को जानते हैं, उनके लिए यह समझ ही कि इस संसार के पदार्थों से पूर्ण सन्तोष अथवा तृप्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है; उनके भीतर विरक्ति या अनासक्ति जाग्रत करने के लिए अपने आप में एक सीख है।[531]

आन्तरिक अभ्यास – जीते-जी मरना

बाहरी जगत् से पूर्ण तटस्थता की अवस्था जिसमें शरीर से तटस्थ होना भी शामिल है, को प्राय: जीते-जी मरना कहा जाता है, क्योंकि आन्तरिक अभ्यास के समय शरीर में से चेतना के सिमटाव की प्रक्रिया ठीक वैसी ही होती है जैसी मृत्यु के समय होती है। मृत्यु के समय चेतना शरीर में वापस नहीं लौटती, परन्तु आन्तरिक अभ्यास करनेवाले साधक की चेतना अभ्यास के पश्चात् वापस शरीर में लौट आती है।

पालि त्रिपिटक में महात्मा बुद्ध के गहन आन्तरिक अभ्यास का उल्लेख जीते-जी मरने का ही स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। ऐसा कहा जाता है कि एक बार जब महात्मा बुद्ध एक गाँव के निकट अपने निवास-स्थान पर गूढ़ समाधि की अवस्था में थे, उस समय मूसलाधार वर्षा होने लगी और बिजली चमकने लगी। पास ही खेत में दो किसान भाई हल चला रहे थे, जिसमें चार बैल जुते हुए थे। बिजली गिरने से उन सभी की मृत्यु हो गयी। गाँव से काफ़ी लोग वहाँ इकट्ठे हो गये। महात्मा बुद्ध अपनी साधना समाप्त करके बाहर आ गये थे और बरामदे में घूम रहे थे। उन्हें देखकर एक व्यक्ति ने इस घटना के सन्दर्भ में उनसे इस प्रकार बातचीत की:

"भगवन्! उस समय आप कहाँ थे?"
"श्रीमान्! मैं पूरा समय यहीं पर था।"
"परन्तु भगवन्! क्या आपने भी यह सब देखा?"
"श्रीमान्! मैंने कुछ नहीं देखा।"
"तो फिर भगवन्! आपने कोई आवाज़ सुनी?"
"श्रीमान्! मैंने कुछ नहीं सुना।"
"तो फिर भगवन्! क्या आप नींद में थे?"
"श्रीमान्! मैं नींद में नहीं था।"
"तो फिर हे भगवन्! क्या आप सचेत थे?"
"हे श्रीमान्! हाँ, मैं सचेत था।"

"तो फिर भगवन्! जागते हुए और सचेत होते हुए भी न तो आपने यह दुर्घटना देखी और न ही उसकी कोई आवाज़ सुनी, जबकि गरज-गरजकर घनघोर वर्षा होती रही, बिजली कड़कती रही और यहाँ तक कि बिजली गिरी भी!"
"हे श्रीमान्, ऐसा ही है।"[532]

गूढ़ समाधि की अवस्था में महात्मा बुद्ध का ध्यान बाहरी जगत् से पूरी तरह कटा हुआ था। वे इस संसार के प्रति अचेत थे, परन्तु आन्तरिक लोकों के प्रति पूरी तरह सचेत थे। ग्यारहवीं शताब्दी के भारतीय सन्त नारोप, जिन्होंने तिब्बती बौद्धधर्म में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, ऐसी स्वस्था को 'चेतना को ख़ाली करने' की अवस्था कहते हैं। उनका कहना है:

प्रकाश के मार्ग के अभ्यास का अर्थ है हर ओर से चेतना को ख़ाली कर देना या समेट लेना। बाहरी तौर पर यह मृत्यु की प्रक्रिया है, परन्तु आन्तरिक रूप से यह प्रकाश का उत्तरोत्तर संग्रह और विकास है; यह अज्ञानतारूपी अन्धकार से दिव्य प्रकाश की ओर बढ़ना है जिसके विषय में तब तक निश्चयतापूर्वक कुछ भी कहा

नहीं जा सकता... जब तक मनुष्य इस प्रक्रिया की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से पूरी तरह परिचित न हो जाये।

इस लक्ष्य की प्राप्ति का अर्थ है, जीवन के उस क्षेत्र की पहचान जो सामान्य चेतन जीवन से कहीं अधिक विस्तृत, प्रभावशाली और दिव्यता से प्रेरित है। यह न केवल हमें आनन्द प्रदान करता है, बल्कि दूसरे भी हमारी आभा से प्रभावित होते हैं और इस प्रकार जाग्रत होकर वे इस मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं।[533]

नारोप स्पष्ट करते हैं कि जीते-जी मरने की अवस्था प्राप्त करने के लिए सबसे पहले हमें इस शरीर के बाहरी नौ द्वारों को बन्द करना होगा और ये नौ द्वार हैं – दो आँखें, दो कान, दो नासिका-छिद्र, मुँह और नीचे दो इन्द्रियों के द्वार।

नौ दरवाज़े संसार की ओर खुलते हैं,
परन्तु एक द्वार महामुद्रा* की ओर खुलता है,
नौ दरवाज़ों को बन्द करो और उस एक द्वार को खोलो;
इसमें कोई सन्देह न रखो कि यह मुक्ति का द्वार है।[534]

एक सच्चा अभ्यासी प्रतिदिन मृत्यु की प्रक्रिया में से गुज़रता है और इस प्रकार शारीरिक मृत्यु के समय वह भय से मुक्त रहता है। नारोप के शिष्य तथा तिब्बत के एक गुरु मारपा कहते हैं:

मुझे भी दूसरों के समान मृत्यु से गुज़रना पड़ सकता है, परन्तु मुझे चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है, इस पूरी प्रक्रिया की जानकारी ने मुझे पूर्ण आत्म-विश्वास दे रखा है।[535]

* एक गहन समाधि की अवस्था

एडवर्ड कॉन्ज़ स्पष्ट करते हैं कि निर्वाणपद की प्राप्ति के लिए हमें आन्तरिक साधना द्वारा अपनी वर्तमान मलिन अवस्था से अपने ध्यान को पूरी तरह हटाना होगा। वे कहते हैं:

शुद्ध-हृदय से अभिप्राय है हमारा मूल रूप से शुद्ध-हृदय, सहज सरल चित्त जो बुद्धहृदय* के समान है।

मूल रूप से हमारा सच्चा हृदय निर्मल और अनन्त है, जैसे स्वच्छ नीले आकाश में चमकता हुआ चाँद। एक लम्बे अरसे से जिसका हमें कोई ज्ञान नहीं है, हमारा निर्मल-हृदय विकारों से ग्रस्त होता गया और दूषित-हृदय बन गया। यह हमारा वास्तविक आत्म-स्वरूप नहीं था, पर ऐसा बन गया। फिर इसके बाद तो स्थिति ऐसी हो जाती है कि मलिन हृदय हावी होकर निर्मल-हृदय को अस्तित्वहीन कर देता है, वैसे ही जिस प्रकार कोई रखेली असली पत्नी के अस्तित्व को महत्त्वहीन बना देती है।

ठीक इसी प्रकार हम भटके हुए और विकारग्रस्त हृदय के कारनामों के हवाले अपने आप को सौंप देते हैं, यहाँ तक कि वास्तविक स्वामी, अर्थात् बुद्धहृदय, अपना असली स्वरूप दिखा ही नहीं पाता। एक अपवित्र हृदय में आनेवाले विचार उलटे-पुलटे होते हैं, क्योंकि यह सत्य को उलटे रूप में देखता है... तात्त्विक बात यह है कि हम दृढ़ संकल्प के साथ मृत्यु की ओर छलाँग लगायें तथा अपने शरीर और प्राणों से विलग हो जायें। इसका अर्थ है अपने भ्रान्त विचारों के मूल और स्रोत पर ही प्रहार करें। यदि हम उन्हें वास्तव में समूल काट डालें, तो फिर अपने आप विचार-शून्यता आ जायेगी, जिसका अर्थ है हमारी अपनी सहज स्वाभाविक अवस्था का उदय और इसे ही बुद्धत्व की प्राप्ति कहा गया है।[536]

* निर्मल हृदय को आत्मा के समान कहा जा सकता है; बुद्धहृदय को परमात्मा या परम सत्य का सारतत्त्व कहा जा सकता है।

जैसा कि हम पिछले अध्यायों द्वारा समझ चुके हैं, हमें आन्तरिक अभ्यास एक सच्चे सतगुरु के मार्गदर्शन में ही करना चाहिए। विशेषकर बौद्धधर्म की वज्रयान (मन्त्रयान) शाखा में इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये गये प्रभावों को याद रखने अथवा विचारों को दोहराने के बजाय मन को एकाग्र करने और आध्यात्मिक चेतना से जोड़ने के लिए गुरु अपने शिष्य को कुछ ध्वनियों या शब्दों का जाप करने का निर्देश देते हैं, जिन्हें मन्त्र कहा जाता है। मन्त्र अभ्यास की प्रक्रिया के विषय में डब्ल्यू. वाई. इवैंस-वैंज़ कहते हैं:

> *मन्त्र-योग में... योगी का उद्देश्य उन दैवी शक्तियों के साथ अलौकिक दूरभाषिक सम्पर्क तथा इससे भी अधिक घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना होता है जिनका आह्वान वह अपनी योग-सिद्धि में सहायता पाने के लिए करता है।*[537]

बोधिचर्यावतार में शान्तिदेव कहते हैं कि जो व्यक्ति प्रभु अवलोकितेश्वर के नाम का जाप करता रहता है, उसे किसी का भय नहीं होता। प्रभु अवलोकितेश्वर को करुणामय प्रभु के रूप में जाना जाता है, क्योंकि वे सभी प्राणियों के दुःख-दर्द को करुणामय दृष्टि से 'देखते हैं।' एडवर्ड कॉन्ज़ स्पष्ट करते हैं:

> *अवलोकितेश्वर शब्द 'ईश्वर' अर्थात् स्वामी अथवा परमशक्ति और 'अवलोकित' का मिश्रण है; 'अवलोकित का अर्थ है वह जो इस संसार में कष्ट भोगते हुए प्राणियों की ओर करुणा-भरी दृष्टि से देखता है।' अवलोकितेश्वर करुणा के मूर्तरूप हैं।*[538]

'अवलोकितेश्वर' शब्द के गूढ़ अर्थ के विषय में बात करते हुए डब्ल्यू. वाई. इवैंस-वैंज़ जो कि *तिब्बतन योग एण्ड सीक्रेट डॉक्ट्रीन्ज़ (Tibetan Yoga and Secret Doctrines)* नामक पुस्तक के सम्पादक हैं,

कहते हैं कि उनके मित्र श्री ई. टी. स्टर्डी (*नारद सूत्र* के अनुवादक) द्वारा अवलोकितेश्वर शब्द की दी गयी व्याख्या इस प्रकार है: अवलोकित – देख लिया जाना और ईश्वर – प्रभु, अतः अवलोकितेश्वर वे परमप्रभु हैं जिन्हें अपने अन्तर में देखा जाता है।[539]

अतः अपने भीतर 'देखे जा सकनेवाले प्रभु' के रूप में प्रभु अवलोकितेश्वर अलौकिक सृजनात्मक शक्ति के आन्तरिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके नाम की शक्ति की चर्चा करते हुए शान्तिदेव कहते हैं:

> *प्रभु अवलोकितेश्वर ने अपने नाम में*
> *इतनी शक्ति भर रखी है कि इस (के जाप) से*
> *उनका भक्त किसी भी सभा (यमराज के दरबार) में (प्रश्न अथवा तर्क-वितर्क करनेवालों के सामने) उपस्थित होने के भय से मुक्त हो जाता है।*[540]

मन्त्र-अभ्यास केवल आध्यात्मिक उद्देश्य पूरा करने के लिए किया जाता है; इसके किसी भी प्रकार से दुरुपयोग करने के विरुद्ध चेतावनी देते हुए पाबोंग्का रिनपोचे कहते हैं:

> *कुछ लोग धर्म का अभ्यास करने की इच्छा रखते हैं पर अभ्यास-विधि का ज्ञान न होने के कारण किसी एकान्त-स्थान में जाकर कुछ मन्त्रोच्चारण करते हैं, कुछ प्रार्थनाएँ करते हैं, और हो सकता है कि ऐसा करने से उन्हें कुछ मानसिक अवस्थाएँ (जिनसे मन को कुछ शान्ति मिल सके) प्राप्त हो जायें, परन्तु वे यह नहीं जान सकेंगे कि इससे अधिक वे और क्या करें। ...तुम सोच सकते हो कि मन्त्रोच्चारण करने से तुम्हारे अन्दर अनिष्टकारक आत्माओं को वश में करने की शक्ति आ जायेगी, वग़ैरह। अथवा तुम सोच सकते हो कि तुम बीमारी या दुष्ट आत्माओं को वश में कर लोगे, धनवान् बन जाओगे, शक्तियाँ प्राप्त कर लोगे आदि।*

> कुछ दूसरे लोग, चाहे कितना भी उपदेश उन्होंने क्यों न ग्रहण कर लिया हो, धर्म को मानो व्यापार का साधन बना लेते हैं... ऐसे उपदेश का सांसारिक उपलब्धियों के लिए प्रयोग करना ऐसा ही है जैसे किसी राजा को ज़बरदस्ती उसकी गद्दी से उतारकर उससे ज़मीन पर झाड़ू लगाने का कार्य करवाना।[541]

इस बात को भी मन में धारण करना चाहिए कि महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों को निर्देश देते हैं कि वे इस मन्त्र को गोपनीय रखें और दूसरों को इसका रहस्य न बतायें। वे कहते हैं:

> विवेकशील व्यक्ति शब्द की चौकसी करते हैं, इसे गोपनीय रखने का पूरा ध्यान रखते हैं और अन्य जीवित प्राणियों को इसका भेद नहीं बताते।[542]

जो मन्त्र एक सच्चे सतगुरु अपने शिष्य को देते हैं, उसमें उनकी शक्ति निहित होती है। जब शिष्य मन्त्र का निरन्तर जाप करता है और बुद्ध के आन्तरिक स्वरूप पर ध्यान टिकाता है, तब वह शक्ति प्रकट हो जाती है। एडवर्ड कॉन्ज़ कहते हैं:

> निरन्तर बुद्ध के नाम का सुमिरन करते हुए शिष्य को उनका ध्यान भी करना चाहिए, क्योंकि उस नाम में बुद्ध और बोधिसत्त्वों की शक्ति निहित होती है, इसके द्वारा उनका आवाहन करना सर्वश्रेष्ठ कर्म है... बुद्ध-महात्माओं तथा बोधिसत्त्वों के दर्शन के लिए शिष्य को बुद्ध के स्वरूप को देखने की कल्पना करने का अभ्यास करना चाहिए।[543]

तिब्बती भाषा में लिखे ग्रन्थ द *एपिटोम ऑफ़ ग्रेट सिम्बल (The Epitome of Great Symbol)* में अपने गुरु की बुद्ध-रूप में कल्पना अथवा ध्यान करने के अभ्यास की व्याख्या इस प्रकार की गयी है:

> आन्तरिक अभ्यास करते हुए यह कल्पना करो कि आपके गुरु आपके मस्तक में विराजमान हैं। उन्हें वास्तव में बुद्ध-रूप जानो।[544]

ऐसे आन्तरिक अभ्यास अथवा गुरु के ध्यान के महान् महत्त्व पर बल देते हुए पाबोंग्का रिनपोचे महान् सन्त अतीश के वचन उद्धृत करते हैं:

> अतीश ने कहा है कि वास्तव में सच्चा आन्तरिक अभ्यास गुरु का ध्यान करना है।[545]

गुरु के स्वरूप की कल्पना किस प्रकार की जाये, इस बारे में वे कहते हैं:

> कल्पना करो कि गुरु वास्तव में भगवान् शाक्यमुनि (महात्मा बुद्ध) हैं। तुम में से हर एक को अपने गुरु के स्वरूप का स्पष्ट ध्यान करना चाहिए।[546]

पाबोंग्का रिनपोचे स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार पहले-पहले यह मानसिक स्वरूप स्पष्ट नहीं होगा, परन्तु जैसे-जैसे एकाग्रता बढ़ती जायेगी, स्वरूप भी स्पष्ट होता जायेगा। वे कहते हैं:

> पहले-पहले यह स्वरूप स्पष्ट रूप से नहीं दिखायी देगा, परन्तु आरम्भ में इस स्पष्टता की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए, जो दिखायी दे, हो सकता है कि वह झिलमिलाता हुआ पीले रंग का एक बुलबुला-सा हो या फिर उस स्वरूप का कोई अंग, जैसे कि मस्तक, पाँव, हाथ आदि। इन्हें अपनी स्मृति से विचलने न दो; अपनी स्मृति को गहरी बनाओ और मन को भटकने न दो। नीरसता अथवा उत्सुकता से ऊपर उठने के लिए आपको केवल अपनी स्मृति को गहन बनाये रखना होगा।

यही कारण है कि महान् साधकों ने किसी को हृदय में धारण करने की नितान्त आवश्यकता बतायी है।... दो बातों को ध्यान में रखकर तुम्हें निश्चित रूप से एकचित्त एकाग्रता की अवस्था में आना चाहिए: स्थिरचित्त होकर स्वरूप को अधिकाधिक स्पष्ट बनाये रखना और इस स्वरूप पर ध्यान को दृढ़ता से टिकाना।[547]

अपने गुरु का ध्यान करते हुए एक आध्यात्मिक अभ्यासी को कैसा दृष्टिकोण रखना चाहिए, उसे स्पष्ट करते हुए शान्तिदेव कहते हैं:

जिन्हें सौभाग्य से अपने गुरु का सान्निध्य प्राप्त है,
जो उनकी आज्ञा में रहते हैं
तथा उनके प्रति भय और भक्तिभाव रखते हैं,
उनके अन्दर सहज ही आन्तरिक जागृति उत्पन्न हो जाती है।

बुद्ध-महात्माओं तथा बोधिसत्त्वों की
दृष्टि सर्वव्यापी है,
उनकी उपस्थिति में सबकुछ ठीक रहता है, और मैं
उनकी उपस्थिति में ही बैठा हूँ।

इस प्रकार साधक को (सभी बुद्ध-महात्माओं के मूर्तरूप
अपने गुरु का)
ध्यान अपनी अपात्रता को समझते हुए
भय और श्रद्धा-भाव से करना चाहिए;
साधक को बार-बार इस प्रकार ध्यान करना चाहिए।

जब आन्तरिक स्वरूप प्रकट होता है,
तो फिर यह कभी ग़ायब नहीं होता।

यह (शिष्य की) सुरक्षा के लिए आन्तरिक दरवाज़े पर
मौजूद रहता है।[548]

गुरु के आन्तरिक स्वरूप का दर्शन इतना अधिक आनन्ददायक और निर्मल करनेवाला होता है कि मनुष्य के सभी पाप धुल जाते हैं और सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं। अपने ग्रन्थ *शिक्षासमुच्चय* में महायान ग्रन्थ *गण्ड-व्यूह* का उद्धरण देते हुए शान्तिदेव कहते हैं:

समस्त दुःखों का नाश हो जाता है,
जब मनुष्य विश्व के स्वामी जिन (अजेय शक्ति) का
साक्षात्कार कर लेता है,
और वह रहस्यमय ज्ञान के घेरे में प्रवेश करने के योग्य हो जाता है,
जो परमज्ञानी बुद्ध-महात्माओं का मण्डल है।
मनुष्य के सारे आवरण नष्ट हो जाते हैं
जब वह सर्वोच्च मानव, बुद्ध, का साक्षात्कार कर लेता है।
वह अनन्त पुण्य कमा लेता है,
जो परमपद प्राप्त करने में उसके सहायक होते हैं।[549]

जिस सतगुरु ने आपको गूढ़ ज्ञान की दीक्षा प्रदान की है, उनके दिये गये मन्त्र का जाप करने से तथा उनके आन्तरिक स्वरूप को अपने अन्तर में बसाने से अनमोल लाभ होते हैं। ऐसे गुरु का ध्यान करने से जिन्होंने बुद्ध के धर्मोपदेश के अनुसार परिपूर्णता प्राप्त कर ली है, आध्यात्मिक अभिलाषियों को वही लाभ होता है जो स्वयं महात्मा बुद्ध का ध्यान करने से हो सकता है। इस बात को प्रभु अवलोकितेश्वर के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। *सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र)* में कहा गया है:

मनुष्य को अवलोकितेश्वर प्रभु का ध्यान करना चाहिए जिनकी
आवाज़ बादलों और मृदंग के समान है, जो बरसने वाले मेघों के

समान गर्जन करते हैं और जिनकी मधुर आवाज़ ब्रह्म के समान है, जिन्होंने सभी आन्तरिक मण्डलों की ध्वनियों में पूर्णता प्राप्त कर ली है (स्वरमण्डल-पारमिंगत:)। उस अवलोकितेश्वर प्रभु का बार-बार सुमिरन करो और इसमें सन्देह न रखो कि जो उनकी शरण में आता है, उसकी रक्षा होती है और मृत्यु, मुसीबत और संकट के समय उसकी अवश्य रक्षा होगी।[550]

जो महान् प्रभु बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की आराधना करते हैं, उन्हें निश्चित रूप से लाभ प्राप्त होता है... एक वह जो अनेकानेक बुद्ध-महात्माओं की बार-बार आराधना करता है और उनके नाम-सुमिरन को हृदय में बसाये रखता है और दूसरा वह जो महान् प्रभु बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की आराधना करता है और उनके नाम-सुमिरन को हृदय में बसाये रखता है – इन दोनों को समान रूप से आध्यात्मिक लाभ होगा। इन दोनों ही तरह से प्राप्त हुए आध्यात्मिक लाभ के पुण्यफल को सहस्त्रों-करोड़ों युगों तक विफल करना कठिन है। उस महान् प्रभु बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के नाम-सुमिरन से प्राप्त होनेवाले अपार आध्यात्मिक पुण्यफल को समझ लेना सम्भव नहीं है।[551]

सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र) के उसी अध्याय में महात्मा बुद्ध घोषणा करते हैं:

वे सभी जो इस संसार में दु:ख उठा रहे हैं, यदि वे महान् प्रभु बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर का नाम सुन लेते हैं तो वे अनन्त दु:खों से छुटकारा पा जायेंगे। जो लोग महान् पुण्यात्मा बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के नाम का जाप करते हैं, यदि वे आग के दहकते ढेर में भी गिर जायें तो वे महान् प्रभु बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की तेजस्विता द्वारा सुरक्षित बचा लिये जायेंगे।[552]

अपने सतगुरु द्वारा बताये गये मन्त्र के सुमिरन द्वारा तथा उनके आन्तरिक स्वरूप का ध्यान करने से स्थिरचित्त होने तथा दु:खों से छुटकारा प्राप्त करने में सहायता मिलती है। हम इधर-उधर भागना और अपने ध्यान को फैलाना छोड़ देते हैं और हमारा ध्यान एकाग्र होने लगता है। चॉन गुरु लिन-चि (886 ईसवी) शब्दों के जाल में उलझाए बिना स्पष्ट रूप से कहते हैं:

हे साधुजनों! तुम मल-मूत्र से भरी यह काया तथा अपना भिक्षा पात्र साथ-साथ घसीटते हुए गलियों में इधर-उधर बुद्ध-महात्माओं तथा धर्म की खोज में दौड़ते रहते हो। इस समय तुम जो भाग-दौड़ और खोजबीन कर रहे हो, क्या तुम जानते हो कि तुम किसकी खोज कर रहे हो? वह सजीव रूप में गूँज रहा है, फिर भी उसका कोई मूल अथवा शाखा नहीं है। तुम न उसे समेट सकते हो और न तुम उसे हवाओं में बिखेर सकते हो। तुम उसकी जितनी अधिक खोज करते हो, वह उतना ही दूर होता जाता है। उसकी खोज करना छोड़ दो, तो वह तुम्हारी आँखों के सामने है, उसकी आश्चर्यजनक ध्वनि सदैव तुम्हारे कानों में गूँजती रहती है। परन्तु यदि तुम्हें विश्वास नहीं है तो तुम सैकड़ों साल व्यर्थ ही परिश्रम करते रहोगे।[553]

जैसे-जैसे हम मन को शून्य-अवस्था में ले आते हैं और जीते-जी मरते हैं, हम उस गूँजती हुई अगाध अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं जिसमें 'वह आश्चर्यजनक ध्वनि सदैव हमारे कानों में गूँजती रहती है।' अगले अध्याय में हम इस अलौकिक ध्वनि के विषय में और अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

9

शब्द तथा प्रकाश के आन्तरिक अनुभव

यह बात पहले ही बतलायी जा चुकी है कि बौद्धधर्म में कुछ अनावश्यक आध्यात्मिक प्रश्नों का उत्तर टाल दिया गया है। यह वास्तव में एक व्यावहारिक मार्ग प्रस्तुत करता है जिस पर चलकर मनुष्य सत्य को यथावत् रूप में, निर्वाण की गूढ़ शून्यता के रूप में, अनुभव करता है। यह सत्य, वाणी और विचार से परे है। छः इन्द्रियों द्वारा, मन की परिकल्पना द्वारा और अपने अभ्यासगत प्रवृत्तियों द्वारा व्यक्ति जिन अनुभवों को प्राप्त करता है, उनमें ही लिपटे रहना सत्य के साक्षात्कार के मार्ग में बाधक सिद्ध होता है। सत्य को उसके यथावत् रूप में पहचानने के लिए मनुष्य को इन बाधाओं से अपने आप को मुक्त करना होगा और अन्तर्मुखी बनना होगा, न कि बहिर्मुखी। बुद्ध-महात्मा इसी मार्ग का उपदेश देने के लिए संसार में आते हैं। वे हमें उपदेश देते हैं कि किस प्रकार हम उस अज्ञानता को दूर कर सकते हैं जो उस सत्य का साक्षात्कार करने में रुकावट है, जो हमारे अस्तित्व तथा सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है।

विश्व की अन्य आध्यात्मिक परम्पराओं के समान बौद्धधर्म में भी यह बताया गया है कि गूढ़ अलौकिक प्रकाश और ध्वनि सर्वत्र व्याप्त है और आन्तरिक मार्ग पर चलनेवाला एक कुशल अभ्यासी इस अलौकिक

प्रकाश और ध्वनि का स्वयं अनुभव करता है। ऐसे आन्तरिक अनुभव के सम्पर्क में आना ही निर्वाण प्राप्ति के मार्ग की कुंजी है, अतः अब हम विचार करेंगे कि बौद्ध-ग्रन्थों में किस प्रकार आन्तरिक प्रकाश और ध्वनि का वर्णन किया गया है।

ध्वनि और प्रकाश ही सब कुछ है

बौद्धधर्म के उपदेशानुसार, ध्वनि के द्वारा ही शून्य से सब कुछ प्रकट होता है और यह ध्वनि सर्वत्र व्याप्त है। तिब्बती बौद्ध लामा थूबेन येशे (1935-1984) कहते हैं:

> *वास्तव में बौद्धधर्म का यह अनुभव विज्ञानसम्मत है कि रूप, रंग, गंध, जल, अग्नि आदि, प्रत्येक पदार्थ में ध्वनि-शक्ति विद्यमान है।*[554]

वर्तमान समय के दोच्छेन* सतगुरुओं में से एक प्रमुख गुरु चोग्याल नामखाय नोरबू (1938-) शून्य की ध्वनि के विषय में कहते हैं:

> *फिर ध्वनि इतनी महत्त्वपूर्ण क्यों है? क्योंकि जब हम अपने वास्तविक स्वरूप की बात करते हैं जो सबका स्रोत है, तो यह प्रश्न उठता है कि ध्वनि शून्य से कैसे प्रकट होती है? पहले ध्वनि ही प्रकट होती है और फिर ध्वनि से प्रकाश और उसकी किरणें प्रकट होती हैं। इन तीनों को हमारी आदि-शक्ति कहा जाता है। ध्वनि का अर्थ उस साधारण ध्वनि से नहीं है जिसे हम अपने*

* दोच्छेन अर्थात् 'महान् परिपूर्णता', जिसे अतियोग भी कहते हैं, तिब्बती बौद्धधर्म के नियंगमा स्कूल में बताया जानेवाला अत्यन्त गूढ़ योगाभ्यास है जिसमें गुरु सीधे अपनी आध्यात्मिक शक्ति को शिष्य तक पहुँचाता है। केवल पिछले कुछ दशकों से ही दोच्छेन उपदेश आंशिक रूप से उन लोगों को भी उपलब्ध कराये गये हैं जो दीक्षित नहीं हैं।

कानों द्वारा सुनते हैं। जब हम ध्वनि के बारे में बात करते हैं तो तुरन्त हमें इस बाहर की ध्वनि का ध्यान आता है। यह बाहर की ध्वनि ही है जिसे हम अपने कानों द्वारा सुन सकते हैं।

एक आन्तरिक ध्वनि भी है जिसे हम केवल स्पन्दन द्वारा अनुभव कर सकते हैं; आन्तरिक ध्वनि सुनने या अनुभव करने के लिए हमें स्थूल कानों की आवश्यकता नहीं है।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है गुप्त ध्वनि। हम इस गुप्त ध्वनि की खोज तभी कर सकते हैं जब हम अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान कर लें। जब हम अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान कर लेते हैं और यह जान जाते हैं कि इसका इस शक्ति के साथ क्या सम्बन्ध है और यह कैसे प्रकट होती है, तभी हम उस गुप्त ध्वनि की भी पहचान कर पाते हैं।[555]

ज़ेन कवि टाकौन सोहो (1573–1654) शून्यता की ध्वनि के विषय में लिखते हैं:

कान के अन्दर
अनेक आवाज़ों का गुंजन हो रहा है
परन्तु उनका मूल स्रोत वह है
जिसे निःशब्द का शब्द
कहा जा सकता है।[556]

ज़ेन बौधधर्म में आन्तरिक ध्वनि का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है और इसे ही परम सत्य माना गया है। उदाहरण के लिए, एक ज़ेन बौद्धगुरु सोयन शाकू 'कैन्नन' (जो जापानी भाषा में अवलोकितेश्वर का नाम है) की चर्चा करते हैं। 'कैन्नन' शब्द कॉन–ज़ी–ऑन का संक्षिप्त रूप है जिसका अर्थ है वह जो ब्रह्माण्ड की ध्वनि (ज़ी–ऑन) का प्रत्यक्ष अनुभव (कॉन) करता है। सोयन शाकू कहते हैं:

सत्य केवल एक है और हम इसे किसी भी नाम से पुकार सकते हैं... आप इसे परमात्मा, विवेक–शक्ति, जीवन–शक्ति, तथता अथवा प्रेम – किसी भी नाम से पुकार सकते हैं... परन्तु बौद्धधर्म में इसे 'शब्द' कहा गया है... और यह भी बताया गया है कि सभी पदार्थ एक शब्द से ही बने हैं जिसमें प्रत्येक बेमेल स्वर का सदा ही समावेश हो जाता है।[557]

जो ब्रह्माण्ड की इस ध्वनि या शब्द को सुनता है, वह उस व्यक्ति से न कम है न अधिक जो अपने गूढ़ आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा सृष्टि के मूल रहस्य की गहराई तक पहुँच चुका है, इसके प्रत्येक पदार्थ का रहस्य जानता है और यह भी जानता है कि इनकी उत्पत्ति का कारण क्या है, ये ऐसे क्यों हैं, किसी और रूप में क्यों नहीं; और जिसके जीवन और विचारों का उस मन (चेतना) के साथ पूर्ण सामंजस्य है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के भाग्य का नियन्त्रण करता है। जैसा कि हम कहते हैं, वह दूसरे किनारे तक पहुँच गया है, वह बुद्ध है, उसने निर्वाण प्राप्त कर लिया है।[558]

यह बताते हुए कि शब्द या ध्वनि ही सबका स्रोत है और यही सृष्टि को एकरूपता देनेवाली शक्ति अथवा ताक़त है, वे कहते हैं:

न केवल बहती हुई हवा, गरजती हुई लहरें और बाँसुरी की सुरीली ध्वनि, परन्तु पर्वत, नदियाँ, समुद्र, सूर्य, आकाश और प्रत्येक वस्तु जो अस्तित्व में है, वह उस शाश्वत, चरम और एकरूपता प्रदान करनेवाली ध्वनि के अनेक स्पन्दनों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।[559]

प्रसिद्ध बौद्ध–लेखक और अनुवादक एडवर्ड कॉन्ज़ के अनुसार शब्द या ध्वनि उस शक्ति अथवा ताक़त का साररूप है जो इस विश्व को चलानेवाली है:

किसी अन्य की तुलना में शब्द या ध्वनि शक्ति के साररूप के सर्वाधिक नज़दीक है। प्रत्येक शब्द में निहित शब्दांशों का विश्लेषण किया जा सकता है और... भिन्न-भिन्न शब्दांश न केवल भिन्न-भिन्न दैवी शक्तियों अथवा देवी-देवताओं के अनुरूप हैं, अपितु एक शब्दांश अथवा अक्षर को किसी दैवी शक्ति का आह्वान करने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है और इसी कारण इसे उस दैवी शक्ति का बीजरूप कहा जा सकता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गेहूँ के दाने में पूरा पौधा निहित होता है।[560]

प्रसिद्ध महायान-ग्रन्थ *सुखावती-व्यूह* में आनन्दलोक सुखावती के सुख और सुन्दरता का वर्णन करते हुए महात्मा बुद्ध ध्वनि और प्रकाश का उल्लेख करते हैं। वे आनन्द से कहते हैं:

हे आनन्द! इस आनन्द-धाम सुखावती में भिन्न-भिन्न प्रकार की नदियाँ बहती हैं... ये सभी नदियाँ आनन्द देनेवाली हैं जिनमें... विभिन्न रत्नों से युक्त जल प्रवाहित होता है और जो मधुर... ध्वनि से गुंजायमान है, जो गहन, अज्ञात, गूढ़, स्पष्ट, कर्णप्रिय, हृदय को लुभानेवाली, मधुर, आनन्ददायिनी, कभी न ऊबानेवाली, कभी अप्रिय न लगनेवाली (और सदा) सुनने में सुखदायक है।...

ऐसी ध्वनियों को सुनने के बाद प्रत्येक साधक को परम आनन्द और सुख का अनुभव होता है और वह उपराम, निर्विकार, शान्त, स्थिर, स्वभावगत (धर्म) में स्थित होने के साथ-साथ अनेक सद्गुणों से सम्पन्न हो जाता है जिनके द्वारा उसे पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है।[561]

सम्बोधि: प्रकाश और ध्वनि का एक अनुभव

महात्मा बुद्ध ने अपनी आध्यात्मिक खोज के आरम्भिक काल में मन को वश में करने के लिए उपवास तथा इन्द्रिय-निग्रह आदि कई प्रकार

के साधन अपनाये। परन्तु आन्तरिक अभ्यास (समाधि) का सही तरीक़ा अपनाने के बाद ही उनका प्रज्ञाचक्षु खुला और उन्हें प्रकाश दिखायी दिया। महात्मा बुद्ध कहते हैं कि इस अनुभव के बाद वे मार्ग पर दृढ़ बने रहे:

असंख्य सत्कर्मों द्वारा
मैंने अपने आप को भ्रमों से मुक्त कर लिया है
और अनेक प्रकार के प्रकाश का अनुभव किया है।
सभी प्रकार के सद्गुणों के अभ्यास द्वारा मैं दृढ़तापूर्वक बुद्ध के मार्ग का अनुसरण करता हूँ।[562]

सम्बोधि के समय महात्मा बुद्ध को जो अनुभूति हुई, उसके विषय में एक ब्राह्मण को बताते हुए वे प्रकाश के अनुभव का इस प्रकार वर्णन करते हैं:

हे ब्राह्मण! रात्रि के अन्तिम प्रहर में मुझे तीसरा सच्चा ज्ञान हुआ; अज्ञानता का नाश हो गया, प्रज्ञा उत्पन्न हो गयी, अन्धकार दूर हो गया और प्रकाश का उदय हो गया।[563]

महात्मा बुद्ध की समाधि-अवस्था के समय प्रकाश के उदय होने के विषय में *सद्धर्म पुण्डरीक* में कहा गया है:

उनकी देह निश्चल थी और उनका मन पूर्ण-शान्ति की अवस्था में पहुँच चुका था। और जैसे ही भगवन् ने समाधि-अवस्था में प्रवेश किया, आकाश से दिव्य पुष्पों की वर्षा होने लगी... और इसी समय भगवन् की भौंहों के बीचोबीच मध्यबिन्दु से प्रकाश की एक किरण उठी जो अट्ठारह करोड़ बुद्ध-क्षेत्रों तक फैल गयी... जिसके तेज से वे सभी बुद्ध-क्षेत्र पूरी तरह प्रकाशमान हो गये।[564]

फिर महात्मा बुद्ध की सम्बोधि की अद्भुत अवस्था का, जो भव्य प्रकाश और ध्वनि से परिपूर्ण थी, संकेत देते हुए *ललितविस्तर* में कहा गया है:

> *सभी ब्रह्माण्ड एक भव्य प्रकाश से जगमगा उठे... वे गुंजायमान हो उठे, अतिशय रूप से गूँज उठे और उनकी गूँज सर्वत्र व्याप्त हो गयी और एक दिव्य ध्वनि गूँज उठी, यह भव्यतापूर्वक गूँजने लगी और सर्वत्र फैल गयी।*[565]

सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र) में भी महात्मा बुद्ध की सम्बोधि-प्राप्ति की अवस्था का वर्णन गुंजायमान संगीत का उल्लेख करते हुए किया गया है:

> *हे भिक्षुओं! जब भगवान् सम्बोधि की चरमावस्था पर थे, तब दिव्य लोक के देवताओं ने उनके लिए एक भव्य राजसी सिंहासन तैयार किया... और जैसे ही प्रभु निर्वाणपद के सिंहासन पर बैठे, ब्रह्मकायिक देवताओं * ने उनके सिंहासन के चारों ओर पुष्प-वर्षा की... और देवताओं के दिव्य नगाड़े बजने लगे... और दिव्य संगीत-वाद्यों की ध्वनि निरन्तर गूँजती रही।*[566]

महात्मा बुद्ध की सम्बोधि-प्राप्ति से उनके जीवन में एक ऐतिहासिक मोड़ आ गया। अनन्त ज्ञान से परिपूर्ण और अपार करुणा से भरे हुए महात्मा बुद्ध ने दुःख-भोगती हुई मानव-जाति को इस ज्ञान का उपदेश देने का बीड़ा उठा लिया। जब वे धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिए, पहली बार प्रवचन देने के लिए वाराणसी (काशी) जा रहे थे, तो मार्ग में उनकी भेंट उपक नाम के एक नागा साधु से हुई जिसने महात्मा बुद्ध से उनके उद्देश्य के बारे में पूछा। इस पर महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया:

---

* वे देवता जो ब्रह्मलोक में निवास करते हैं।

> *मैं वाराणसी जाऊँगा*
> *और वहाँ काशी नगर में जाकर*
> *मैं अज्ञानता के अन्धेरे में भटकते हुए लोगों के लिए*
> *अनुपम प्रकाश जाग्रत करूँगा*
> *और शब्द (आन्तरिक धुन) से खाली*
> *लोगों के लिए अमरत्व का डंका बजाऊँगा।*[567]

बुद्ध की अलौकिक वाणी

बौद्धधर्म के प्रारम्भिक काल के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ *महावस्तु* में बुद्ध के इस शब्द की अद्भुत विशेषताओं का हवाला दिया गया है जो ध्वनि के रूप में सर्वत्र व्याप्त है:

> महान् पुण्यात्मा (बुद्ध) की वाणी मधुर संगीतमय ध्वनि के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। सुगत (बुद्ध की) की वाणी वीणा और बाँसुरी की धुन के समान है। यह हंसों के संगीत की तरह है। उस परमचेतन बुद्ध की वाणी कड़कते हुए बादलों की गर्जन के समान है, किन्तु साथ ही कोयल की कूक के समान मधुर भी है। यह रथ के पहियों की गड़गड़ाहट के समान है, समुद्र के गर्जन के समान है, पपीहे... चातक की पुकार के समान है... हाथी की चिंघाड़ के समान है और शेर की गर्जन के समान है।
>
> वे जो मनुष्यों और देवताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं, उनका स्वर नगाड़ों की धुन जैसा है, तेज़ हवा के झकोरों में जंगल की सरसराहट की आवाज़ के समान है और भूकम्प की गड़गड़ाहट के समान है।
>
> 'जिन' (अजेय, बुद्ध) का स्वर-घोष सर्वत्र व्याप्त है; यह स्वर पाँच प्रभावशाली वाद्ययन्त्रों के वादन के समान है। यह बतख़ के और लाल चोंच और पतली जिह्वा वाले मोर के धीमे

स्वरों के समान है। यह लहरों के थपेड़ों की आवाज़ के समान है और दूरी होने पर भी यह अस्पष्ट नहीं होती।

वे जो स्वर्ग और धरती के सभी प्राणियों में सर्वोपरि हैं, उनका स्वर घंटियों की सुरीली रुन-झुन के समान है, किन्तु गम्भीर है; यह सोने के तारों से बुने जाल की सरसराहट के समान है और रत्नों की झंकार के समान है।

जिन्होंने पूर्णता प्राप्त कर ली है, उनकी वाणी गम्भीर और विस्मय उत्पन्न करनेवाली समझी और मानी जाती है, किन्तु साथ ही साथ कर्णप्रिय और सदा हृदय को छूनेवाली भी होती है।

वे सब लोग जो पुण्यवान् हैं, जिन्होंने पुण्य के विशाल भण्डार का संग्रह किया है, जिनकी महिमा अनन्त है, उन सबकी वाणी भारतीय वीणा के समान कानों को आनन्द देनेवाली होती है।[568]

नागार्जुन के *माध्यमक शास्त्र (ट्रटाइज़ ऑन द मिडल वे)* पर लिखी गयी अपनी प्रसिद्ध टीका *प्रसन्नपदा* में चन्द्रकीर्ति (600-650 ईसवी), एक उपमा देकर यह समझाते हैं कि किस प्रकार एक गुंजायमान ध्वनि द्वारा बुद्ध के अनेकानेक उपदेश अपने आप प्रस्फुटित होते हैं:

जिस प्रकार एक यन्त्रचालित संगीत-वाद्य तूर्य किसी के बजाये बिना ही हवा के झोंकों से अपने आप बजने लगता है, उसी प्रकार बुद्ध से अपने आप शब्द प्रस्फुटित होते हैं।[569]

जैसा कि महात्मा बुद्ध अपने एक प्रमुख शिष्य महाकाश्यप को बताते हैं:

एक विशाल बादल के उमड़ने के समान तथागत प्रकट होते हैं, अपने स्वर को ऊँचा करते हैं और अपने ऊँचे स्वर में

घोष करते हैं... काश्यप! मैं वही हूँ जो यह जानते हुए भी कि धर्म का सार एक ही है, जो मुक्ति का सार है, जो सदैव शान्त है और जो निर्वाण की नित्य शक्ति की अवस्था तक ले जानेवाला है... उस सर्वज्ञता के ज्ञान को मैं सब पर एकाएक प्रकट नहीं करता हूँ... काश्यप! तुम चकित हो, हैरान हो कि तुम तथागत के रहस्यपूर्ण तथा गूढ़ वचनों को समझ नहीं पा रहे हो। ऐसा क्यों है? क्योंकि काश्यप! तथागत, अर्हत और सम्बोधि-प्राप्त महात्माओं की रहस्यपूर्ण और गूढ़ वाणी (संधा-भाषितम्) को समझना बहुत कठिन है।[570]

चन्द्रकीर्ति *गुह्यसमाज-तन्त्र* में से एक उद्धरण देते हैं जिसमें एक प्रश्न के उत्तर में यह बताया गया है कि किस प्रकार भगवन् वास्तव में बिना कोई शब्द बोले अनेक उपदेश देते हैं:

उनके सभी उपदेश केवल उनके क्षणभर के उद्घोष से ही उमड़ आते हैं जो सबके मन को मोह लेते हैं, जो असंख्य श्रोताओं के चित्त को प्रसन्न करते हैं, जो आवागमन के विशाल सागर को सुखा देते हैं और जिससे शरद ऋतु की शीतलता प्रदान करनेवाले पूर्ण चन्द्र के समान ऐसी भव्य प्रकाश-किरणें निकलती हैं जो सात खण्डोंवाले ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित कर देती हैं।[571]

समाधिराज सूत्र में भी ऐसा ही कथन है:

हे जगत् का कल्याण करनेवाले प्रभु! आपके एक घोष द्वारा अनेकों की मुक्ति के लिए विभिन्न उपदेश प्रस्फुटित हो जाते हैं।[572]

सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र) में महात्मा बुद्ध घोषणा करते हैं: "मैं एक ही स्वर में धर्म की चर्चा करता हूँ" (स्वरेण चैकेन वदामि धर्मम्)।[573] महात्मा बुद्ध के इस उद्घोष के साथ एडवर्ड कॉन्ज़ नीचे दिया गया कथन जोड़ देते हैं:

> इसका उपयुक्त अनुवाद करना असम्भव-सा लगता है। यह वाक्य 'महासंघिकों'* के सिद्धान्त को सूचित करता है जिसके अनुसार बुद्ध केवल एक ही घोष द्वारा धार्मिक जगत् के सम्पूर्ण विस्तार को प्रकट कर देते हैं। वे केवल एक शब्द बोलते हैं और सभी प्राणी अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप धर्मोपदेश ग्रहण कर लेते हैं, ताकि उनमें से प्रत्येक में जो जो त्रुटियाँ हैं, वे उन त्रुटियों को दूर करने के योग्य हो सकें। केवल एक घोष द्वारा ही बुद्ध सम्पूर्ण धर्म को उद्घोषित कर सकते हैं और उसको सुननेवाले उस ज्ञानोपदेश को अपनी-अपनी विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ग्रहण कर लेंगे चाहे वह उपदेश स्थूल है या सूक्ष्म।[574]

इसके अतिरिक्त *सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र)* में भी महात्मा बुद्ध आनन्द के बुद्धत्व प्राप्त करने के बारे में भविष्यवाणी करते हुए कहते हैं:

> वे एक 'जिन' (बुद्ध) बनेंगे जो महान् आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न होंगे और उनका शब्द जगत् की सभी दशों दिशाओं में गूँजेगा।[575]

इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि *सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र)* में जिन तथागतों का वर्णन है, उनमें से बहुतों के नाम से ही इस

* प्रारम्भिक बौद्धधर्म का एक सम्प्रदाय, जिसका अब लोप हो गया है।

बात का संकेत मिलता है कि वे ध्वनि अथवा प्रकाश का मूर्तरूप हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:

सिंह-घोषः	जिसकी आवाज़ शेर की गर्जन के समान है।
दुंदुभि-स्वर-राजः	दुंदुभि की आवाज़ का सम्राट्।
मेघ-स्वर-राजः	बादल की आवाज़ का सम्राट्।
मेघ-दुंदुभि-स्वर-राजः	दुंदुभि तथा बादल की आवाज़ों का सम्राट्।
जलधर-गर्जित-घोष-सुस्वर-नक्षत्र-राज-संकुसुमिताभिज्ञाः	वह जिसकी मधुर आवाज़ बादल की गर्जन जैसी है, जिसका तेज दिव्य नक्षत्रों के राजा के समान है और जिसका महान् ज्ञान पूर्णतः प्रफुलित है।[576]

बुद्ध के अलौकिक स्वरूप की अनुभूति

हम देख चुके हैं कि महात्मा बुद्ध का वास्तविक स्वरूप शाश्वत 'धर्मकाय' है। परन्तु दुःख भोगनेवाले प्राणियों के प्रति करुणा कर वे अनेक देहस्वरूप अथवा निर्माणकाय धारण करते हैं और लोगों को मुक्ति प्राप्त करने में सहायता करते हैं। इसके अतिरिक्त आन्तरिक अभ्यास में लगे हुए अभ्यासी के सामने बुद्ध अपने दिव्य स्वरूप में प्रकट होते हैं:

> मेरा वास्तविक स्वरूप हज़ारों करोड़ों मण्डलों में अपरिवर्तनशील रहा है और मैं अनन्त युगों से प्राणियों को धर्म का उपदेश देता रहा हूँ। मेरे देहत्याग के पश्चात् अपने उस उत्साही भक्त के लिए

जो इस सूत्र के प्रचार में लगा है, मैं अनेक निर्माणकाय भेजूँगा... और जब वह एकान्त में रहते हुए किसी शान्त स्थान – जंगल हो या पहाड़ी-स्थान – में बैठा हुआ निरन्तर जाप करता रहेगा, उस समय मैं उसके सामने अपने दिव्य स्वरूप में प्रकट हो जाऊँगा और उसे भूले हुए सबक़ को याद करने में सहायता दूँगा।[577]

एक बुद्ध-महात्मा अथवा सच्चा गुरु अपने शिष्यों के लिए कभी मरते नहीं हैं और वे अपनी प्रज्ञा और करुणा से जब भी उचित समझते हैं, अपने शिष्यों के सामने प्रकट हो जाते हैं। शिष्य स्वभावत: सच्चे बुद्ध का आन्तरिक स्वरूप देखकर भावविह्वल हो उठता है। *सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र)* में एक स्थान पर बोधिसत्त्वों द्वारा बुद्ध का दर्शन किये जाने का वर्णन इन शब्दों में मिलता है:

> यह दृश्य देखकर (भगवन् शाक्यमुनि का दर्शन करके) वे चकित रह गये, आश्चर्य और आनन्द से मन्त्रमुग्ध हो उठे। और उन्होंने आकाश से यह घोष सुना जिससे यह पुकार उठ रही थी... "वहाँ तथागत, जिन्हें शाक्यमुनि कहा जाता है, जो अर्हत हैं, वे अब बोधिसत्त्वों के सामने सच्चे धर्मरूपी कमल का धर्मपर्याय (सत्य का द्वार, गूढ़ रहस्य) प्रकट कर रहे हैं... इसे आनन्दपूर्वक सच्चे हृदय से स्वीकार करो और भगवन् शाक्यमुनि तथागत का अभिवादन करो।"[578]

इस बात का संकेत देते हुए कि एक गुरु अपने देहत्याग के पश्चात् अपने निष्ठावान् शिष्यों के सामने धर्मकाय रूप में प्रकट होते हैं, *सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र)* में इस प्रकार विश्वास दिलाया गया है:

> तथागत के परिनिर्वाण के पश्चात् जो बोधिसत्त्व उनका ध्यान करते हुए 'धर्मपर्याय' का उपदेश देते हैं... इसके विषय में लिखते

> और पढ़ते हैं, वे धर्म की उस पावन वाणी को अवश्य सुनते हैं (शब्दं शृणुते विशुद्धम्) जो बुद्ध... विश्व के सामने प्रकट करते हैं, और वे बुद्ध की इस वाणी को ग्रहण करते हैं।[579]

महात्मा बुद्ध इस बात का भी संकेत देते हैं कि एक निष्ठावान् शिष्य को स्वप्नावस्था में भी बुद्ध के दर्शन होते हैं और उनकी आवाज़ सुनाई देती है:

> वे सपने में तथागत का स्वर्णिम प्रकाशमान् स्वरूप में दर्शन करते हैं, और देखते हैं कि प्रभु अपनी मधुर वाणी से असंख्य प्राणियों को धर्म का उपदेश दे रहे हैं और उनके स्वरूप से सहस्त्रों प्रकाश-किरणें चारों ओर फैल रही हैं।[580]

यहाँ एक अभ्यासी गूढ़ समाधि की अवस्था में तथा स्वप्नावस्था में हुए अपने अनुभवों का उल्लेख इस प्रकार करता है:

> पुन: वह अपने आपको पहाड़ी गुफाओं में धर्म की साधना करते हुए देखता है और साधना द्वारा वह धर्म के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और पूर्ण एकाग्रता की अवस्था प्राप्त करके वह 'जिन' (बुद्ध) का दर्शन करता है। स्वप्न में सैकड़ों प्रकाशमान् चिह्नों से युक्त उस स्वर्णिम प्रकाशमान् स्वरूप को देखकर, वह धर्म की वाणी सुनता है।[581]

अन्त में हमें इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि महात्मा बुद्ध अपने धर्मकाय को उनके सामने प्रकट नहीं करते जिन्हें गुरु के दर्शन की कोई तड़प नहीं है। महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> मैं देखता हूँ कि किस प्रकार प्राणी दु:ख भोग रहे हैं, परन्तु मैं उन्हें अपना वास्तविक स्वरूप नहीं दिखलाता। पहले उनके मन

में मेरे दर्शन के लिए अभिलाषा जाग्रत हो जाये। इसके पश्चात् ही मैं उनके सामने वास्तविक धर्म को प्रकट करूँगा।[582]

आन्तरिक अभ्यास में प्रकाश तथा ध्वनि के अनुभव

बौद्धधर्म की अलग-अलग शाखाओं और उनके धर्मग्रन्थों का अध्ययन करने पर हमें पता चलता है कि पारस्परिक भिन्नताओं के बावजूद उनमें प्राय: यह उल्लेख पाया जाता है कि ध्यान में पूर्ण एकाग्रता प्राप्त होने पर आन्तरिक धुन सुनाई देती है और आन्तरिक प्रकाश दिखायी देता है, और यह सुनना और देखना आन्तरिक अभ्यास का अंग है।

प्रसिद्ध *शूरंगम सूत्र* में प्रज्ञावान् बुद्ध मंजुश्री स्पष्ट करते हैं कि प्रभु अवलोकितेश्वर की साधना सबके लिए सबसे आसान और सर्वश्रेष्ठ विधि है। यद्यपि प्रभु अवलोकितेश्वर के साथ जुड़ी हुई कुछ अलग-अलग अभ्यास-विधियाँ हैं, पर जिस विधि का वर्णन मंजुश्री करते हैं, वह धुन सुनने पर आधारित है। मंजुश्री विश्व-पूजित महात्मा बुद्ध से कहते हैं:

अब मैं विश्व-पूजित प्रभु के समक्ष निवेदन करता हूँ
कि इस संसार में प्रकट होनेवाले सभी
बुद्ध-महात्मा उस सर्वश्रेष्ठ विधि का उपदेश दें,
जो सर्वव्यापी धुन की साधना में निहित है।
इस धुन को सुनकर
समाधि-अवस्था प्राप्त की जा सकती है।
अवलोकितेश्वर भी इसी प्रकार दु:खों से मुक्त हुए थे।[583]

आन्तरिक स्थिरता, एकाग्रता तथा विशुद्धि द्वारा ध्यान अन्तर्मुख हो जाता है जिससे अभ्यासी आन्तरिक धुन को सुन सकता है। पालि त्रिपिटक के *दीघ निकाय* में महात्मा बुद्ध मगध के राजा अजातशत्रु को यह बतलाते हैं कि अभ्यासी की जो भी उपलब्धियाँ होंगी, वे साधना द्वारा ही प्राप्त होंगी और यह साधना आन्तरिक है:

जब साधक का मन इस प्रकार एकाग्र, शुद्ध, पवित्र, दोषरहित, बाहरी विकारों से मुक्त, नम्र, विनीत, स्थिर और शान्त हो जाता है, तब वह पूरी तन्मयता से दिव्य वाणी सुनने का प्रयास करता है। दिव्य श्रवण-शक्ति द्वारा जो मनुष्यों की स्थूल श्रवण-शक्ति से बढ़कर है, साधक बाहरी और आन्तरिक दोनों प्रकार की आवाज़ें सुन सकता है, चाहे वे दूर से आ रही हों या पास से।

हे राजन्! जिस प्रकार कोई व्यक्ति ऊँची सड़क पर हो और उसे किसी ढोलक, नगाड़े, शंख अथवा दुंदुभि की आवाज़ सुनाई दे तो वह स्पष्ट और निश्चित रूप से जान जायेगा: यह नगाड़े की आवाज़ है, यह शंख की आवाज़ है और यह दुंदुभि की आवाज़ है।[584]

प्लैटफ़ॉर्म सूत्र जिसमें ज़ेन के छठे मुखिया ह्यूई नेंग के जीवन और उपदेश का उल्लेख है, उसमें भी इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना द्वारा अपने अन्तर में झाँकने के महत्त्व का वर्णन मिलता है। इसमें कहा गया है कि एक दिन पाँचवें मुखिया ने अचानक अपने सारे शिष्यों को एक साथ बुलाया। जब वे इकट्ठे हो गये तो उन्होंने कहा:

मैंने आपको यह उपदेश दिया ही है कि मनुष्य के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय जीवन और मृत्यु ही है। परन्तु हे शिष्यों! तुम अपना सारा समय प्रार्थनाएँ करने और पुण्य कमाने में बिता देते हो, परन्तु इस दु:खद संसाररूपी सागर से छूटने का कोई उपाय नहीं करते। यदि तुम अपने ही स्वभाव से अनजान हो तो तुम अपने कल्याण का मार्ग कैसे खोज पाओगे? अपने अपने कक्ष में जाओ और अपने भीतर झाँको।[585]

अपने भीतर प्रवेश करने पर ही मनुष्य गूढ़ रहस्यों का अनुभव कर सकता है, जैसा कि एक ज़ेन बौद्धगुरु, सोयन शाकू, कहते हैं:

यह मत सोचो कि यह बहुत गुप्त और गूढ़ है; केवल दृढ़ता से आन्तरिक साधना में जुट जाओ... और तुम्हें मेरे कथन की सचाई का पता लग जायेगा।[586]

ज़ेन बौद्धधर्म की साधना की चर्चा करते हुए बौद्धधर्म के प्रसिद्ध जापानी विद्वान् ज़ंजीरो ताकाकुसु (1866–1945) भी यह कहते हैं:

हम बिना हिचकिचाहट के यह कह सकते हैं कि इसमें (ज़ेन में) अन्तर की आवाज़ सुनने का अभ्यास करना आवश्यक है।[587]

सुआन-शा-शीह-पे (835–908) भी अपने अन्तर में ही देखने और सुनने के महत्त्व की ओर संकेत करते हैं:

"मैं चॉन में कैसे प्रवेश कर सकता हूँ?"
"क्या तुम्हें नदी की कलकल ध्वनि सुनाई देती है?"
"हाँ"
"तुम्हें उसी में प्रवेश करना है।"[588]

गुरु और शिष्य के बीच के इस संवाद से यह संकेत मिल सकता है कि चाहे वह ध्वनि जो शिष्य को एकाग्रता की आरम्भिक अवस्था में सुनाई देती है, नदी की कलकल ध्वनि के समान धीमी तथा अस्पष्ट हो, तो भी इस पर ध्यान टिकाकर साधक आन्तरिक अनुभव के जगत् में प्रवेश कर सकता है।

गुरु पद्मसंभव उस आन्तरिक अभ्यास की छान-बीन करते हैं जो निर्मल प्रकाश की ओर ले जाता है:

और जब तुम अन्तर में अपने मन को अपने भीतर देखते हो,
और यदि वहाँ कोई दूसरा नहीं है जो अपने सोच द्वारा

विचारों को मूर्तरूप दे,
तब विचारों से खाली तुम्हारा अपना सूक्ष्म मन
एकदम निर्मल हो जायेगा।
चूँकि तुम्हारी अपनी आन्तरिक चेतना का निर्मल प्रकाश
शून्य है, यह धर्मकाय है;
और यह बिना बादलों के स्वच्छ आकाश में उगते
हुए सूर्य के समान है।
भले ही इसका (इस प्रकाश का) कोई विशेष
आकार अथवा रूप नहीं है, फिर भी इसे
पूरी तरह जाना जा सकता है।
चाहे कुछ समझ आये या नहीं, इसका अर्थ
विशेष महत्त्व रखता है।[589]

तिब्बती लामाओं द्वारा आन्तरिक शब्द सुनने और अन्तर में दृश्य देखने का वर्णन लामा थूबेन येशे ने भी किया है:

यदि तुम ध्यान से सुनते हो तो तुम्हारे मस्तिष्क में सदैव कोई आवाज़ सुनाई देती है; मेरे लिए तो वहाँ शब्द ही शब्द गूँज रहा है।

कभी-कभी आन्तरिक आकाश से तुम अत्यन्त आश्चर्यजनक मधुर संगीत सुन सकते हो, यह स्वाभाविक है। सच में!... वास्तव में, कुछ लामाओं ने आन्तरिक दृश्य देखे हैं और आन्तरिक संगीत सुना है। यह बहुत ही गूढ़ शब्द-धुन है। यह किसी साधारण व्यक्ति द्वारा रची जानेवाली धुन नहीं है। जब ये लामा आन्तरिक साधना करते हैं, तब ये शब्द की धुन को सुनते हैं।[590]

अपार करुणा के मूर्तरूप प्रभु अवलोकितेश्वर की रक्षा-शक्ति का संकेत करते हुए मंजुश्री कहते हैं:

हे प्रभु! आप, जिन्होंने गूढ़ शब्द-धुन को प्राप्त कर लिया है और
उस धुन के ज्ञाता हैं, जो निर्मल करनेवाली है,
जो कभी विफल न होनेवाले समुद्री ज्वारभाटे की
आवाज़ के समान
जगत् के सभी प्राणियों का उद्धार करती है,
उन्हें सुरक्षा प्रदान करती है (और) उनकी मुक्ति तथा
निर्वाण-प्राप्ति सुनिश्चित करती है।
मैं सम्मानपूर्वक तथागत के सामने वही कहता हूँ,
जो अवलोकितेश्वर ने कहा है:
जब साधक एकान्त में ध्यान करता है,
तब उसे दसों दिशाओं से एक साथ
नगाड़ों की धुन सुनाई देती है,
इस प्रकार इस धुन को सुनना ही साधना की पूर्णता और
पराकाष्ठा है।
न तो आँखें परदे के पार देख सकती हैं,
न ही मुँह और नाक कुछ कर सकते हैं;
शरीर तो केवल स्पर्श होने पर ही कोई अनुभूति प्राप्त करता है।
मन के विचार भ्रमपूर्ण और बिखरे होते हैं,
(परन्तु) धुन चाहे पास हो या दूर,
यह हर समय सुनी जा सकती है।[591]

मंजुश्री कहते हैं कि आन्तरिक शब्द से जुड़ने के अभ्यास या विधि को ही अतीत, वर्तमान और भविष्य के बुद्ध-महात्माओं ने अपनाया है:

आनन्द और तुम सभी जो यहाँ उपस्थित हो और मुझे सुन रहे हो,
तुम्हें अपने स्वरूप को पहचानने के लिए अपनी श्रवण-शक्ति
को अन्तर्मुख करना चाहिए। केवल इसी से परमबोधि की प्राप्ति
होती है...

पहले हो चुके सभी तथागतों ने यही विधि अपनायी है।
अब सभी बोधिसत्त्व इसी सर्वश्रेष्ठ विधि का अभ्यास करते हैं।
भविष्य में भी जो पारमार्थिक साधना करना चाहते हैं, उन्हें इसी
धर्म पर दृढ़ रहना चाहिए। प्रभु अवलोकितेश्वर ने अकेले ही
इसका अभ्यास नहीं किया, क्योंकि मैंने (मंजुश्री ने) भी यही
अभ्यास किया है... आनेवाली पीढ़ियाँ इतनी सौभाग्यशाली हों
कि उनकी इस सहज साधना में आस्था हो।[592]

अवतंसक सूत्र की बारहवीं पुस्तक में मंजुश्री निर्वाण-प्राप्त महात्मा समन्तभद्र को 'उन आध्यात्मिक सद्गुणों के व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए' कहते हैं जो 'पिछले समय में बुद्ध-महात्माओं द्वारा शुद्धि प्राप्त करने के अभ्यासों' के सम्बन्ध में बतलाये गये हैं। वे उत्तर देते हैं:

एक पूर्ण एकाग्रता की अवस्था है जिसे
शान्ति और आनन्द कहा जाता है,
जो सृष्टि के सभी चेतन प्राणियों की
रक्षा कर सकती है और उन्हें मुक्त कर सकती है,
यह अकल्पनीय महान् प्रकाश है,
जो इसे देख लेते हैं, वे सभी शान्त हो जाते हैं।
इस प्रकाश के उदय होने को 'कल्याणमय अभिव्यक्ति'
कहा जाता है,
यदि कोई चेतन प्राणी इस प्रकाश को देखते हैं
तो इससे निश्चित रूप से उनका कल्याण होगा
इस प्रकार उन्हें सर्वोत्तम ज्ञान की प्राप्ति होगी...

इससे एक और प्रकाश किरण निकलती है जिसे 'शान्ति'
कहते हैं,
यह किरण बिखरे हुए चित्तवाली जीवात्माओं को

लोभ, क्रोध और अज्ञान से मुक्त करके जाग्रत कर देती है,
फलस्वरूप उनका मन निश्चल और सही ढंग से स्थिर हो
जाता है।
सभी बुरी संगति को छोड़ देने से,
व्यर्थ की बातें और पापपूर्ण कर्म त्याग देने से,
अन्तर्मुखी अभ्यास और एकान्तवास की प्रशंसा करने से
(अर्थात् इन्हें अपनाने से)
यह प्रकाश प्रकट होता है।

इससे एक और प्रकाश-किरण प्रस्फुटित होती है जिसे
'अद्भुत-धुन' कहते हैं,
यह प्रकाश-किरण बुद्धत्व की प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को
जाग्रत करती है,
और इसे सुनने वाले को इस जगत् में सुनाई देनेवाली सभी आवाज़ें
बुद्धवाणी का ही रूप जान पड़ती हैं।
ऊँचे स्वर में पुकार-पुकारकर बुद्ध की महिमा करती हुई,
घंटियों की मधुर ध्वनि का संगीत प्रस्तुत करती हुई
तथा समस्त प्राणियों को बुद्ध-वाणी सुनाती हुई
यह प्रकाश-किरण निर्मित हो सकती है।[593]

महात्मा बुद्ध स्पष्ट करते हैं कि आन्तरिक प्रकाश को देखने और आन्तरिक धुन को सुनने के लिए किस प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता होती है। वे कहते हैं कि "यदि कोई साधक स्वर्गीय दृश्यों को देखने और दिव्य धुनों को सुनने के उद्देश्य से एकाग्रचित्त होने का अभ्यास करता है तो अपनी एकाग्रता के अनुरूप वह आन्तरिक प्रकाश को देखेगा और आन्तरिक धुन भी सुनेगा।"[594]

शुरू-शुरू में अपने आप को आन्तरिक धुन के साथ जोड़ना बहुत कठिन लग सकता है, ऐसा अनुभव हो सकता है कि यह साधना

प्रभावहीन है। पालि त्रिपिटक के *दीघ निकाय* में ओट्ठद्ध लिच्छवी नाम का राजकुमार महात्मा बुद्ध को उन बातों से अवगत कराता है जिन्हें उसने उनके एक शिष्य सुनक्खत्त से सुना था। सुनक्खत्त साधना का प्रयास करने के बावजूद कोई परिणाम न मिलने से निराश था:

(सुनक्खत्त ने कहा था:) मैं पिछले तीन वर्षों से महात्मा बुद्ध की देख-रेख में पवित्र साधना का अभ्यास कर रहा हूँ। मैं इच्छाओं को शान्त करनेवाले और मन को वश में करनेवाले, और सुन्दर दीख पड़नेवाले दिव्य-स्वरूप को देख सकता हूँ, परन्तु मैं इसी प्रकार दिव्य वाणी को नहीं सुन सकता।

(राजकुमार ओट्ठद्ध सुनक्खत्त के वृत्तान्त के विषय में महात्मा बुद्ध से पूछता है) अब मान्यवर! (क्या सुनक्खत्त ठीक कहता है और) क्या ऐसी दिव्य ध्वनियाँ हैं जिन्हें वह नहीं सुन पाया या दिव्य ध्वनियाँ हैं ही नहीं?

(महात्मा बुद्ध उत्तर देते हैं:) दिव्य ध्वनियाँ निश्चित रूप से हैं जो सुनने में मधुर, इच्छाओं को शान्त करनेवाली और मन को वश में करनेवाली हैं...

(राजकुमार ओट्ठद्ध उत्तर देता है:) तो भगवन्! फिर क्या कारण है कि सुनक्खत्त उन ध्वनियों को नहीं सुन पाता?

(महात्मा बुद्ध स्पष्ट करते हैं:) एक स्थिति में एक भिक्षु... एकतरफ़ा समाधि में चला जाता है और सुन्दर, आनन्ददायक तथा लुभावने दिव्य दृश्यों को देखता है... परन्तु उसे दिव्य ध्वनियाँ नहीं सुनाई देतीं। अपनी एकतरफ़ा समाधि के कारण वह अलौकिक दृश्य तो देखता है परन्तु दिव्य ध्वनियों को नहीं सुन पाता। ऐसा क्यों है? क्योंकि ऐसी समाधि-अवस्था में केवल अलौकिक दृश्य ही देखे जा सकते हैं, दिव्य ध्वनियाँ नहीं सुनी जा सकतीं... एक अन्य स्थिति में एक भिक्षु... दिव्य ध्वनियों को सुन सकता है, परन्तु दिव्य दृश्यों को नहीं देख सकता...

एक और स्थिति में एक भिक्षु... दोतरफ़ा समाधि में पहुँच जाता है और फलस्वरूप वह सुन्दर, आनन्ददायक तथा लुभावने दिव्य दृश्यों को भी देखता है तथा अलौकिक ध्वनियाँ भी सुन सकता है। ऐसा क्यों है? क्योंकि इस दोतरफ़ा समाधि द्वारा दिव्य दृश्य देखना तथा दिव्य ध्वनियों को सुनना – दोनों ही सम्भव हैं।[595]

अलग-अलग लोकों में प्रकाश तथा धुन की भिन्न-भिन्न रूप से अनुभूति होती है। *अवतंसक सूत्र* में कई अलग-अलग लोकों का वर्णन किया गया है जिनमें प्रत्येक लोक में 'बादलों में चमकती बिजली' के अलग-अलग रंग बतलाये गये हैं, इसे विशेष रूप से बतलाते हुए इसकी कई उपमाएँ दी गयी हैं – यह सूर्य के प्रकाश के समान है, चन्द्रमा के प्रकाश के समान है, स्वर्णिम गुलाब के समान है, वज्रमणि के हरे-पीले रंग जैसी बर्फ़ के समान है, रत्नों की खान के रंगों जैसा है।[596] धुन के विषय में इसमें यह कहा गया है कि वहाँ बड़े-बड़े नगाड़ों की आवाज़ के समान गर्जन है, संगीत के समान स्वर हैं, यह ध्वनियाँ शहनाई की धुन के समान हैं। इसमें यह भी बताया गया है कि साधारण लोगों के बीच इसके आन्तरिक खण्डों की आवाज़ "तट से टकराती लहरों की आवाज़" के समान प्रतीत होती है।[597] इसमें कहा गया है:

दूसरों को आनन्द देनेवाले स्वर्ग में प्रवेश करने पर
यह गर्जन ब्रह्मा की आवाज़ के समान है;
प्रस्फुटन का आनन्द देनेवाले स्वर्ग में
यह बड़े-बड़े नगाड़ों की आवाज़ के समान है;
आनन्दमय स्वर्ग में
यह संगीत की आवाज़ के समान है;
काल-विभाजन से सम्बन्धित स्वर्ग में
यह देव कन्याओं की वाणी के समान है;
तैंतीस दिव्य खण्डोंवाले स्वर्ग में

यह अनेकों किन्नरों की आवाज़ के समान है;*
संसार की निगरानी करनेवाले चार दिक्पालों के स्वर्ग में
यह गंधर्वों की आवाज़ के समान है;
समुद्र में इसकी आवाज़ पर्वतों के आपस में टकराने जैसी है,
किन्नरों के बीच यह शहनाई की आवाज़ के समान है,
नाग देवताओं के महलों में यह
कलविंक पक्षियों के कलरव के समान है,
यक्षलोक में यह नागकन्याओं
की आवाज़ के समान है,
दानवों के बीच यह दिव्य नगाड़ों की आवाज़ के समान है,
मनुष्यों के बीच यह तट से टकराती लहरों की
आवाज़ के समान है।[598]

नीचे दी गयी पंक्तियों में उस अवस्था की चर्चा की गयी है जहाँ ज्ञान का साक्षात्कार करनेवाले बुद्ध कर्मरहित-कर्मक्षेत्र जो शून्य-क्षेत्र है, से एकरूप होकर स्वयं प्रकाश और धुन को प्रकट करते हैं। हम एक निपुण नर्तक की तुलना द्वारा इस चरमावस्था को भलीभाँति समझ सकते हैं जो नृत्य के साथ एकात्म होकर नृत्य बन जाता है – जहाँ वह नृत्य ही है। दूसरे शब्दों में, अभ्यासी जिस पर ध्यान एकाग्र करता है उसी में लीन हो जाता है और उसके साथ एकरूप हो जाता है। इस प्रकार द्वैतभाव समाप्त हो जाता है। बुद्ध मार्ग पर दृढ़ रहकर ही अभ्यासी बुद्ध के समान उसी नृत्य में लीन हो जाता है और अन्ततः अपने भीतर बुद्ध का साक्षात्कार करके उन्हीं का रूप हो जाता है। बुद्ध-नृत्य से एकाकार होकर जब वह बुद्ध रूप में परिवर्तित होने लगता है तब उसके बुद्ध स्वरूप से इस परिवर्तन के अनुकूल प्रकाश और शब्द निकलते हैं, जैसा कि महायान के *महारत्नकूट सूत्र* में कहा गया है:

* किन्नर और गंधर्व दिव्य लोकों के निवासी हैं, ऐसा कहा जाता है कि स्वर्ग के सभी पक्षियों में से सबसे अधिक मधुर स्वर कलविंक पक्षी का ही होता है; यक्ष पुण्यशील आत्मा के परिचर होते हैं।

शून्यता और निष्कर्मता के ज्ञान द्वारा
मैं परस्पर मिश्रित प्रकाश उत्पन्न करता हूँ।

बाहरी जड़ पदार्थ रिक्त, आपाभाव से रहित,
निष्क्रिय और विचारशून्य हैं,
फिर भी वे विभिन्न रूपों को
प्रकट कर सकते हैं।

यह शरीर (स्वभाव से) रिक्त,
आपाभाव से रहित और निष्क्रिय है,
फिर भी यह अनेक ध्वनियाँ
प्रकट कर सकता है।[599]

सच्चे बुद्ध को केवल मनुष्य-शरीर में ही पाया जा सकता है। यही बात ऊपर दी गयी पंक्तियों में अभिव्यक्त की गयी है। परस्पर मिश्रित ज्योतियों, विभिन्न रूपों और अनेक ध्वनियों का प्रकट होना, ये सब अभ्यासियों की अपनी आध्यात्मिक यात्रा के दौरान होनेवाली आन्तरिक अनुभूतियाँ हैं जो उन्हें बुद्ध की शरण में आने पर होती हैं तथा उन्हें भ्रमों से मुक्त करती हैं।

सुखावती व्यूह (प्योर लैंड सूत्र) में यह कहा जाता है कि वे अभ्यासी जो अपना आध्यात्मिक अभ्यास अत्यन्त दृढ़ता से करते हुए आन्तरिक मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, वे अन्ततः सुखावती पहुँच जाते हैं जो परम-आनन्द का लोक है, जहाँ से वापस नहीं लौटना पड़ता, और जहाँ से निर्वाण की प्राप्ति की जा सकती है।

सुखावती-व्यूह में इस लोक के आनन्द और सौंदर्य के साथ-साथ यहाँ की सुरीली एवं मुग्ध कर देनेवाली ध्वनि और दिव्य-प्रकाश को भी बताया गया है:

हे आनन्द! सुखावती नामक उस लोक में भिन्न-भिन्न प्रकार की नदियाँ बहती हैं... जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की मधुर सुगन्धिवाला जल प्रवाहित होता है, जिनमें अनेकों रत्नों से सुसज्जित पुष्पों के गुच्छे बहते हैं और जो मधुर ध्वनियों से गुंजायमान हैं... जिनकी ध्वनि गहन, गूढ़, अज्ञेय है; स्पष्ट, कर्णप्रिय, हृदय को छू लेनेवाली, प्रिय, मधुर और आनन्ददायक है, जो कभी ऊबानेवाली और अप्रिय लगनेवाली नहीं है (और सदा) इसे सुनना सुखद लगता है...

ऐसी ध्वनियाँ सुनने के बाद प्रत्येक साधक को परम आनन्द और सुख का अनुभव होता है और वह उपराम, निर्विकार, शान्त, स्थिर, विश्रान्त, धर्मनिष्ठ और अनेक सद्गुणों से सम्पन्न हो जाता है जो उसे पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति कराते हैं...

ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने पर... जब वे स्थिरचित्त हो जाते हैं तो सागर के समान हो जाते हैं; उनकी प्रज्ञा के प्रकाश के सामने, उनके निर्मल, उदात्त, पवित्र और कल्याणमय ज्ञान के प्रकाश के सामने सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश फीका पड़ जाता है।[600]

अवतंसक सूत्र में बुद्ध के 'ध्वनि-सागर' में प्रवेश करने के आनन्द के विषय में इस प्रकार चर्चा की गयी है:

बुद्ध-महात्माओं की दूर-दूर तक
गूँजनेवाली ध्वनि
पूरे ब्रह्माण्ड में सुनाई देती है।
प्रज्ञावान् प्राणी इसे समझकर
ध्वनि के सागर में प्रवेश करते हैं।[601]

सद्धर्म पुण्डरीक (लोटस सूत्र) में भी इस गूढ़ ध्वनि का वर्णन किया गया है:

अब मैं बुद्ध की मधुर और कोमल वाणी सुनता हूँ,
जो गम्भीर, दूर-दूर तक गुंजायमान, अत्यन्त सूक्ष्म और अद्भुत है,
जो पावन धर्म का उपदेश देनेवाली, उसकी व्याख्या करनेवाली है,
और इसे सुनकर मेरा मन अपार आनन्द से भर गया है,
मेरे सभी संशय और शोक सदा के लिए मिट गये हैं
मैं सच्चे ज्ञान में स्थिर होकर विश्राम पाऊँगा।[602]

हमने इस अध्याय में देखा है कि बौद्धधर्म के बहुत-से प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ यह उपदेश देते हैं कि आन्तरिक धुन और ज्योति ही वह लुभावनी और आन्तरिक उत्थान करानेवाली बुद्ध-प्रकृति है जो हर एक के भीतर निवास करती है और वास्तव में वही हमारी अपनी असली प्रकृति है। पुनः सोयन शाकू के शब्दों में:

> *सत्य केवल एक ही है और हम उसे किसी भी नाम से पुकार सकते हैं... आप उसे ईश्वर, विवेक-शक्ति, जीवन-शक्ति, तथता या प्रेम – किसी भी नाम से पुकार सकते हैं... परन्तु बौद्धधर्म ने उसे 'शब्द' कहा है... और यह घोषणा की है कि सभी पदार्थ उस एक शब्द से ही बने हैं जिसमें प्रत्येक बेमेल स्वर का सदा ही समावेश हो जाता है।*[603]

इसी अकथनीय शब्द तथा प्रकाश के अनुभव के सहारे अभ्यासी नयी आशा और उत्साह के साथ आन्तरिक मार्ग पर आगे बढ़ते हैं और अन्ततः निर्वाण-प्राप्ति के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

10

हठयोग, कर्मकाण्ड और जाति व्यवस्था की निस्सारता

एक व्यावहारिक उपदेशक होने के कारण महात्मा बुद्ध ने उन लोगों की विशेष परिस्थिति को ध्यान में रखा जिन्हें उन्होंने उपदेश दिया। महात्मा बुद्ध ने लोगों को उस भाषा में उपदेश दिया जिसे वे समझ सकें और ऐसी तुलनाएँ दीं जिन्हें समझना उनके लिए आसान था। उन्होंने श्रमणों और ब्राह्मणों को, विद्वानों और गृहस्थों को उनकी विशेष अवस्था के अनुरूप उपदेश दिया। उपदेश देते समय उन्होंने विशेष रूप से हठयोग, कर्मकाण्ड और जाति-भेद जैसी सामाजिक परम्पराओं की चर्चा की जो उस समय व्यापक रूप से जनसाधारण में प्रचलित थीं और निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग में बाधा थीं।

हठयोग और कर्मकाण्ड की निस्सारता

बौद्धधर्म के अनुसार अष्टांगिक मार्ग ही दुःखों की समाप्ति और निर्वाण-पद की प्राप्ति कराता है। यह एक ऐसा मार्ग है जो खोखली धार्मिक क्रियाओं (कर्मकाण्ड) तथा विषय-भोग और हठयोग की अतिशयता का निराकरण करता है। इसी कारण बौद्धधर्म को प्रायः मध्यमा प्रतिपदा

अथवा मध्यम-मार्ग कहा जाता है। बुद्ध के द्वारा दिया गया सर्वप्रथम व्याख्यान *संयुत्त-निकाय* के *धम्मचक्कपवत्तन सुत्त* में निहित है। इसमें महात्मा बुद्ध स्पष्ट रूप से कहते हैं:

> *हे भिक्षुओं! इन दो अतिवादी मार्गों का अनुसरण नहीं करना चाहिए। ये दो क्या हैं? इन्द्रिय विषय-भोगों में आसक्त होना जो अधम, नीच, अभद्र, पापपूर्ण और निरर्थक कार्य है या हठयोग द्वारा स्वयं को पीड़ा पहुँचाना जो कष्टदायक, पापपूर्ण और अर्थहीन है। तथागत ने इन दोनों अतिवादों से परे मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया है जिसका उद्देश्य उस आन्तरिक प्रज्ञा और ज्ञान को प्राप्त करना है जो शान्ति, आत्मबोध, बुद्धत्व या निर्वाण तक पहुँचाता है। हे भिक्षुओं! यह मध्यम-मार्ग कौन-सा है? यह वही आर्य अष्टांगिक-मार्ग है।*[604]

विषय-भोग और तप के बीच एक मध्यम-मार्ग का समर्थन करते हुए महात्मा बुद्ध ने ऐसे अभ्यासों की चर्चा की है जिनके द्वारा आन्तरिक साधना अर्थात् अपने ध्यान को अन्तर में एकाग्र किया जाता है। बौद्धधर्म बहिर्मुखी क्रियाओं जैसे हठयोग, कर्मकाण्ड और धार्मिक क्रियाओं के बाहरी प्रदर्शन का समर्थन नहीं करता, क्योंकि महत्त्वपूर्ण कार्य तो मन पर आन्तरिक नियन्त्रण करना है। *धम्मपद* में महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *न तो नग्न होकर घूमने से,*
> *न ही जटाएँ रखने से,*
> *न शरीर में कीचड़ लपेटने से,*
> *न उपवास करने या भूमि पर सोने से,*
> *न ही शरीर पर राख मलने से,*
> *और न ही लम्बे समय तक पलथी लगाकर बैठने से*

> *कोई व्यक्ति निर्मल हो सकता है*
> *यदि उसकी इच्छाओं का अन्त नहीं हुआ है।*[605]

इसी प्रकार *मज्झिम-निकाय* में महात्मा बुद्ध यह घोषणा करते हैं:

> *हे भिक्षुओं! मैं यह नहीं कहता कि श्रमण होने का अर्थ केवल एक बाहरी चोगा पहनना है अथवा... नग्न रहना, अथवा... शरीर पर धूल या राख मलना, अथवा... पानी के अन्दर खड़े रहना, अथवा... किसी वृक्ष के मूल के पास रहना, अथवा... सदैव खुले में रहना, अथवा... हमेशा खड़े रहना, अथवा... कुछ दिनों तक उपवास रखने के बाद भोजन करना, अथवा... सम्मोहन आदि जादुई प्रभाव डालने के लिए मन्त्र अभ्यास करना अथवा... जटाएँ रखना है।*[606]

महात्मा बुद्ध ऐसे कठोर अभ्यासों का निराकरण करते हैं, क्योंकि इन्हें करने से फैला हुआ अशान्त मन शान्त नहीं होता। वे कहते हैं, "जंगलों में जाकर तपस्या करने से और कन्द-मूल, फल आदि पर जीवन यापन करने से सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं होता।"[607]

महात्मा बुद्ध के समय भारत में यह प्रचलन था कि पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए घर-गृहस्थी का परित्याग करना और विशेष प्रकार का वस्त्र पहनना पहला क़दम है। पालि त्रिपिटकों में ऐसे उदाहरण अकसर मिलते हैं जिनके अनुसार सैकड़ों गृहत्यागी साधु अपने-अपने गुरुओं के संरक्षण में पवित्र जीवन व्यतीत करते बताये गये हैं। इसी परम्परा का पालन करते हुए सिद्धार्थ गौतम ने राजकुमार के रूप में अपना राजसी वैभव त्यागकर एक संन्यासी का भेष धारण किया और आन्तरिक अभ्यास की विधि सीखने के उद्देश्य से वे एक सच्चे गुरु की खोज में निकल पड़े। निर्वाण अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् भी वे पीले वस्त्र धारण किए हुए एक संन्यासी का जीवन व्यतीत करते रहे। परन्तु वे

यह बात स्पष्ट करते हैं कि घर-गृहस्थी त्यागकर एक संन्यासी बनने से अथवा एक विशेष रंग का पहनावा पहनने से ही कोई व्यक्ति सही अर्थों में आध्यात्मिक नहीं बन जाता। महात्मा बुद्ध उन भिक्षुओं के व्यवहार की भर्त्सना करते हैं जो बाहर से तो संसार त्यागने का दिखावा करते हैं, परन्तु वास्तव में एक निर्मल जीवन व्यतीत नहीं करते। वे स्पष्ट करते हैं कि एक भिक्षु का बाहरी रंग-रूप – सिर मुँडवाना, पीला चोगा पहनना, भिक्षा पात्र लेकर भिक्षा माँगने जाना – एक सच्चे संन्यासी के लक्षण नहीं हैं। सच्चा संन्यासी वही है जिसने मन को वश में कर लिया है:

जो असयंमी होता है
और असत्य बोलता है
वह केवल सिर मुँडवाने से ही
संन्यासी नहीं बन जाता।
कोई व्यक्ति संन्यासी कैसे हो सकता है
जिसका मन इच्छाओं तथा
लोभ से भरा हुआ है?

जो छोटे-बड़े सभी प्रकार के
पापों को शमन (शान्त) कर लेता है
वही श्रमन (संन्यासी) कहलाता है,
क्योंकि उसने पापों पर विजय प्राप्त कर ली है।

दूसरों से भिक्षा माँगने से ही
कोई भिक्षु (भिक्खु) नहीं बन जाता।
बुरे कर्मों को अपनाकर कोई भिक्षु नहीं बन सकता।

जो गुण-अवगुण को छोड़कर
निर्मल हो गया है,

और जो बुद्धत्व को प्राप्त कर संसार में विहार करता है
वही वास्तव में भिक्षु कहलाता है।[608]

वे आगे कहते हैं:

पीले वस्त्र पहननेवाले बहुत-से ऐसे हैं
जो असंयमी और पापी हैं
ऐसे पापी लोग अपने पापों के कारण
नरक में जन्म पाते हैं।[609]

ऐसे पाखण्डियों की चर्चा करते हुए महात्मा बुद्ध कहते हैं:

हे भिक्षुओं! जिस प्रकार तेज़ धारवाला और विषैला मतज नामक दोधारी हथियार (तलवार) एक कपड़े में लपेटकर और ढककर रखा गया हो, मैं कहता हूँ कि ऐसे भिक्षु का जीवन भी एक संन्यासी के रूप में उसी प्रकार का है।[610]

महात्मा बुद्ध भिक्षुओं को उपदेश देते हैं कि वे उपने आदर्शों के अनुरूप जीवन व्यतीत करें और गृह-त्याग का उद्देश्य पूरा करें। यदि वे ऐसा करेंगे तो वे स्वयं भी निर्मल हो जायेंगे और भिक्षा देनेवालों का भी भला करेंगे। महात्मा बुद्ध इस सचाई को स्वीकार करते हैं कि भिक्षा माँगना जीवन-यापन करने का सबसे निकृष्ट साधन है, परन्तु वे बताते हैं कि इसे सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त करने में सहायक माना जाता है। वे चेतावनी देते हैं कि जो संन्यासी के रूप में अपना जीवन सार्थक बनाने में असफल होते हैं और अपना आध्यात्मिक अभ्यास करने में लापरवाह और आलसी हैं, वे वास्तव में किसी काम के नहीं हैं:

हे भिक्षुओं! भिक्षा माँगना जीविका कमाने का सबसे निकृष्ट साधन है। हे भिक्षुओं! इस संसार में ये शब्द सुनना अभिशाप

जैसा है: 'ऐ टुकड़े इकट्ठे करनेवाले! हाथ में भिक्षा पात्र लिए तुम यूँ ही घूमते फिरते हो।' परन्तु हे भिक्षुओं! संघ के सदस्य किसी उद्देश्य से ही इस जीवन-शैली को अपनाते हैं ताकि वे इस सम्पूर्ण दुखों के ढेर के विनाश की प्राप्ति कर सकें। इसी कारण हे भिक्षुओं! संघ का सदस्य संन्यासी का जीवन अपनाता है। परन्तु यदि वह लोभी हो जाता है, इन्द्रियों के सुख में बुरी तरह फँसा रहता है, भ्रष्ट चित्त वाला, खोटे संकल्प वाला, अविवेकी, नासमझ, अशान्त, चंचल मन वाला और अनियन्त्रित इन्द्रियों वाला बन जाता है, तब उसे मैं चिता की अग्नि से निकली हुई एक अधजली लकड़ी के समान देखता हूँ जो दोनों सिरों से जल रही है और जिसका मध्य भाग विष्टा से सना हुआ है। वह न गाँव में और न वन में ही ईंधन के काम आती है; क्योंकि ऐसा व्यक्ति घर-गृहस्थी के सुखों से भी वंचित रहता है और इधर संन्यासी जीवन का उद्देश्य भी पूरा नहीं कर पाता।[611]

वे घोषणा करते हैं:

दुराचारी तथा असंयमी रहते हुए
देश का भिक्षा-अन्न खाने से
कहीं अच्छा है
अग्नि की लपट के समान
एक दहकते हुए लाल लोहे के गोले को निगल लेना।[612]

महात्मा बुद्ध कहते हैं कि एक शिष्य का खान-पान और पोशाक सादा और व्यावहारिक होने चाहिएँ जो शरीर को स्वस्थ और सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक हैं, ताकि वह अभ्यास के लिए अपना जीवन अर्पित कर सके:

एक विवेकशील शिष्य सावधानी से सोच-समझकर भोजन ग्रहण करता है, स्वाद के लिए नहीं, उसका पहनावा भी शृंगार के लिए अथवा सजने-सँवरने के लिए नहीं होता। अत: खान-पान और पोशाक केवल इसलिए हैं ताकि वह अपने शरीर को स्वस्थ और सकुशल रख सके और इसे पवित्र जीवन जीने का साधन बना सके।[613]

मैंने जो भी वस्त्र निर्धारित किये हैं, वे केवल सर्दी, गर्मी, मधुमक्खियों, मच्छरों, हवा, लू, साँप-बिच्छु आदि से बचने और नग्नता को ढकने के लिए हैं।[614]

क्या गृहस्थ और संन्यासी दोनों सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं? महात्मा बुद्ध बड़े निष्पक्ष रूप से इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। सुभ (शुभ) नामक एक ब्राह्मण विद्यार्थी ने महात्मा बुद्ध से पूछा:

हे गौतम! ब्राह्मण इस प्रकार कहते हैं: 'एक गृहस्थ ही श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करने के योग्य है, संन्यासी नहीं।' पूजनीय गौतम का इस विषय में क्या विचार है?[615]

महात्मा बुद्ध उत्तर देते हैं:

हे वत्स! मैं पूरा विश्लेषण करने के बाद ही कुछ कहता हूँ, मैं एकतरफ़ा बात नहीं करता। मैं किसी गृहस्थ अथवा किसी संन्यासी द्वारा अपनाये गये अभ्यास के ग़लत तरीक़े की प्रशंसा नहीं करता; क्योंकि चाहे कोई गृहस्थ हो या संन्यासी, जिसने अभ्यास का ग़लत तरीक़ा अपनाया है, वह अभ्यास की ग़लत विधि द्वारा सच्चे मार्ग 'धम्म' का, जो सर्वकल्याणमय है, पालन नहीं

कर रहा है। चाहे कोई गृहस्थ हो या संन्यासी, मैं उसके द्वारा अपनायी गयी अभ्यास की उचित विधि की प्रशंसा करता हूँ, क्योंकि कोई भी गृहस्थ या संन्यासी जो अभ्यास की उचित विधि अपनाता है, वह अभ्यास की उचित विधि द्वारा सच्चे मार्ग 'धम्म' का जो सर्वकल्याणमय है, पालन कर रहा है।[616]

वैशाली के एक गृहस्थ विमलकीर्ति ने कई प्रतिष्ठित संन्यासियों के दोषों को प्रकट करके इस विश्वास को भी झूठा साबित कर दिया कि एक गृहस्थ एक संन्यासी की तरह उच्च आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त करने में असमर्थ होता है।[617]

क्योंकि साधकों के लिए मन को वश में करना और समाधि की गहन अवस्था प्राप्त करना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए उनके गुरु उनके बाहरी पहनावे की ओर कोई ध्यान नहीं देते। हाँ, वे यह अवश्य चाहेंगे कि उनके अनुयायी शालीनता और मर्यादा का ध्यान रखते हुए सामाजिक नियमों के अनुकूल ही कपड़े पहनें। परन्तु वे उन पाखण्डियों को कोई सम्मान नहीं देते जो पहनावे से तो संन्यासी होने का दिखावा करते हैं, किन्तु अन्दर से भ्रष्ट और धोखेबाज़ हैं। महात्मा बुद्ध धार्मिकता के इस पाखण्डपूर्ण प्रदर्शन की भर्त्सना करते हैं।

महात्मा बुद्ध बाहरी कर्मकाण्डों को भी व्यर्थ और निष्फल मानते हैं। *मज्झिम निकाय* में महात्मा बुद्ध घोषणा करते हैं कि तथाकथित पवित्र नदियों में स्नान करना व्यर्थ है। सुन्दरिक भारद्वाज के यह पूछने पर कि क्या पाप धोने के लिए महात्मा बुद्ध पवित्र बाहुका नदी में स्नान करते हैं, तो आपने अपने उत्तर में कई और पवित्र नदियों की भी चर्चा करते हुए कहा:

बाहुका में, और अधिक्का में
गया में और सुन्द्रिका में
सरस्वती और प्रयाग में

और फिर बाहुमति नदी में
कोई मूर्ख भले ही प्रतिदिन स्नान करे
परन्तु इससे वह अपने पापों की मैल नहीं धो सकता।

सुन्दरिका क्या कर सकती है?
प्रयाग क्या कर सकता है? और बाहुका नदी क्या कर सकती है?
बुरे कर्मों में लिप्त एक पापी के
पापों की मैल ये नहीं धो सकते।

निर्मल चित्तवालों के लिए हर दिन शुभ है,
निर्मल चित्तवालों के लिए हर दिन पावन है,
निर्मल चित्तवाले सदाचारी व्यक्ति के लिए
सभी पावन व्रत सदा सम्पूर्ण हैं।

हे ब्राह्मण! यहाँ अपने भीतर स्नान करो
और सभी प्राणियों की रक्षा करो।[618]

महात्मा बुद्ध अग्नि-हवन की धार्मिक क्रियाओं को भी व्यर्थ मानते हैं:

मैं यज्ञवेदी पर कोई समिधा इकट्ठी नहीं करता। मैं केवल अपने भीतर ज्योति प्रज्वलित करता हूँ। यह ज्योति सदैव प्रकाशमान और तेजोमय है। मैं एक अर्हन्त (मुक्त आत्मा) हूँ और सदा निर्मल और पवित्र जीवन व्यतीत करता हूँ।[619]

पैट्रुल रिनपोचे कहते हैं:

सम्पूर्ण 'बोधिचित्त' की प्राप्ति आन्तरिक अभ्यास द्वारा होती है, यह धार्मिक कर्मकाण्ड पर निर्भर नहीं है।[620]

अपने 'दोहाकोश' (राजकीय गीत) में सरह पवित्र स्तुति-पाठ, अग्नि पूजा और शरीर पर राख मलने की आलोचना इस प्रकार करते हैं:

जो ब्राह्मण सत्य को नहीं जानते
वे व्यर्थ ही चार वेदों का पाठ करते हैं।

मिट्टी, पानी और कुशा से वे
सब तैयारी करते हैं,
और घर में बैठे हुए अग्नि प्रज्वलित करते हैं,
और व्यर्थ की आहुतियाँ देते हुए
वे तीखे धुँए से अपनी आँखों को कष्ट देते हैं।

ऐसे गुरु अपनी देह पर राख मलते हैं,
और अपने सिर पर जटाएँ रखते हैं,
घर में बैठे ही वे दीपक जलाते हैं,
और एक कोने में बैठकर घण्टियाँ बजाते हैं।[621]

केवल कर्मकाण्ड से हमारा ध्यान बहिर्मुखी हो जाता है, जबकि महात्मा बुद्ध चाहते हैं कि हमारा ध्यान अन्तर्मुखी हो। तीर्थ-यात्राएँ करना और तथाकथित पवित्र नदियों में स्नान करना व्यर्थ है, क्योंकि मनुष्य को निर्मलता तो केवल अपने भीतर डुबकी लगाने पर ही मिल सकती है:

यहाँ (शरीर के भीतर) पवित्र यमुना है
और यहीं गंगा नदी है,
यहीं बनारस और प्रयाग हैं,
यहीं सूर्य और चन्द्रमा भी हैं।

मैं भ्रमण करते हुए कई देवस्थलों
और अन्य तीर्थस्थानों पर गया हूँ,
परन्तु मैंने अपने शरीर के समान
कोई दूसरा सुखद देवस्थल नहीं देखा है।[622]

ज़ेन गुरु बस्सुई कहते हैं:

साधारण लोग जो अज्ञानतावश अपने मन से बाहर धर्म की खोज करते हैं और यह नहीं जानते कि उनकी अपनी आत्मा स्वयं ही वास्तविक बुद्ध है, वे उन भ्रमित बच्चों के समान हैं जो अपने पिता को भूल गये हैं।[623]

यहाँ तक कि अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होने पर भी साधक को निर्देश दिया जाता है कि वह अपनी शक्तियों का प्रदर्शन न करे, क्योंकि अपनी उपलब्धियों की चर्चा करने से अहंकार बढ़ जायेगा जिससे साधक का पतन होगा। देवदत्त का उदाहरण इस नियम को स्पष्टत: प्रकट करता है। देवदत्त महात्मा बुद्ध का चचेरा भाई और उनका एक कुशल शिष्य था। उसने अभ्यास द्वारा कुछ चमत्कारी शक्तियाँ प्राप्त कर ली थीं, परन्तु उसे मान-सम्मान और प्रतिष्ठा की लालसा थी। साँपों की करधनी पहने हुए एक छोटे बालक के रूप में वह राजकुमार अजातशत्रु की गोद में प्रकट हुआ जिससे राजकुमार भयभीत हो उठा। इस पर देवदत्त उसके सामने एक भिक्षु के रूप में उपस्थित हुआ और राजकुमार के चौंकने का कारण पूछा। राजकुमार, देवदत्त की महान् शक्ति से आश्चर्यचकित रह गया। देवदत्त ने और भी कई चमत्कारपूर्ण कृत्यों से राजकुमार का विश्वास जीत लिया। महात्मा बुद्ध के बहुत-से भिक्षु और अनुयायी भी देवदत्त की प्रशंसा करने लगे। कुछ भिक्षुओं ने महात्मा बुद्ध को इसकी सूचना दी जिस पर महात्मा बुद्ध ने कहा:

> *हे भिक्षुओं! देवदत्त की उपलब्धियों, मान-सम्मान और प्रसिद्धि से ईर्ष्या मत करो... देवदत्त की आत्मिक शक्तियों के क्षीण होने की सम्भावना है, बढ़ने की नहीं।*[624]

देवदत्त ने अपनी सारी शक्तियाँ खो दीं। अतः गुरु अपने शिष्यों के लिए इस बात पर विशेष रूप से बल देते हुए कहते हैं कि उन्हें अपनी आन्तरिक उपलब्धियों और आध्यात्मिक अनुभवों को अपने तक ही रखना चाहिए। पाबोंग्का रिनपोचे दृढ़तापूर्वक कहते हैं:

> *आपको केवल अपनी अन्तर्दृष्टि विकसित करनी चाहिए और अपने मन की अवस्था को उन्नत बनाना चाहिए। किसी भी प्रकार का बाहरी दिखावा न करो, न ही किसी को यह आभास होने दो कि आपने बहुत अधिक उन्नति कर ली है... यदि आप अपनी उपलब्धियों का विज्ञापन करेंगे तो आपके मार्ग में कई बाधाएँ आ जायेंगी। यह ऐसा ही है जैसे अपने चिन्तामणि रत्न के विषय में दूसरों के सामने डींग मारना।*[625]

जाति-भेद की निस्सारता

जिस भारतीय समाज में रहकर महात्मा बुद्ध उपदेश देते रहे, वह समाज उस समय इन चार वर्गों में बँटा हुआ था: ब्राह्मण (पुरोहित वर्ग), क्षत्रिय (शासक और योद्धा), वैश्य (कृषि तथा व्यापार करनेवाला वर्ग) और शूद्र (अपने हाथों से दूसरों की सेवा करनेवाला)। हो सकता है कि आरम्भ में चार वर्गों का यह विभाजन व्यवसाय पर आधारित रहा हो, परन्तु महात्मा बुद्ध के समय तक यह वंशानुगत हो गया था। समाज के इसी वर्गीकरण का महात्मा बुद्ध ने खण्डन किया और इसे दोषयुक्त बताया। बाद में ये वर्ग और भी बहुत से उपवर्गों में बँट गये जिन्हें आम तौर पर 'जातियाँ' कहा जाता है और चूँकि इन सभी जातियों को वंशानुगत ही माना जाता है, अतः महात्मा बुद्ध द्वारा की गयी आलोचना

उनके समय में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था तथा उसके बाद में विकसित होनेवाली जाति-व्यवस्था – दोनों ही के लिए लागू है।

महात्मा बुद्ध स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि सभी मनुष्य शारीरिक बनावट की दृष्टि से एक समान हैं और वे समाज के (वंशानुगत) विभाजन की परम्परागत धारणा से पूरी तरह असहमत हैं। महात्मा बुद्ध ने यह उपदेश दिया कि सभी में बुद्ध बनने की क्षमता है।

मज्झिम-निकाय में महात्मा बुद्ध विस्तार से समझाते हैं कि सम्पूर्ण मनुष्य-जाति में कोई क़िस्म नहीं है, जैसे कि वनस्पति और पशु-जगत् में ये अलग-अलग क़िस्में पायी जाती हैं।[626] लोगों को जिस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँटा गया है, वह वर्गीकरण केवल नाममात्र का और बनावटी है। *खुद्दक निकाय* के एक ग्रन्थ, *सुत्त निपात*, में कहा गया है:

> *अन्य क़िस्मों के समान इनमें (मनुष्य में) न तो बालों, सिर, कानों, आँखों, मुँह, नाक, होंठ, भौहों से सम्बन्धित... और न ही उनके हाथों, पाँवों, उँगलियों, नखों, पिण्डलियों, जाँघों, रँग अथवा आवाज़ से सम्बन्धित ऐसे कोई लक्षण हैं जो उनके अलग क़िस्म होने के परिचायक हों। अन्य देहधारी प्राणियों में ऐसी भिन्नता है, परन्तु मनुष्यों में ऐसी कोई भिन्नता नहीं है; मनुष्यों में जो भिन्नता है, वह केवल नाममात्र की ही है।*[627]

> *जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं बनता और न जन्म से कोई अब्राह्मण बनता है। कर्म से ही कोई ब्राह्मण बनता है और कर्म से ही कोई अब्राह्मण बनता है। कर्म से ही कोई किसान बनता है और कर्म से ही कोई कारीगर बनता है। कर्म से ही कोई व्यापारी बनता है और कर्म से ही कोई सेवक बनता है।*[628]

वंशानुगत चले आ रहे सभी तथाकथित आधारभूत भेदभावों को बौद्धधर्म पूरी तरह नकार देता है। समाज का चार भागों में वर्गीकरण

वास्तव में न तो मूलभूत है और न ही ईश्वर द्वारा बनाया गया है। मनुष्यों में मूलरूप से जन्मजात कोई भिन्नता नहीं होती, परन्तु बाद में उनके कर्मों और उनके द्वारा स्वयं चुने हुए व्यवसायों के आधार पर उनमें भेद किया जा सकता है। ये भिन्नताएँ किसी भी प्रकार से ईश्वर की बनायी नहीं हैं, बल्कि केवल परम्परा (समञ्ञा) का ही परिणाम हैं।

परम्परा से निश्चित की गयी श्रेणीबद्ध सामाजिक व्यवस्था की विचारधारा के साथ महात्मा बुद्ध कोई समझौता नहीं करते। वे न केवल जाति और धर्म से परे सभी के लिए बुद्धत्व की प्राप्ति का द्वार खोल देते हैं, बल्कि मूल रूप से सबकी समानता पर भी बहुत अधिक बल देते हैं। इसके साथ ही वे जाति-भेद को निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग में बाधा मानते हैं। उस समय के ब्राह्मण-रूढ़िवाद को चुनौती देना महात्मा बुद्ध द्वारा लाया जानेवाला एक महान् परिवर्तन था और ब्राह्मण धर्मगुरु यह जानकर बड़े विचलित हुए कि "तपस्वी गौतम सभी चारों वर्गों के पवित्र होने की घोषणा करता है।"[629] एक ब्राह्मण के साथ वादविवाद के सिलसिले में महात्मा बुद्ध ने पूछा:

> *हे ब्राह्मण! तुम क्या समझते हो कि साबुन रगड़कर, किसी नदी में स्नान करने से किसी ब्राह्मण की ही मैल साफ़ होती है, किसी क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की नहीं?*[630]

ब्राह्मण सहज ही उत्तर देता है कि ऐसा नहीं है, जिस पर महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *हे ब्राह्मण! इसी प्रकार किसी क्षत्रिय-परिवार, ब्राह्मण-परिवार, वैश्य-परिवार और शूद्र-परिवार का भी कोई व्यक्ति तथागत द्वारा बतायी गयी शिक्षा और साधना को अपनाकर इस पवित्र धर्म सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।*[631]

महात्मा बुद्ध के समानता के उपदेश के बारे में कोसल के राजा विशेष रूप से प्रश्न करते हैं:

> *हे पूज्यवर! ये जो चार जातियाँ हैं – क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र – मान लें कि इन्हें मोक्ष प्राप्त करने के कठिन अभ्यास की पाँचों विधियाँ प्राप्त हैं। इस स्थिति में हे पूज्यवर! क्या इनमें कोई भेद या भिन्नता होगी?*[632]

अग्नि की जिस उपमा का प्रयोग महात्मा बुद्ध प्राय: करते हैं,[633] उसी का प्रयोग करते हुए वे उत्तर देते हैं:

> *हे राजन्! यहाँ भी मैं यह बात स्वीकार नहीं करता कि उनकी मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भेदभाव है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति सूखे घासपात से आग जलाता है, दूसरा सूखे शाल की लकड़ी से, तीसरा आम के पेड़ की सूखी लकड़ी से और चौथा अंजीर की सूखी लकड़ी से आग जलाता है; क्या इन अलग-अलग प्रकार की लकड़ियों से जलायी गयी अलग-अलग अग्नियों की लपटों, उनके रंगों और उनके ताप में कोई भिन्नता दिखाई देती है?*[634]

राजा सहज रूप से उत्तर देता है कि उनमें कोई भिन्नता नहीं होगी। अन्त में महात्मा बुद्ध कहते हैं:

> *इसी तरह हे राजन्! बड़े प्रयत्न से प्रज्वलित की गयी और कठिन प्रयासों से पोषित आन्तरिक ज्योति भी ऐसी ही है। मैं यह घोषणा करता हूँ कि उनकी मुक्ति के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार से कोई भिन्नता नहीं है।*[635]

सरह के अनुसार ऊँची और निम्न जातियों में—ब्राह्मणों और शूद्रों में—भेदभाव करना असंगत है।

जब मन शान्त हो जाता है,
और देह के बन्धनों का नाश हो जाता है,
उस समय केवल आत्मा की सुगन्धि ही प्रवाहित होती है,
तब न कोई अछूत रहता है न ब्राह्मण।[636]

नैतिक नियमों के सामने सभी लोग एक समान खड़े होते हैं। वहाँ जाति-भेद के लिए कोई स्थान नहीं है। वहाँ दण्ड या पुरस्कार, अच्छे अथवा बुरे कर्मों के अनुसार निर्धारित किया जाता है, न कि जाति के अनुसार। मृत्यु के पश्चात् लोगों को स्वर्ग या नरक की प्राप्ति अपने-अपने अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार ही होती है।[637] प्रत्येक व्यक्ति नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति करने की योग्यता रखता है और प्रत्येक व्यक्ति "अपने भीतर सभी प्राणियों के प्रति प्रेमभाव विकसित कर सकता है जो घृणा तथा दुर्भावना से रहित हो।"[638] मनुष्य के वास्तविक पद को पहचानने के लिए एक ही मापदण्ड है और वह है नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का मापदण्ड। इस उन्नति के द्वार हर किसी के लिए समान रूप से खुले हैं और इस प्रकार मनुष्य द्वारा बनाये गये जाति-भेद की यहाँ कोई वास्तविकता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति कभी भी अपने आप में सुधार ला सकता है।

महात्मा बुद्ध जाति अथवा वंशगत भेदभाव को आध्यात्मिक मार्ग में एक बाधा मानते हुए कहते हैं:

हे अम्बट्ठ! जो भी व्यक्ति जाति-भेद अथवा वंश-भेद से*
बँधा हुआ है... वह सर्वोच्च मुक्ति के मार्ग से बहुत परे है।

* यहाँ महात्मा बुद्ध एक ब्राह्मण युवक को उसके वंश के नाम से सम्बोधित करते हैं जिसके सदस्य अपने वंश को उच्चवर्गीय और कुलीन मानते हैं।

हे अम्बट्ठ! जाति-भेद अथवा वंश-भेद के बन्धनों को छोड़ने
पर ही सर्वोच्च निर्वाण अवस्था प्राप्त की जा सकती है।[639]

फिर भी बहुत-से लोग अभी भी जाति-भेद को त्यागने में संकोच करते हैं। तिब्बती बौद्धधर्म के धर्मग्रन्थ *द ओशन ऑफ़ डीलाइट फ़ॉर द वाइज़ (The Ocean of Delight for the Wise)* में से नीचे दिए गये उद्धरण में लोगों को अपने विवेक का प्रयोग करने के लिए चिताया है:

बुरी प्रथा को त्याग दो।
भले ही वह आपके पूर्वजों के समय से चली आ रही हो,
अच्छी प्रथा को अपनाओ,
भले ही यह आपके शत्रुओं द्वारा स्थापित की गयी हो,
विष चाहे माता ही क्यों न दे
उसे कभी नहीं लेना चाहिए,
परन्तु स्वर्ण (आध्यात्मिक धन), चाहे शत्रु से ही क्यों न मिले,
वह स्वीकार करने योग्य है।[640]

चूँकि वर्ण-व्यवस्था और जाति-भेद को उचित ठहराने के लिए कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है, अतः बौद्धधर्म इन प्राचीन रूढ़िवादी प्रथाओं को बिना किसी रोक-टोक के नकार देता है और ऐसा उपदेश देता है जिसमें सभी लोगों की एकता और समानता की शिक्षा दी गयी है।

उपसंहार

बौद्धधर्म दु:ख से छुटकारा पाने के लिए एक व्यावहारिक मार्ग बताता है जिस पर चलकर सफलता प्राप्त की जा सकती है। महात्मा बुद्ध ने स्वयं सत्य के सागर की तह तक गहरी डुबकी लगाकर शाश्वत ज्ञान का दुर्लभ रत्न प्राप्त किया। अपने से पहले और बाद में आनेवाले बुद्ध-महात्माओं के समान उन्होंने भी सुनी सुनाई बातों, तर्क या कल्पित अनुमान पर भरोसा न करते हुए धर्म या सत्य के प्रत्यक्ष और निजी अनुभव पर ही भरोसा किया। सभी बुद्ध-महात्माओं ने अपनी दया और करुणावश अज्ञानता और दु:ख में फँसे लोगों के सुख और कल्याण के लिए धर्म का रहस्य प्रकट किया है। चूँकि इन सभी बुद्ध-महात्माओं के अन्तर्ज्ञान और प्रेरणा का एक ही आन्तरिक स्रोत है, अत: चाहे वे किसी भी स्थान और समय में क्यों न अवतरित हुए हों, उन सब का मूलभूत सन्देश एक ही है, जो समय तथा स्थान की सीमाओं से ऊपर है।

जब सिद्धार्थ गौतम को दु:ख और जीवन की नश्वरता का ज्ञान हुआ, तो वे दु:ख से हमेशा के लिए छुटकारा पाने की खोज में पूरी तरह जुट गये। अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से वे एक के बाद एक कई गुरुओं के पास गये। उन्होंने कई कठोर तप किये, परन्तु बाहरी साधनों द्वारा उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ। आन्तरिक अभ्यास की विधि से ही उन्हें निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग मिला जो दु:ख से मुक्त होने की अवस्था है।

निर्वाण प्राप्त करने के बाद जब महात्मा बुद्ध इस बात पर विचार कर रहे थे कि अज्ञानता और भ्रम में पड़े हुए इस संसार को गूढ़ सत्य का उपदेश दें या नहीं दें, तो उस समय पवित्र दिव्य मण्डलों के एक देवता, सहम्पति ब्रह्मा, उनसे विनती करने आ पहुँचे कि वे संसार को

उपदेश अवश्य दें। ब्रह्मा को यह अन्तर्बोध हो गया था कि यदि यह संसार महात्मा बुद्ध के धर्मोपदेश से वंचित रहा तो इसका बने रहना सम्भव नहीं है। सहम्पत्ति ब्रह्मा ने कहा:

> *अगर पुण्यात्मा तथागत का मन इस संसार को पावन धम्म का उपदेश देने के लिए प्रवृत्त नहीं होगा तो इस संसार का वास्तव में नाश हो जायेगा। इसका सर्वनाश हो जायेगा।*[641]

सहम्पति ब्रह्मा ने महात्मा बुद्ध से विनती की:

> *हे भगवन्! हे दिव्यात्मा! धम्म का ज्ञान दें, अवश्य दें। संसार में कुछ ऐसे प्राणी हैं जिनकी दृष्टि केवल थोड़ी-सी धुँधली है। 'धम्म' का ज्ञान न होने के कारण वे शिथिल होते जा रहे हैं; अगर उन्हें उपदेश दिया जाये, तो उन्हें सत्य का ज्ञान हो जायेगा।*[642]

अपनी करुणा के कारण ही बुद्ध-महात्मा अथवा पूर्ण गुरु इस संसार में आते हैं और अपने कष्ट की परवाह न करते हुए दु:ख भोगते हुए मनुष्यों को धर्म का उपदेश देते हैं। सच्चे लगनशील जिज्ञासुओं अथवा खोजियों को ऐसे पूर्ण गुरु की संगति से बहुत लाभ होता है, जिन्होंने सत्य का पूर्ण साक्षात्कार कर लिया है और दूसरों को सहायता देना चाहते हैं और इसके लिए पूरी तरह तैयार हैं। पूर्ण ज्ञान-प्राप्त गुरु की संगति ही एक जिज्ञासु को सत्य और असत्य में अन्तर करने के योग्य बनाती है। और एक गुरु द्वारा बतायी गयी आन्तरिक अभ्यास की विधि द्वारा ही जिज्ञासु आन्तरिक जगत् में प्रवेश कर सकते हैं और धीरे-धीरे सत्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं। चूँकि सभी पूर्ण गुरुओं के उपदेश में मूलभूत समानता होती है, इसलिए इस बात पर शोक करने की कभी कोई आवश्यकता नहीं है कि पहले हो चुके बुद्ध-महात्मा इस समय हमारे बीच नहीं हैं। इसके बजाय हमें चाहिए कि अपने समय के किसी बुद्ध-महात्मा की खोज करें और उनके उपदेशानुसार पूरी लगन से अभ्यास करें।

आध्यात्मिक गुरु अपना उपदेश देने के लिए तार्किक युक्ति तथा शब्दों का प्रयोग तो करते हैं, परन्तु तर्क तथा बुद्धि की सीमाओं से भलीभाँति परिचित होने के कारण वे मन अथवा शाब्दिक ज्ञान को सत्य की जानकारी प्राप्त करने का साधन नहीं बनाते। तर्कशक्ति तथा बुद्धिबल से बाहरी जगत् में असाधारण अनुसंधान किये जा सकते हैं; इनके द्वारा लोग समुद्र-तल तक गहरी डुबकी लगा सकते हैं अथवा अन्तरिक्ष में ऊँची-ऊँची उड़ानें भर सकते हैं। परन्तु हमारी आन्तरिक चेतना हमारे स्वरूप का एक अलग पक्ष है जो हमें अन्तर्मुखी बनाती और दुःखों से छुटकारा दिलाती है। इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने उपदेश दिया कि इस आन्तरिक चेतना को जाग्रत करने का साधन है और उन्होंने निर्वाण की प्राप्ति के लिए एक व्यावहारिक मार्ग प्रदान किया।

इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए महात्मा बुद्ध हमें अधिकाधिक प्रयास करने का उपदेश देते हैं। हमें प्रोत्साहित करते हुए वे कहते हैं:

> *जागरूकता मनुष्य को अमरत्व की ओर ले जाती है,*
> *और प्रमाद या ग़फ़लत मृत्यु की ओर ले जाती है।*
> *जो जागरूक हैं, वे मृत्यु को प्राप्त नहीं होते,*
> *जो प्रमादी हैं, वे तो मानो पहले से ही मृतक के समान हैं।*[643]

जब तक लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक निरन्तर अभ्यास करते रहने की प्रेरणा देते हुए महात्मा बुद्ध परमार्थ के अभिलाषियों को फिर कहते हैं:

> *आपको ऐसा आभास हो सकता है...'इतना पर्याप्त है, इतना प्राप्त कर लेना ही काफ़ी है...हे भिक्षुओं! मैं यह घोषणा करता हूँ, तुम्हें निर्देश देता हूँ कि अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए जब तक आप इसके अंतिम लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाते, आगे बढ़ते रहो, रुको मत, कहीं आपसे कुछ करना बाक़ी न रह जाये।*[644]

अगर जन्म-मरण के भयानक चक्र से मुक्ति और शाश्वत आनन्द की प्राप्ति ही लक्ष्य है, तो जिन्हें सौभाग्य से मनुष्य-जन्म मिल गया है, वे महात्मा बुद्ध की करुणामयी पुकार की अवहेलना नहीं कर सकते।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सभी पूर्ण ज्ञान-प्राप्त गुरु एक ही सत्य को प्रकट करते हैं और परमलक्ष्य की प्राप्ति करानेवाले एक ही मार्ग की चर्चा करते हैं। एक बार महात्मा बुद्ध से किसी ने पूछा: "दूसरे लोग भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ क्यों प्रस्तुत करते हैं? क्या सत्य अनेक और तरह-तरह के हैं?" महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया, "सत्य वास्तव में अनेक नहीं हैं।"[645] उन्होंने दृढ़ शब्दों में सहजता से कहा, "सत्य एक ही है, दूसरा नहीं।"[646] "यह सत्य अथवा यथार्थता, निब्बान, पूर्ण मोक्ष, और दुःख की सम्पूर्ण समाप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"[647] अतः ध्यान रहे कि अलग-अलग मत और सम्प्रदाय बनाने के लिए, अलग-अलग गुरुओं और धर्मों के नाम पर मनुष्य को मनुष्य से अलग करने के लिए, अथवा उनकी मूलभूत एकता की उपेक्षा करने के लिए कोई भी महात्मा बुद्ध के उपदेश का ग़लत अर्थ या व्याख्या नहीं करे।

यह याद रखना चाहिए कि मनुष्य ही धर्म बनाते हैं। हम ख़ुद को अपने असली रूप की याद दिलाने के लिए और उस एकमात्र सर्वव्यापी सत्य को जानने के लिए ऐसा करते हैं, ताकि हम मनुष्य-जीवन में होनेवाले कष्ट से मुक्त हो सकें। धर्म मनुष्य को एक दूसरे से अलग करने के लिए या परस्पर विरोध पैदा करने के लिए नहीं बनाये गये थे, इन्हें तो सबके बीच एकता, शान्ति तथा सामंजस्य क़ायम रखने के लिए बनाया गया था। हम अपने धर्म के आध्यात्मिक सारतत्त्व का परीक्षण कर सकते हैं, चाहे वह कोई भी धर्म हो, और इस तथ्य को समझने का प्रयास कर सकते हैं कि पूर्ण ज्ञान-प्राप्त गुरुओं के उपदेश पर आधारित सभी धर्मों ने एक ही सत्य का प्रतिपादन किया है। तब यह हम पर निर्भर है कि हम निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग पर अपना क़दम बढ़ायें और अपने मिथ्या अहंकार की अग्नि को बुझा दें ताकि हम भी प्रबुद्ध या ज्ञानसम्पन्न बन सकें।